This book belongs to [illegible]

[illegible]

1.5.63

[illegible]

11.3.04

॥ श्रीः ॥

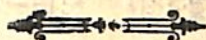
पण्डित विष्णुशर्मसंकलित-

हितोपदेश ।

(नीतिग्रन्थ)

मुरादाबादस्थ पंडित**बलदेवप्रसाद**मिश्रकृत-

भाषाटीकासमलंकृत ।



पं०-ज्वालाप्रसादजीमिश्रद्वारा संशोधित ।

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

मालिक-" **लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर** " स्टीम्-प्रेस,

कल्याण-बंबई.

संवत् १९९२, शके १८५७.

1935.

मुद्रक और प्रकाशक—

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

मालिक—“ लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर ” स्टीम्—प्रेस, कल्याण—बंबई.

श्रीअत्रितनयाय नमः ।



समर्पण ।

स्वभाषानुरागी-

गुणवान् दयानिधान नीतिमान्

गुणिजनगुणग्रहणकौतुकी

श्रीमान् खेमराज श्रीकृष्णदासजी महोदयके करकमलमें

यह ग्रन्थ समर्पण कियागया ।

१५-३-०४
मुरादाबाद,
मोहल्ला-दीनदारपुरा.

अनुवादक-
बलदेवप्रसाद मिश्र.

आशीर्वाद.



सर्वोपमोपमेय श्रीलश्रीयुक्त गुणि-जनमण्डलीमण्डन पाखण्डमत-खण्डन प्रजापालक दुष्टजनघालक स्वधर्मनिरत अखण्डप्रताप श्री श्री १०८ श्रीयुत कुँवर विचित्रशाहजूदेव महोदय करकमलेषु।

दोहा।

मंगल मूरत सुखसदन, गुणगणके आधार।
ऋद्धि सिद्धि पावहु सदा, शाहविचित्र कुमार॥ १॥
क्षेम कुशल सब देशमें, लहै प्रजा आनंद।
गो द्विज सन्त यती सबै, विचरण करै स्वच्छन्द॥२॥
कविजन बुधजन आपसों, लहैं दान सन्मान।
प्रगटै कीरति लोकतिहुँ, सूरज चन्द समान॥ ३॥
सदा धर्ममें मति रखै, विजय रहे नित साथ।
राम लषण सीता सहित, बसहिं हिये रघुनाथ॥ ४॥
द्विज बलदेवप्रसादकी, नित नव यही अशीश।
महाराज जीवित रहो, सुखयुत कोटि वरीश॥ ५॥

आशीर्वादक-

बलदेवप्रसाद मिश्र,

दीनदारपुरा-(मुरादाबाद).

भूमिका।

जब धर्मज्ञानकी कमीसे पृथ्वीपर और देशोंके लोग घोर पशुस्वभावमें लिप्त होरहे थे, जब कि वे लोग ' आहार ' ' निद्रा ' ' भय ' और ' मैथुन ' इत्यादि पाशवी वृत्तियोंके अधीन थे, जिस आध्यात्मिक शक्तिके प्रभावसे मनुष्य, पशुपक्षी इत्यादिमें अलग माना जाता है, जब कि दूसरे देशोंके लोग मनुष्यजातिके इस परमपुरुषार्थसे वंचित थे, जब कि वे लोग विशुद्ध सतोगुणका रस चाखनेसे वंचित रहकर केवल पशुभाव चरितार्थ करते हुए भल्लूकादिकी भाँति वन २ जंगल २ घूमते थे, उस समय इस धर्मक्षेत्र भारतवर्षमें दिव्यस्वभाव त्रिकालदर्शी महायोगी आचार्यगणोंने जन्म लिया था। उन लोगोंने कितने दिन पहले जन्म ग्रहण किया था, सो तो हम नहीं कह सकते (१)। परन्तु उन लोगोंके अनन्त ज्ञानभांडारकी महिमाके विचार करनेसे जानपडता है कि, मानो वे अनादि अनन्त कालसे इस जगत्में वर्त्तमान हैं। वे अपूर्व योगबलसे ब्रह्म व ब्रह्मांडविषयका तत्त्वनिरूपण करगये उनसे उपरान्त जगत्में कितने राजा व राजवंशोंका उत्थान और पतन हुआ, पृथ्वीपर कितने उपद्रव और हेरफेर हुए, सनातन धर्मपर कितनी बाधा विपत्तियें आई, परन्तु योगद्वारा प्राप्त किये उनके वे समस्त तत्त्व अबतक ध्रुवतारेकी समान प्रकाशमान हो रहे हैं। उनके जिन ज्ञान रत्नोंके गौरवसे यह भारतभूमि अबतक सब जगत्में रत्नोंका भाण्डार समझी जाती है,उन अमोल रत्नोंमेंसे हितोपदेश भी एक रत्न है । महापंडित **हितोपदेशप्रणेता विष्णुशर्मा** अतिप्राचीन

---

(१) " The world does not now contain annals of more indisputable antiquity than those delivered down by the ancient Brahmans. "

MR. HALHED.

" So for as the etymological investigations of the Sanskrit have hitherto afforded satisfactory results, it map certainly be considered as the parent stock of all the known longuages, "

MR. HAMMER.

कालके पुरुष हैं। प्राचीन समयके होनेपरभी मनु, बृहस्पति, शुक्र, वाल्मीकि, पराशर, व्यास और चाणक्य इत्यादिके पीछे इनका जन्म हुआ था। शहदकी मक्खी जिस प्रकार अनेक फूलोंका रस लायकर अपूर्व मधुचक्र (महाल) बनाती है, विष्णुशर्माजीनेभी वैसेही अपनेसे पहले हुए पंडितोंके शास्त्रोंमेंसे सार निकालकर यह हितोपदश बनाया है। इसके उपदेश सबही समयमें मनुष्योंके लिये हितकारीहैं। क्या योगी, क्या भोगी ? इन उपदेशोंसे सबही उपकार पाय सकते हैं। यह योगीको योगकी सिद्धि भोगीको पवित्र भोगकी शक्ति रागीको रागकी शक्ति और शोकार्त्तको धीरज बँधाताहै। राजा, प्रजा, गृही, संन्यासी, पंडित, मूर्ख, धनी, निर्द्धन, बालक, वृद्ध, युवा और आतुर, सबके निमित्तही यह स्नेहमयी माताकी समान है,-

" मंगल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गंगेव च "। (भवभूति)

समयानुसार इस हितोपदेशके गुणका गौरव जब देशविदेशोंमें फैलगया, तब अनेक देशोंके गुणग्राही सज्जन इस देशमें आयकर यह अपूर्व मधुसंग्रह करने लगे। क्रम २ से ' हितोपदेश ' पृथ्वीके अनेक देशोंकी अनेक भाषाओंमें अनुवादित हो अनेक आकारोंसे फैलगया (१)। इसकी नीतियुक्त कथाएँ अत्यन्त असभ्य जातिके बीचमें भी अनेक प्रकारके नामोंसे प्रचारित हुई।

एशिया, यूरोप व अमेरिकाकी समस्त जातियें और समस्त धर्मावलम्बी पुरुषगण ईश्वरीय वचनके समान इस हितोपदेशके उपदेशोंमें श्रद्धा भक्ति दिखलाते हैं।

हितोपदेशके कर्त्ता किस समयमें कहांपर उत्पन्न हुए थे उनका वास्तविक नाम विष्णुशर्मा था नहीं इस समस्त ऐतिहासिक वृत्तान्तके यथार्थरूपसे जाननेका कोई उपाय नहीं है। भारतवर्षके प्राचीन आचार्यलोगोंने अपने अपने ग्रन्थोंमें अपना कुछभी वृत्तान्त नहीं लिखा है। वह लोग किस समयमें, किस देशमें किस कुलमें और किस अवस्थामें उत्पन्न हुए थे ? उनका नाम क्या व आकार कैसा था ?

(१) हिब्रु, लैटिन्, ग्रीक, साईरिक, इटालिक, जार्मनिक, फ्रेंच, स्पेनिश, अरबी, फारसी, तुरकी, चीन पल्हवि, वंगला, उर्दू, अङ्गरेजी, हिन्दी, गुजराती, मराठी इत्यादि पृथ्वीकी प्राचीन और आधुनिक भाषाओंके गद्यपद्यमें विष्णुशर्माके हितोपदेश और पंचतन्त्रका अनुवाद हुआ है। भूमिकाके पीछे कोलब्रुक् साहबका लिखा अङ्गरेजी विवरण देखो।

इत्यादि आधुनिक ऐतिहासिक वृत्तान्त कुछभी ज्ञात नहीं होता अपना वृत्तान्त लिखकर क्या करते ? क्योंकि वह तो सम्पूर्णतः अपने आपको भूल तन्मयभावसे ज्ञानचिन्तामें मग्न रहते थे. और उस महायोगमें सिद्धि प्राप्त करके अपनेको चरितार्थ समझते थे। वरन् इसकी उनको कुछभी इच्छा नहीं थी कि, ग्रन्थमें अपना वृत्तान्त लिखें। इसी कारण रामायण, महाभारतादि ग्रन्थोंमें उन अद्वितीय ज्ञानभांडारके सृष्टि करनेवालोंका कोई विवरण नहीं है। (१) उनके बनाये ज्ञानभांडारोंकी आब्रह्मस्तम्बव्यापिनी विशालता देख उनके आकारका ध्यान करनेसे हृदयके बीचमें उनकी एक एक विराट्मूर्ति प्रगट हो जाती है। यद्यपि उन्होंने अपना लौकिक परिचय नहीं दिया, परन्तु जो परिचय देना चाहिये उस अलौकिक ज्ञान परिचयको देगये हैं व जीवगणके कल्याणकी कामनासे जो अनमोल ज्ञानधन एकत्र करगये हैं, वह 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' तक उनका आत्मपरिचय देगा। महावीर कर्णने कहा था—

"सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं हि पौरुषम्॥"

"मैं सूतपुत्र वा सूत अथवा जो कोईभी हूं मेरी जाति और कुलके परिचयसे क्या होगा ? क्योंकि हमारा असली परिचय तो मनुष्यत्व है"। इस कारण हितोपदेशके कर्ताका नाम, धाम और वंशका परिचय न पानेसेभी कोई क्षति नहीं है। उनका यह हितोपदेशही अनन्तकालतक जीवलोकका महोपकार साधन करके उनके मनुष्यत्वका परिचय प्रदान करेगा॥

पंचतंत्र और हितोपदेश ये दो ग्रन्थ विष्णुशर्माजीके बनाये हुए माने जाते हैं। 'पंचतंत्र' उनका प्रथम ग्रन्थ है और उससे सार निकालकर पीछे उन्होंने 'हितोपदेश' बनाया। दोनों ग्रन्थोंका एकही प्रतिपाद्य है। पंचतंत्रमें जो विस्तारसे है

---

(१) अधिक तो क्या कहैं उन लोगोंने अपने २ ग्रन्थोंमें अपना नामतक नहीं लिखा। 'वाल्मीकि' 'वेदव्यास' इत्यादि उनके असली नाम नहीं हैं। रामायणके कवि जब महायोगसाधन कररहे थे; जब कि उनके देहपर क्रमसे बँमई जमगई तब वह 'वाल्मीकि' नामसे विख्यात हुए। वेदविभाग करके महाभारतकर्त्ता 'व्यास' या 'वेदव्यास' के नामसे प्रसिद्ध हुए थे।

हितोपदेशमें प्रायः उसका संक्षेप है इसलिये पंचतंत्रही हितोपदेशका मूलस्वरूप है (१) इन दो ग्रन्थोंकी प्रस्तावनामें जो परिचय पायाजाता है वह यह है-

(१) पंचतंत्रमें पांच तंत्र हैं यथा;-(१) मित्रभेद, (२) मित्रप्राप्ति, (३) काकोलूकीय, (४) लब्धप्रणाश, (५) अपरीक्षितकारक। हितोपदेशके चार परिच्छेद हैं, यथा;-(१) मित्रलाभ, (२) सुहृद्भेद, (३) विग्रह, (४) सन्धि। पंचतंत्रके मित्रभेदसे हितोपदेशका मित्रभेद संकलित हुआ। पंचतंत्रकी 'मित्रप्राप्ति' से हितोपदेशका 'मित्रलाभ' संकलित है। हितोपदेशमें विग्रह और सन्धि व आनुषंगिक अन्यान्य कथाएँ पंचतंत्रके पांच तंत्रोंसे आवश्यकतानुसार संग्रह कीगई हैं। यहां दोनों ग्रन्थोंकी कम ताई व अधिकाईकी गणना लिखीगई है—

पंचतंत्रमें परिच्छेद	५
" मूलकी आनुषंगिक कथाएँ	६३
" श्लोकसंख्या	१०२४
" पृष्ठांक	३१५

इनमें ६ श्लोक प्रस्तावनाके। प्रथमतंत्रमें श्लोक ४२५ और कथा २२। दूसरे तंत्रमें १८५ श्लोक और ६ कथा। तीसरेमें १८४ श्लोक और कथा ४। चतुर्थमें ११८ श्लोक और १६ कथा। पांचवें तंत्रमें श्लोक १०६ और कथा १५।

हितोपदेशके परिच्छेद	४
" मूलकी आनुषंगिक कथा	३८
" श्लोकसंख्या	७२४
" पृष्ठांक	१३५

इनमें ४७ श्लोक प्रस्तावनाके हैं। मित्रलाभमें २१२ श्लोक, कथा ८। सुहृद्भेदमें १८४ श्लोक, कथा ९। विग्रहमें श्लोक १४९ और कथा ९। सन्धिमें श्लोक १३२ और कथा १२। मुम्बईमें मुद्रित नारायणबालकृष्ण और काशीनाथ पाण्डुरंगके प्रकाशित पंचतंत्र और हितोपदेश दोनोंही रायल १२ पेजीके आकारमें छपे हैं। इस कारण उनसे यह गिनती दीगई, और २ संस्करणोंमें श्लोकसंख्या बरन् अधिक देखा जाती है। जानसनके विलायती मुद्रित हितोपदेशमें श्लोकसंख्या ७४५ है। इस संस्करणमें श्लोकसंख्या समेत ७५३ है। इत्यादि।

प्रथम–पंचतंत्र–दाक्षिणात्यप्रदेशमें मिहिलारोप्य (१) नामक एक नगर है। वहांपर दातालोगोंके लिये कल्पवृक्षस्वरूप अमरशक्ति नामक एक राजा था। बहुशक्ति (२), उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति नामक उसके तीन पुत्र अति ढीठ होगये। राजाने उनको कुमार्गी देख एक समय मन्त्रियोंसे पुकारकर कहा–" आप लोग जानते हैं कि,–हमारे ये पुत्र कैसे कुमार्गी हुए हैं ? हम इनकी चिन्तासे यह राज्य और यह संपत्ति पायकरभी सुखी नहीं हैं। हमारे दरबारमें ५०० सौ पंडित हैं, सो अब ऐसा करना चाहिये कि, जिससे हमारे पुत्र सुशिक्षित हों। " तब एक मन्त्रीने कहा–हे महाराज! शब्दशास्त्र सीखनेमें बहुत विलम्ब होगा, इस कारण इनकी शिक्षाके लिये कोई संक्षिप्त शास्त्र स्थिर करना उचित है। इस स्थानमें विष्णुशर्मा नाम एक ब्राह्मण हैं, वे समस्त नीतिशास्त्रके मर्मको जानते हैं उनके हाथमें आप कुमारोंको सौंप दीजिये। राजाने उसी समय आदरपूर्वक विष्णुशर्माजीको बुलायकर कहा–" हे भगवन्! आप कृपाकरके हमारे इन ढीठपुत्रोंको नीतिशास्त्र सिखाइये।" विष्णुशर्मा बोले–"हम अतुलसम्पत्ति पानेपरभी विद्याको नहीं बेचेंगे। हम विनामूल्य कुमारोंको विद्यादान करेंगे। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि, जो छः महीनेके बीचमें कुमारगणोंको सुशिक्षित न करसकें तो इस नगरको त्यागदेंगे। हम कुछ स्वार्थके लिये ऐसा नहीं कहते, हमारी उमर ८० वर्षकी हुई; हमने विषयकी वासना त्यागदी है। हम निष्काम होकर आपकी प्रार्थना पूर्ण करेंगे। " राजा ब्राह्मणकी यह प्रतिज्ञा सुनकर परम प्रसन्न हुए और उनके हाथमें पुत्रोंको सौंपदिया। विष्णुशर्माभी मित्रभेद, मित्रप्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश, अपरीक्षितकारक यह पांच तन्त्र बनायकर राजकुमारोंको पढाने लगे। वे राजकुमारभी इसके पढनेसे छः मासमें सुशिक्षित होगये। तबसे " पञ्चतन्त्र " नामक नीतिशास्त्र पृथ्वीपर प्रचारित हुआ।

द्वितीय–हितोपदेश–गंगाजीके किनारे पाटलिपुत्र (३) नामक एक नगर है,

---

(१) किसी २ पुस्तकमें ' महिलारोप्य ' ऐसा नाम है। इस समय इस नगरका ऐतिहासिक वृत्तान्त नहीं जानाजाता।

(२) किसी २ पुस्तकमें ' बहुशक्ति ' के स्थानमें ' वसुशक्ति ' और ' अनन्तशक्ति ' के स्थानमें ' अनेकशक्ति ' नाम है।

(३) ' पाटलिपुत्र '–वर्त्तमान पटनानगर।

वहां समस्त राज्ययोग्य गुणोंसे भूषित सुदर्शन नामक एक राजा था । उसके पुत्र मूर्ख और कुमार्गी हुए थे । उसने एक समय समस्त पंडितोंको बुलवाय एक सभा कराई और सबसे कहा-" हे आर्यगण ! आप लोगोंमें क्या कोई ऐसे पंडित हैं जो हमारे इन मूर्ख और ढीठ पुत्रोंको नीतिशिक्षा देकर उनका पुनर्जन्म साधन कर सकें ? " । उनमेंसे बृहस्पतिजीके समान सब नीतिशास्त्रोंके मर्मको जानने-वाले-विष्णुशर्मा नाम एक विख्यात पण्डितने राजासे कहा-" हे राजन् ! इन राजपुत्रोंने महान् वंशमें जन्म ग्रहण किया है, हम इनको नीतिशास्त्र सिखावेंगे "। राजानेभी परमप्रसन्न हो विष्णुशर्माका यथायोग्य सन्मान कर उनके हाथमें पुत्रोंको सौंपदिया । विष्णुशर्मानेभी हितोपदेश रचकर उनको पढाया, जिसके पढनेसे वे कुमार बहुत शीघ्र सुशिक्षित और सच्चरित्र हुए ।

पञ्चतन्त्रके मङ्गलाचरणमें है-

" नमो मनुबृहस्पतिव्यासवाल्मीकिप्रभृतिभ्यः॥ "

मनु, बृहस्पति, व्यास और वाल्मीकि इत्यादिके चरणोंमें नमस्कार है । अनन्तर श्लोकसे उन्होंने;-मनु, बृहस्पति, शुक्राचार्य, पराशर, व्यास और पंडित-चाणक्य इन नीतिशास्त्र जाननेवालोंकी वन्दना की है; यथा-

"मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय ।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः॥"

इसके पीछे यह श्लोक है; यथा-

"सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम् ।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ॥ "

विष्णुशर्माजीने जगत्के समस्त नीतिशास्त्रोंकी समालोचना करके पांच तन्त्रोंमें यह ग्रंथ बनाया ।

हितोपदेशके मुखवन्धमें जो कईएक श्लोक हैं, उनमें एक श्लोक यह है कि-पञ्चतंत्र व और दूसरे ग्रन्थोंसे सार संकलन करके यह हितोपदेश बनाया गया—

"मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ "

इन समस्त प्रमाणोंके देखनेसे यह पायाजाता है कि, उन्होंने एकही आशयसे ये दोनों ग्रन्थ बनाये हैं। प्रथम पंचतंत्र और पीछे उसकोही संक्षिप्त, सुमार्जित और परिवर्तित करके यह हितोपदेश बनाया है और तत्पूर्ववर्ती मनु, पराशर, व्यास, बृहस्पति, शुक्राचार्य और चाणक्य इत्यादि नीतिशास्त्रकारोंके ग्रन्थोंसे आवश्यकतानुसार (उपादान) संग्रह किये हैं (१) उनके ग्रन्थोंसे उनका वृत्तान्त इससे अधिक और नहीं पाया जाता।

---

(१) चाणक्यने अपने नीतिशास्त्रके अधिकांश श्लोक मनु, बृहस्पति और महाभारतादिसे संग्रह किये हैं तिसके पीछे विष्णुशर्माजीने चाणक्यसंगृहीत नीतिशास्त्र और मनु व महाभारतादिसे सारसंग्रह किया है। इस कारण विष्णुशर्माजीके ग्रन्थमें चाणक्यके श्लोक अधिक दिखाई देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, मनु और भारतादि ग्रन्थोंका समस्त नीतिशास्त्रकारोंनेही आश्रय लिया है। महाभारतमें राजधर्मके ५९ अध्यायके मध्य नीतिशास्त्र रचनेवालोंके सम्बन्धमें यह वृत्तान्त लिखाहै कि, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने देवतालोगोंकी प्रार्थनासे लोकरक्षाके लिये एकलक्ष अध्यायमें प्रथम नीतिशास्त्र बनाया। शिवजीने ब्रह्माजीसे वह नीतिशास्त्र प्राप्त कर उसको संक्षेपसे दशहजार अध्यायमें बनाया। शिवजीका एक नाम 'विशालाक्ष' है, इसीलिये शिवप्रणीत नीतिशास्त्रका नाम 'वैशालाक्ष' प्रसिद्ध हुआ। इन्द्रजीने शिवजीके निकट यह नीतिशास्त्र प्राप्त कर इसको संक्षेपसे पांच हजार अध्यायोंमें बनाया। इन्द्रका एक नाम बाहूदन्ती है, इसीलिये इन्द्रप्रणीत नीतिशास्त्रका नाम 'बाहूदन्तिक' हुआ, बृहस्पतिजीने इन्द्रजाल बनाये नीतिशास्त्रको तीन सहस्र अध्यायोंमें रचा। बृहस्पतिजीके बनाये नीतिशास्त्रका नाम 'बार्हस्पत्य' प्रसिद्ध हुआ। शुक्राचार्यजीने फिर उसको संक्षेप करके एकहजार अध्यायोंमें बनाया, शुक्राचार्यजीका एक नाम 'उशना' है; इसलिये उनके बनाये नीतिशास्त्रका नाम 'औशनस' प्रसिद्ध हुआ। फिरभी,-गरुडपुराणमें देखाजाता है कि, चाणक्यने बृहस्पतिजीके बनाये 'नीतिसार' नामक ग्रन्थका अवलंबन करके श्लोकसंग्रह कियाथा। अतएव 'नीतिसार' ग्रन्थके श्लोक और चाणक्यके श्लोक प्रायः एकही रूपके हैं। दण्डिप्रणीत दशकुमार-

विष्णुशर्माजीने, अधिकांश रत्न जगत्के प्राचीन रत्नभाण्डार, मानव, बार्हस्पत्य, महाभारत इत्यादि मूलग्रन्थोंसे संग्रह किये हैं; परन्तु उन्होंने इन रत्नरूपी कथाओंमें ऐसे अपूर्व डोरे पोहे हैं कि, उनकी असाधारण बहुदर्शिता, अद्भुत सारग्राहिता और विचित्र रचनाकौशलकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कीजाती है। उनके रचेहुए प्रांजल, सरल और विशुद्ध गद्यकी समान संस्कृत साहित्यमें गद्य नहीं है। उनकी चमत्कारिणी गद्यरचना संस्कृतकी गद्यरचनाका एक नमूना है। अतएव उन्होंने प्राचीन उपादान लेकर प्रतिभाके बलसे एक नये पदार्थकी सृष्टि की है। हितोपदेशकी कथाओंका मूलतत्त्व निरूपण करना अतिदुष्कर है। मनुष्यसमाजकी शैशवावस्थामें लिपिप्रणालीका अधिक प्रचार न होनेसे पुरुषपरम्परागत प्रवादवाक्य और कथाओंके सूत्रसेही पुरुषोंकी नीतिशिक्षाका निर्वाह होता था। इसके उपरान्त, लिपिप्रणालीके विशेष प्रचारित होनेपर यह नीतिगर्भ प्रवाद और कथायें क्रमसे देशी भाषाओंमें लिखीगईं और समाजकी आदिमें अवस्थाकी परिचायक एकजातीय स्थायी सम्पत्तिरूपमें परिणत होताहुआ चला। क्रमसे यह लिपिबद्ध प्रवाद और कथा अपने गुणसे जैसे २ पृथक् २ जातियोंमें बैठगई स्थानभेदसे पुरुषस्वभावकी विभिन्नताके वश उतनेही भिन्न आकारोंमें फैलती रहीं इस मीमांसाके सत्य होनेपर यह अवश्यही मानना पडेगा कि, हितोपदेशकी कथाएँ हमारे देशकी नीतिशिक्षा सिखानेके लिये सभ्यभारतकी अतिपुरातन और श्लाघनीय सम्पत्ति है। महाभारत, भारतवर्षकी अति पुरातन सम्पत्ति है। प्रायः चारसहस्रवर्ष पहले यह महाभारत बनायागया है(१)।

जातिका अति पुरातन चित्र होनेसे महाभारतकी नीति भूरिभूरि प्रवाद और कथाओंके सूत्रमें उदाहृत हुई हैं। इसलिये हितोपदेशकी (२) कोई २ कथा महाभारतके

—चरित्रके विश्रुतचरितमें लिखा है कि, विष्णुगुप्त अर्थात् चाणक्यने मौर्य्यवंशीय महाराज चन्द्रगुप्तके लिये पूर्वप्रचलित नीतिशास्त्रको संक्षेप करके छः हजार श्लोकोंमें बनाया।

(१) सर्व प्रकारकी ऐतिहासिक और पौराणिक गणनाको मिलाकर देखनेसे जानाजाता है कि, कुरुपाण्डवोंका युद्ध हुए अडतीससौ वर्ष वीते हैं। अतएव इसमें कुछ संशय नहीं कि, महाभारत प्रायः चार हजार वर्षसे अधिक समयका ग्रन्थ नहीं है।

(२) हितोपदेशकी जो कथा महाभारतमें हैं, सो उनमेंसे एक परिशिष्टमें दिखाई गई।

पूर्वमेंभी वर्त्तमान थी । इससे स्पष्ट जानाजाता है कि, विष्णुशर्माजीने कुछ कथाएँ इन प्राचीन प्रबन्धोंसे और कुछ पुरुषपरम्परासे चलीआईहुई प्राचीन किंवदन्तियों (कहावतों) से संकलित करके मनोहर डोरेमें पिरोई हैं । जब विष्णुशर्माजीने यह सब कथा यथारीतिसे लिपिबद्ध कर ली तब क्रम २ से उनकी लिपिबद्ध मनोहर कथावली यूरोपमें ' पिल्पेकी कथावली ' (Pilpay's Fable) के नामसे प्रचलित हुई और दूसरे देशोंमें और २ नामोंसे प्रसिद्ध हुई हैं । इन कथाओंकी मूलनीति अभिन्न होनेपरभी भिन्न २ जातिकी भिन्न २ प्रकृति, जीवनप्रणाली, रीति, नीति और रुचि प्रभृतिकी विचित्रताके अनुसार अनेक आकारोंमें ग्रथित हुई हैं । सुविख्यात पंडित महामति कोलब्रुक् साहबने इस हितोपदेशके विषयमें गंभीर विवेचनाके द्वारा जो निर्णय किया है, वह अविकल इस भूमिकाके शेषमें उद्धृत हुआ है । पंडिताग्रगण्य ताराकुमार कविरत्नके द्वारा संगृहीत और अनुवादित वंगभाषाके हितोपदेशसे इस अनुवादमें विशेष सहायता मिली है अतएव पं०-ताराकुमारजी कविरत्नको वारंवार धन्यवाद दिया जाता है । इसके उपरान्त मैं अपने परममित्र लाला पन्नालाल जैनकोभी धन्यवाद देताहूं कि, जिनके बारंबार उत्साह दिलानेसे यह अनुवाद तैयार हुआ ।

जिस प्रणालीसे हितोपदेशका यह संस्करण सम्पादन कियागया है, वह संक्षेपसे नीचे दिखाते हैं–

१ मूलसंस्कृत ।

भारतवर्ष और यूरोपकी छपी हुई अनेक पुस्तकोंके सहित मिलायकर सम्पूर्ण परिशुद्ध पाठ मूलमें रक्खागयाहै । श्लोकोंमें जो अशुद्ध पाठ बहुत दिनोंसे चला आता था उसका यथासाध्य संशोधन करदियागया है ॥

२ भाषानुवाद ।

प्रतिपृष्ठमें मूल और अनुवाद दियागया है । अनुवाद सरल अविकल और मूलका भावव्यंजक करनेकी यथासाध्य चेष्टा कीगई है ॥

३ हिन्दीव्याख्याप्रभृति ।

सर्व साधारणको सम्पूर्णरूपसे सुगम करनेके लिये अनुवादके नीचे प्रयोजनानुसार भाषामें अतिसरल व्याख्या और प्रमाणप्रयोजन इत्यादिभी लिखेगये हैं ॥

४ भूमिका ।

इस ग्रन्थके बनानेवाले विष्णुशर्माजीके सम्बन्धमें जो कुछ जानने योग्यथा वह भूमिकामें विस्तारसहित लिखागया । सुप्रसिद्ध पंडित कोलब्रुक् साहबने हितोपदेशके सम्बन्धमें बहुत ढूँढभालकर जो अभिप्राय प्रकाश किया है, वह इस भूमिकाके पीछे अविकल उद्धृत हुआ है ॥

५ निघंटु ।

प्रथम निघंटुमें सब कथाओंकी संख्या और सबके पत्राङ्क यथाक्रमसे लिखेगये हैं । दूसरे निघंटुमें हितोपदेशमें वर्णन कीहुई समस्त नीतिका सूचीपत्र इस प्रकारसे बनायागया है कि, जिस सूचीपत्रको देखकर पाठकगण प्रयोजनानुसार नीति और उसके प्रमाण प्रयोगादि अतिशीघ्र निकाल सकें ॥

६ हितोपदेशके उपदेश ।

हितोपदेशमें जो अमूल्य उपदेश हैं, इस प्रकरणमें उनका संक्षेपसे वर्णन किया-गया है, अर्थात् इसकी सार २ नीतियोंका मर्म प्रगटकर प्रमाण प्रयोगादिके सहित अतिसरल भाषामें दिखायागया है ॥

७ परिशिष्ट ।

विष्णुशर्माजीने जिस २ मूलग्रन्थसे सार संग्रह कर जिस आकारसे अपने ग्रन्थमें मिलाया है, परिशिष्टमें वही विस्तारसहितवर्णन कियागया है । समस्त श्लोकोंका मूलानुसन्धान और विविध पाठोंकी समालोचना आदिभी इस परिशिष्टमें लिखी गयी है ॥ इत्यलम् ॥

मुरादाबादनिवासी—

बलदेवप्रसादमिश्र.

COLEBROOKE'S

INTRODUCTORY REMARKS.

Prefixed to the Edition of the Hitopadesa.

PUBLISHED AT CALCUTTA 1804.



To promote and faciliate the study of the ancient and learned language of India, in the College of Fort William, it hast heen judged requisite to print a few short and easy compositions in the original Sanskrit, The first work chosen for this purpose, and inserted in the present volume, under its title of Hitopades'a or Salutary Instruct tion, had been translated by Mr. WILKINS, and by the late Sir WILLIAM JONES, as the text of a very ancient collection of apologues, familiarly known, in the numerous version of it under the name of 'Fables of Pilpay.' The grat advantage, which may be derived by students, from consulting correct translations, at their first acquiantance with Ssnskrit literature has indicated this work as the fittest for selection; although it be not strictly the original text from which those beautiful and celebrated apologues were transferred into the languages of Persia, and of the Wast.

In the concluding line of the poetical preface to the Hitopades'a, it is expressly declared to have been drawn from the Panchatantra and other writings. The book, thus mentioned as the chief source, from which that collection of fables was taken, is divided into five chapters, as its name imports; it consists, like the Hitopades'a. of apologues recited by a learned Brahman named VISHNU SARMAN, for the instruction of his pupils, the sons of an Indian monarch; but it contains a greater variety of fables, and a more copious dialogue, than the work, which has been chiefiy compiled from it; and, on comparison with the Persian translations now extant, it is found to agree with them more nearly, then that compilation, both in the order, and the manner in which the tales are related.

To compare them, it has been first necessary to exclude all the additions, which have been made by translators. These have beeu explained by ABU'LFAZL, with the history of the publication itself, in the preface to his own version, entitled Aya'r da' nish; and by HUSAIN WA'EZ, in the introduction to the Anwa'ri Suhaili.

They recitefrom ABULMALA'S preface to his translation of the Calilah u Damnah that BARZUYAH an eminent and Tearned physician, being purposely sent into Hindustan by NUSHIRVAN, king of Persia, brought a transcript of this with other

books, which were preserved among the guardeu treasurs of the kings of India; and it was immediately translated into Pehlevi, for the gratification of the Persian Monarch, under the superintendence of his minister BUZERCHUMIHR.

From this version in Pehlevi, by BUZERCHUMIHR, or by BARZUYAH. (and which is said to have borne the title of Humayun named. Jawidan khird and testament of Hushenk the book was translated into the Arabic language by Ima'm ABU'LHASAN ABDULLAH BENU'L MURAFFA. in obedience to the commands of ABU'LJAFER MANSU'R second khalif of the house of ABBA'S. From Arabic, it was restored into Persian by dircction of ABU'L HASSAN NASRU'DDIN AHMED a prince of the race of SA'MA'N; and was clothed in verse by the poet RU'DACI, for Sultan MAHMU'D SABACTAGI'N, It was again translated in prose, from the Arabic of ABDULLAH, by desire of Abulmuzafr BAHRA'M SHAH, son of Sultan MASAU'D a descendant of Sultan MAHMU'D of Ghuzni; and this version the author of which was ABU'LMALA NASARULLAH, is the same which has been since current under the title of Calilah u Damnah. It underwent a revision and received the embellishment of flowery language from HUSSAIN WA'EZ CA'SHAFI, at the suggestion of Amir Shaikh AHMED, surnamed SUHAILI', a chieftain commanding under Sultan HUSAIN

MIRZA, of the house of TAIMU'R; and this highly polished version is named from the author's patron Anwa'ri Su'haili, It was lastly revised. and put into plainer, but elegant language, by ABU'L FAZL, in obedience to the orders of the Emperor AKBAR.

This amended translation comprises sixteen chapters; ten of which, as ABU'LFAZL' states in his preface, were taken from the Hindi orginal entitled Caratac and Damanac; and six were added by BUZERCHUMIHR, namely, the four last, con. taining stories recited by the Brahman BI'DAP,A in answer to the questions of the King DA'BISH-LI'M; and the two first consisting of a preface by BUZERCHUMIHR, with an-introduction by BARZU YAH, Both these introductory chapters had been omitted by HUSAIN WA'EZ, as foreign to the original work but he substituted a different beginning, and made other additions, some of which are indicated by him, and the rest are pointed out by ABU'LFAZL; who has nevertheless retained them, as appendages not devoid of use, and therefore admissible in composition intended solely to convey moral instruction. The whole of the dramatic part including all the dialogue between DA'BISHLI'M king of India and BI'DPA'I of PILIAL, a Bra'hman of Sarandip as well as to finding of HUSHENK'S legacy, (from both which the work itself has derived two of the

names, by which it has been most frequently distinguished); appears to have been added by the translators,' although the appellations of new-king, and of the philosopher, are stated to be of Indian origin † For ABU'LFAZL has inserted the story at the place of the second chapter; after expressly declaring, in one place that the subs, tance. of the two first were added by the author of the Pehlevi' translation.

Setting apart then the dramatic introduction· in which the Persian differs from both the Pancha-tantra and the Hitopade's and beginning the comparison from the third chapter of the Calilah u Damnah, it is found, that the fable of the ox * and lion, with all ths subseqent dialogue between the shakals Curataca and Damanaca, constituting

---

† Husain Waez and Abulfazl explain Bidpai, as equivalent to the Persian term. Hactm Meherban; and according to the ingenious conjectar Sir Willim jones, that appellation is corrupted from the Sanskrit Vaidya Priya. The name of Dab ishlim, interpreted Padshah Bazurg or-great King. has not so striking a resemblance to any Sans-krit term of the same signification. Pilpai appears to be Persian: and in some copies of the Anwari Suhaili [for the passage is wanting in others], it is mentioned to has been translated from the Hindi Hastipa, wllich, in Sans-krit bears the same meaning, viz elephant's foot.

* The Persian name, Shanzebah [for so the word should be read, and not, as written in many copies, Sater-

the first chapter of the Panchatantra. corresponds with the Persian imitation, excepting, however, a few transposisions, and the omission of some apologues, as well as insertion of others.

Thus the fable of " The Ape and the Carpenter's wedge, " which is first in both works, in immediately followed, in the Panchatantra by that of ' The Shakal and the drum, but the Persian translators have here introduced a different apologue. ' They have placed the story of ' The Thief the Mendicant, with others included in it, immediately after that of ' The Fox and the drum, ' but the Panchatantra interposes another tale the omission of which however, induces no imputation of the good taste of the translators. They have next substitubed two fables. ('The Sparrow. the Hawk and Sea, ' and ' The Reformed Tyrant)' ; for a story of a wheelwright's marriage with a king's daughter.

The next three fables are alike in the Sanskrit and Persian; but two, whicn follow (viz ' The Louse and the Bug, and ' The Blue Shakal, ') are omitted by the trnslators; who have evinced their judgment in the rejection of the first.

The fable of " The Three Fish, " is placed next by the Persian; author's and is followed by

---

-bah] is evidently framed on the Sanskrit, names for this ox, Sanjivaca.

five others, which do not occur in the Panchatantra. These are succeeded by three more, which are placed by the Sanskrit author. immediately after the fable of " The Blue Shakal " and before that of ' The Three Fish. '

Here the Panchatantra introduces a story of an elephant whose death was procured through the means of a gad fly by birds. whom he had aggrieved. But it has been omitted in the Persian, and sc has the next fable, of ' The Lion and the Leopard. '

The remaining apologues, belonging to the first chapter are alike in both works; excepting tnat of ' The Gardener the Bear, and the Fly. ' which is inserted last but one, in the Persian translation but which does not occur in the Panchatantra.

Many of these fables are also found in the Hitopades'a but arranged in quite a different order, being interspersed with others, through the three last chapters of that compilation.

Without forther particulatizing the variations of the Persian from the Sanskrit, it may be sufficient to say, that the five chapters of the Pan, chatantra agree, in the subject and in the general arrangement of the fables, with the third, fifth-sixth, seventh, eighth, and ninth, chapters of the Ayardanish and that more than half of the fables

contained in that part of the Persian work, which purports to have been derived from the Indian text, corresponds exactly to similar apologues in the Sanskrit- In most instances of eommission, a reason may be easily conjectured for the rejection of the original stories; and those, which have been substituted for them. As well as the few contained in the remaining chapters, which are not avowedly additional, may have been taken by the first translator, either from other Indian works' (for BARZU'YAH is stated to have brought more than one book from Hindustan;) or. though not acknowledged by him, may have been drawn from differennt sources. It probably was more his design to present to the King of Persia a pleasing collection of apologues tham a strictly faithful translation of a single Indian work.

This collection of fables has been translated more frequently, and into a greater variety of languages, than any other composition not sa cred and, although the earliest paraphrase, in Pehlevi, be now lost Arabic version is extant or lately was so, and may be easily verified through the transiations made into more than one langu- age, upon the Arabic text.

It is unnecessary to speak of another Arabic version said to have been taken from the origi- nal text of a pretended king of India named ISAM, three hundred years before the time of

of ALEXANDER: or to mention that made from the testament of HUSHENK (entitled Jawidan khird), by HASAN, son of SUHAIL Minister of AL MAMU'N the seventh khalif of the Abbasi dynasty, For both these pretended versions are probably the same with ABDULLHA'S but erroneously described to other authors.

from his Arabic text, a Greek translatian, entitled Steplanites and Ichnelates, was completed, seven hundred years ago, by SIMEO SETHUS, for the Emperor ALEXIUS COMNENSU. One in syriac under the title of Calaileg and Damnag, is probably teken from the Arabic, though purporting to be derived immediately from the Indian text. The Turkish versions (for there are more than one) have been derived immediately from tha Arebic, and several Latin and Italian translations have been drawn ftom the Greek of SETHUS, not to mention another Latin one from the Hebrew, nor the German and Spanish versions from the Latin and the Italian. All these, as well as the French translation of Gaulmin; David SAID GAULMIN and CARDDONNE from the Persian Calilahu Damnah, and from the Turkish Humayun name'd and Anwari Suhaili as also the English version from the Freneh appear to have been compared with considerable attention by various persons; but, excepting two unfaithful imitations in Latin and Italians the

general correspondence of the rest seems to be acknowledged †

We may conlude, therefore, that the Persion Calilahu Damnah, and Aya'da'nish, exhibit a sufficiently exact representation of the Arabic translation from the Pehlevi; and that after, rejecting avowed additions, we ought to find there a near resemblance to the Indian original From careful colletion of both Sanskit works with the ganuine parts of the Pesian translation, it is evident, as has been already show, nthat Panchtantra corresponds best with them; and there can be little hesitation in pronouncing this to be the original text of the work, which was procured from India by NU'SHI'RVA'N more than twelve hundred years ago

This fact is not withouti mportance in the general history of Indian literature; since it may serve to establish the greater antipuity of authors who are quoted in the Panchtantra and amongst others, that of the eelebrated astrologer VAR'AHA MIHIRA, who is cited by name in one passsge of the first chapter

The Hitopadesa containing nearly the same fables told more concisely and in a different order.

† See Bibliotheca Grœca of Fabricius, vol. vi. p. 460, and vel. x. p. 324; Bibbiotheque Orientle of d' Herbelot, pp. 1118, 206, 245, 399, and 456, Works of sir W. Jones, vol. vi. p. 4 and As. Res. vol i. p. 420; also Wilkin's Heeto pades, preface, p. xiii.

has been translated into Persian, in comparatively recent times, by Maulavi TAJU' DDIN who entitled it Muferrehu lkulu'b; and who does not appear, from his preface. to have been aware, that the work translated by him, was in any way connected with the Calilahu Mamnah.

This as well as the Hindi version of it, by Mir BAHADUR ALI which has been printed for the use of the Colage of Fort William, and which is entitled Akhla'ki Hindi may afford some help to a student, reading the Hitopades'a for his first exercise in the Sanskrit language He will find still more effectual assistance in the English translations by Sir WILLIAM JONES and Mr, WILKIN; and for this advantage, no less than for its easy style, the Hitopades'a has the first place in the present colleetlon of Sankrit works.



हितोपदेशके नीतिविषयका निघंटु ।

हितोपदेशमें जो उपदेश लिखे हैं वे संक्षेपसे निघंटुके आकारमें नीचे दिखाये जाते हैं । जिनको जिस उपदेशका प्रयोजन है वे यह निघंटु देखकर अनायास उसे ग्रन्थसे निकाल सकते और समझ सकते हैं कि, मनुष्यमात्रका सब कार्योंमें, सब अवस्थाओंमें, सब स्थानोंमें और सब समयमें यह अत्याज्य बन्धु है, सुखदुःखमें संपद् विपद्में, स्वदेश परदेशमें, गृह वनमें, जीवन मरणमें यह एकही सहायकारी है । इसीलिये हमारे गुणग्राही बापदादे पूर्व पुरुषगण बालकपनमें मैयाके दूधके संग इन उपदेशोंको पाठ करते और इनके गुणोंसेही संसारसंग्राममें जय प्राप्त करते थे ।

सांकेतिकचिह्न–

अव–अवतरणिका, ग्रन्थका मुखबन्ध । मित्र–मित्रलाभ प्रकरण । सु–सुहृद्भेद प्रकरण । वि–विग्रह प्रकरण । संधि–संधि प्रकरण । इन संकेतोंके पीछे जो श्लोक-संख्या है, वह सब इन्हीं प्रकरणोंकी श्लोकसंख्या जानो ।

विषय. प्रक० श्लोकसंख्या ।

अकपट बन्धु–मित्र० ३८ । २१९ । २२० । २२३ । २२४ । २२६ । मित्र० देखो।

अजितेन्द्रिय–मित्र० १७ । २९ । १५० । १६९ । सन्धि ८७ इन्द्रिय देखो ।

अज्ञान–मोह सन्धि० ८५ ।

अतिथि–अतिथिसत्कार, आतिथ्य. मित्र० ६० । ६१ । ६२ । ६४ । ६५ ।

अतिलोभ–संधि० १५ लोभ देखो ।

अतिव्यय–अपव्यय. सु० ९३ । वि० १२६ । १२७ ।

अतिसञ्चय–मित्र० ११४ ।

अदृष्ट–दैव, नियति, भाग. अव० २८ । २९ । मित्र० २० । ५१ । ५२ । ५३ ७६ । संधि २९ ।

अधीनता–पराधीनता, दासपन. मित्र० १४८ सु० १५० दासत्व देखो ।

अधिकारी–अधिकृत, नियोगी, कर्मचारी सु० ९५ से १०५ । वि०५७ मंत्री देखो।

अध्यवसाय–मित्र० १८१ उद्यम देखो ।

आपद्–विपद् मित्र० २९ । ३० विपद देखो ।
आयु–परमायु, उमर, जीवनकाल. मित्र० १३८ । १७५ । सु० १४ । १५ । १६ ।
आलस्य–दीर्घसूत्रता. मित्र० ३४ । सु० ४ । ५ ।
आलाप–सदालाप–मित्र० ४० । ९८ । १०० ।
आशा–मित्र० ७९ । ११८ । १५३ । सु० २१ तृष्णा देखो ।
आश्रित–शरणागत, शरणागतपालन. मित्र० ४७ । सन्धि० ६२ ।
आसंग–संसारमें अनुराग. संधि० ७१ । ७२ । ७३ । ७५ । ७६ । ७७ । ७८ ।
८० । ८१ । ९३ ।
आहार–भोजन. अव० २५ । मित्र० २२ । २३ । ७० । १४८ । १५९ ।
जीविका देखो ।
इन्द्रिय–इंद्रियदोष, इंद्रियदमन. मित्र–२९ । सु० १०७ । १३९ । सन्धि ८७ ।
२४ । २०८ । सन्धि ९९ रिपु देखो ।

मध्यम–पात्र–सु० ६९ । ७० ।
कामक्रोधादिकी उत्तेजना वि० ४८ ।
मित्र० १८४ । उद्यम देखो ।
अभ्युदय–उन्नति देखो ।
सदाचारचरित्र–मित्र० ७२ महत् देखो ।

उद्यम–उद्योग, अध्यवसाय, पुरुषकार. अव० ३० । ३१ । ३२ । ३३ । ३५ ।
३६ । मित्र० १८३ । १८४ ।
उन्नति–मित्र० ३४ । १८५ । सु० ४४ । ४५ ।
उपकारी–अपकारी–वि० १०१ । सन्धि० १६ हिताहित देखो ।
उपदेश–उपदेशके पात्रापात्र–अव० २ । ४३ । वि० ४ । ५ ।
उपाय–कौशल, नीति, नीतिज्ञ. मित्र० २१२ । सु० ११८ । वि० ४१ । ५१ ।
५२ सन्धि १० । ५५ । १०२ ।
ऋण–ऋणी–ऋणदाता–अ० २१ । मित्र० ७४ ।
एकता–ऐक्य, एकताका सुफल. मित्र० ३५ । ३६ । ३७ ।
कपट–कपटता, कपटमित्र. मित्र० ७८ । ७९ । ८२ । ८३ । १०१ । १०२ ।
सु० १११ । वि० ९७ ।

मृत्य–भृत्यके गुणागुण–दास देखो।

मंत्र–मंत्रणा–मंत्रणारक्षा. सु० ८७। १४३। १४५। वि० ३५। ३८। ३९। ४०। ४५। ७१।

मंत्री–अमात्य, सचिव, मंत्रीके लक्षण और गुणागुण. सु० ९०। ९१। ९५। ९६। ९७। ९८। ९९। १००। १०१। १०२। १०३। १०४। १०५। १२३। १२५। १२६। १२७। १२८। १६६। वि० १७। १८। ४१। १०६। १०७। १२०। १३४। १३५। १३७। सन्धि १००।

महत्–महात्मा–महत्त्व–महत्का आश्रय. मित्र० ३२। ३३। १०२। १९८। सु० ८६ वि० १०। ११। १२। १३ सन्धि ९५।

मांस–मांसभक्षण–मित्र० ६६। ६७। ६८। ६९। ७०।

मित्र–मित्रलक्षण, मैत्री, मित्रता. मित्र० ३१। ३८। ४०। ७३। ७४। ७५। ७६। ९७। ९९। २०३। २१९। २२०। २२३ २२४। २२६। सु० १३९। १४६। सन्धि ६६।

मूर्ख–मूर्खता. अव० ३९। ४०। ४२। सु० १६०। वि० २६। १२२। १२५।

मृत्यु–शरीर और जीवनकी अनित्यता अव० ३। सु० १५१। वि० १२०। सन्धि ६७। ६८। ६९। ७०। ७१। ७२। ७३। ७४। ७५। ७६। ७७। ७८। ७९। ८०। ८१। ८२। ८३। ८४।

यश–कीर्ति देखो।

युद्ध–युद्धयात्रा. पराये राज्यपर चढाई करना. युद्धका कालाकाल और फलाफल वि० ४२। ४३। ४४। ४९। ६८। ६९। ७०। १३९। १४२। युद्ध-यात्रा और युद्धमें जीतके नियम–वि० ७२ से १०० तक। युद्धमें प्राणत्याग करना सु० १६८। १६९। १७०। १७१। वि० १५०। १५१। सन्धि १८।

राजा–राजनियम–राज्य–राजाके गुणागुण–मित्र० २१३। २१४। २१५। २१६। सु० ३३। ५५। ६८। ७३। ७६। ७७। ८०। ८१ १०६। १०७। १०८। १३२। १५४। १७५। १८२। वि० २। ३। १४। १९। १३२। १४७। १४८। १५२।

राज्याङ्ग–स्वामी, अमात्यादि. वि० १४६।

शील–चरित्र और विनय देखो।

शोक–शोकका मूल, शोकशांति. मित्र० २। सन्धि ६७। ७१। ७४। ७५। ७८। ८०। ८१। ८५। ८६।

शौर्य–विक्रम, वीरत्व, शूर. अव० १६। मित्र० ७४। १७३। सु० १७। वि० ४४। १०५। ११९।

संसर्ग–पात्रभेदमें संसर्गका गुणागुण–अव० ४२। ४७। वि० २४। साधु-संगको देखो।

संसार–संसारकी अनित्यता इत्यादि–सन्धि ६७ से ८४ तक। सन्धि ९१। ९२। १३२। १३३। १३४। १३५।

संचय–संग्रह–मित्र० ४३। १४४। वि० ५८।

सती–सतीके लक्षण–मित्र० २०९। २१०। २११। वि० २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३।

सत्य–सत्यका गौरव–वि० ६४ सन्धि ८९। १३६।

सद्भाव–स्नेह, प्रणय. मित्र० १५६। मित्र और मैत्री देखो।

संतोष–सन्तुष्ट–मित्र० १५१। १५२। १५५।

सन्धि–मिलन, सन्धिके पात्रापात्र, सन्धिके प्रकारभेद. मित्र० ८९। सन्धि २२ से ५२ और ११० से १३१ तक।

सभा–सभाके लक्षण–वि० ६४।

सम्पद्–सम्पद्के, उपाय सम्पद्के कर्त्तव्य. मित्र० २९। १८३। १८४। सु० ४। ५। ६। १३४। १५५। वि० ११९। ३५। सन्धि ५३। १०१।

सहाय–सहायके गुणागुण–सु० १५७। १८१। सन्धि २१।

साक्षी सु० ११०। साधु–साधुलक्षण–साधुसंगके फल–अव० ४१। ४२। ४५। ४६। मित्र० ८६। ८७। ९३। ९४। ९५। ९६। ९८। १०१। १६१। १९९। २०१। २१७। सन्धि ९३। १०३। १३५।

साध्यासाध्य–मित्र० ९१। सु० १३। सार–श्रेष्ठवस्तु–मित्र० १६१। १६२।

सिद्धि–सिद्धिलाभके उपाय–वि० ४३। ४५। ४६। ४८।

सुख–सुखी–अव० १९। मित्र० १५४। १५६। १५९। १०२। सु०। १३९। सन्धि ९२।

सुन्दर और कुत्सित–सु० ५०।

सेवक–सेव्य. दास देखो ।
सैन्य–हस्ती, अश्व, रथ, पदाति इत्यादिके गुणागुण मित्र० २०२। वि० ७९ से ९८ और १२९। १३०।
स्त्री–स्त्रीचरित्र. मित्र० १२० से १२९। और २०७। २०८। सु०। ११३। ११४। ११७। सन्धि ७। ८।
स्वदेश–विदेश–मित्र० १०५।
स्वभाव–प्रकृति मित्र० १६। १९। सु० १३५। १३६। वि० ६१।
स्वर्गसुखका उपाय–मित्र० ६६। धर्म देखो।
स्वस्थान–स्वस्थानभ्रष्ट. मित्र० १०३। १०४। १०५। सु० ७०। वि० १३८
हित–हितैषी, मित्र० ३८ सु० १२२। १३३। १३८। १३९।
हिताहितविचार मित्र० ५। ६। सु० ४२। १४२। १४८। वि० ८। १०१।

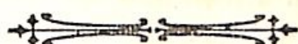
इति हितोपदेशनीतिविषयक–निघण्टु समाप्त ।

॥ श्रीः ॥



अथ हितोपदेश।

भाषाटीकासमेत।



मङ्गलाचरणम्।

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला॥ १॥

दोहा-गंगाफेनसुरेखसम, चन्द्रकला जिहिं भाल।
ता धूर्जटिकी हो दया, काजसिद्धि तत्काल॥ १॥

आभाष।

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च॥ २॥

इस हितोपदेश ग्रन्थको जो श्रवण करता है वह संस्कृत बोलनेमें निपुण होजाता है, उसको सब स्थानमें विचित्र वाणी प्राप्त होती है और नीति विद्याभी वह पाय लेता है॥

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥ ३॥

पंडितको उचित है कि, अपनेको अजर अमर जान करके विद्या और धनकी संसारमें चिन्ता करै और धर्मका आचरण इस प्रकारसे करै कि, मानो मौतसे केश

पकडे गये हैं । (अर्थात् धर्मको यह जानकर आचरण करना चाहिये कि, मानो मृत्यु निशिदिन शिरपै गाज रही है ।) ॥ ३ ॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

जितने कुछ धन रत्न इस जगत्में हैं उन सब धनरत्नोंसे यह विद्याधन सबकी सम्मतिमें श्रेष्ठ है; न इसको कोई छीन सकता, न इसको कोई मोलही लेसकता, न इसका कभी क्षय ही होसकता है, इस कारण यह विद्याधन ही इस संसारमें निश्चय अमोल रत्न धन है ॥ ४ ॥

संयोजयति विद्यैव नीचगाऽपि नरं सरित् ।
समुद्रमिव दुर्द्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

नीचे चलनेवाली नदीभी जिस प्रकार समुद्रमें मिल जाती है, इसी भांति नीचके पाले पडी विद्याभी उसको दुर्द्धर्ष राजाके पास पहुँचा देती है, इसके आगे भाग्य है ॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ ६ ॥

विद्या विनयको एवं विनय सुपात्रताको देती है और सुपात्रताके होनेसे धनकी प्राप्ति होती है, धनको अच्छे कार्योंमें लगानेसे धर्म मिलता है और धर्मके प्रभावसे सुखलाभ होता है ॥ ६ ॥

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाऽऽद्रियते सदा ॥७॥

दो विद्या हैं कि, जिनसे जगत्में प्रतिष्ठा मिलती है–शस्त्रविद्या और शास्त्र-विद्या, परन्तु पहिली (शस्त्रविद्या) बुढापेमें हास्य करानेवाली है और दूसरी (शास्त्रविद्या) का सदा आदर होता है ॥ ७ ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् ।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥

कोमल बालकका चित्त कच्चे बरतनकी समान होता है कि, जिसमें अंकित की हुई रेखाका कभी लोप नहीं होता, इस कारण बालकोंके लिये उचित नीति उपदेश कथाके मिससे इस ग्रंथमें लिखी जाती है ॥ ८ ॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च।
पञ्चतन्त्रात्तथाऽन्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते॥ ९ ॥

मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि ये चार विषय पंचतन्त्र और दूसरे ग्रन्थोंका सार लेकर इस ग्रन्थमें लिखे जाते हैं ॥ ९ ॥

कथारम्भः।

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम्। तत्र सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत्। स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव-

गंगाजीके तीर पाटलिपुत्र (पटना) नामका एक नगर है, वहांपर समस्तराजगुणालंकृत सुदर्शन नामक एक राजा था। एक समय उस राजाने किसीके मुखसे ये दो श्लोक श्रवण किये। यथा-

"अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥ १० ॥

"जो अनेक संशयको नाश करती है और परोक्ष अर्थको दिखाती है, केवल एक वही विद्या सबकी आँख है, वह आँख जिसको नहीं है वह अन्धा है ॥ १० ॥

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥ ११ ॥"

यौवन (जवानी), धनसम्पत्ति, प्रभुता, अज्ञानता इनमेंसे यह एक एक भी अनर्थके लिये हैं; फिर वहांकी तो बात ही क्या है? जहां ये चारों होंगे ॥११॥"

इत्याकर्ण्यात्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास-

राजाने जब ये दो श्लोक सुने, तब शास्त्रज्ञानहीन, सदा खोटे मार्गपर चलनेवाले अपने पुत्रगणोंका शास्त्रके विरुद्ध अनुष्ठान विचार, ऊबेहुए चित्तसे इस प्रकार चिन्ता की-

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुःपीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

जो विद्वान् भी नहीं और धार्मिकभी नहीं, ऐसे पुत्रके उत्पन्न होनेसे क्या फल है ? क्योंकि, कानी आंख तो केवल पीडाही देनेवाली होती है । (कानी आंखसे दीखता नहीं परन्तु दुखनेको वहभी आजाती है) ॥ १२ ॥

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः ।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

पुत्र तीन प्रकारके होते हैं-अजात (पैदाही नहीं हुए) मृत (होकर मरे हुए) और मूर्ख । इनमेंसे पहले दो (अजात, मृत) अच्छे हैं परन्तु पिछला (मूर्ख) श्रेष्ठ नहीं । कारण कि, अजात और मृत तो एकही वार दुःख देते हैं परन्तु अन्तका (मूर्ख) तो पग २ पर दुःख देता है ॥ १३ ॥

किंच-स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥ १४ ॥

वरन्-उसकाही सार्थक जन्म है कि, जिसका जन्म वंश और अपनी जातिकी उन्नति करता है, नहीं तो इस घूमते हुए संसारके भीतर कौन नहीं मरता और कौन नहीं जन्म लेता ॥ १४ ॥

अन्यच्च-गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसम्भ्रमाद्यस्य । तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥ १५ ॥

और भी-गुणियोंकी गणनाके आरम्भ होनेपर अग्रभागमें जिसकी लीक नहीं पडती ऐसे पुत्रसे जो माता पुत्रवती हो, तो फिर बाँझ स्त्री कैसी होती है ? ॥ १५ ॥

---

(१) ससम्भ्रमा यस्य । इत्यपि पाठ उपलभ्यते ।

अपिच–दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १६ ॥

औरभी–दान, तप, शूरता, विद्या और अर्थके प्राप्त करनेमें जिसका यश नहीं फैल गया है, वह पुत्र केवल माताके मल मूत्रकी समान है ॥ १६ ॥

अपरं च–वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च ॥ १७ ॥

औरभी–गुणी पुत्र एकही अच्छा है; परन्तु मूर्ख शत (१००) भी भले नहीं । तारागणोंके समूहभी अन्धकारका नाश नहीं करते, परन्तु चन्द्रमा अकेलाही अंधियारेका नाश करता है ॥ १७ ॥

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम् ।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ १८ ॥

जिस मनुष्यने पुण्यतीर्थमें अत्यन्त कठिन बहुतसी तपस्या की है, उसका ही पुत्र शान्त दान्त समृद्ध धार्मिक और श्रेष्ठ बुद्धिवाला होता है ॥ १८ ॥

तथा चोक्तम्–अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ १९ ॥

वैसाही कहा है–हे राजन् ! नित्य धनकी प्राप्ति, नीरोगता, प्यारी स्त्री, जो कि, मधुर वचन बोलनेवाली हो, सदा वशमें रहनेवाला पुत्र और फलदायक विद्या यही छः संसारके सुख हैं ॥ १९ ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलापूरणाढकैः
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्रूयते पिता ॥ २० ॥

कुठलेके पूरण करनेवाले धान्य आढकके समान गुणरहित बहुतसे पुत्रोंसे कौन धन्य हुआ है ? परन्तु कुलको सहारा देनेवाला एकही पुत्र अच्छा है कि, जिससे पिताका नाम सुनाजाता है ॥ २० ॥

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः॥ २१॥

वह पिता शत्रुके समान है जो ऋण कर जाता है. वह माता शत्रु है, जो व्यभिचार करती है और अत्यन्त रूपवाली स्त्री भी शत्रु है और मूर्ख पुत्र भी शत्रु है ॥२१॥

अनभ्यासे विषं विद्या अजीर्णे भोजनं विषम्।
विषं सभा दरिद्रस्य वृद्धस्य तरुणी विषम्॥ २२॥

अभ्यास न करनेसे विद्या विष है और अजीर्णमें भोजन विष है, दरिद्रके लिये सभा विष है, बूढेके लिये जवान स्त्री विष है॥ २२॥

यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः।
धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति॥ २३॥

गुणवान् चाहे जिस * वंशमें जन्मा हो, उसका सबही मान करते हैं। और उत्तम कुलमें पैदा होकरभी निर्गुण मनुष्य क्या करेगा? क्योंकि, उत्तम बाँसका धनुष होनेपरभी गुण प्रत्यञ्चा न होनेपर उससे क्या फल मिल सकता है?॥ २३॥

हा हा पुत्रक! नाधीतं सुगतैतासु रात्रिषु।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि॥ २४॥

हा! शोक है, पुत्र! इतनी रात्रियाँ वृथा बीत गईं, इनमें तैंने न पढा इस कारण तू विद्वानोंके मध्यमें इस प्रकारकी दुर्गतिको पावेगा कि, जैसे कीचडमें फँसकर गायकी दुर्दशा होती है॥ २४॥

तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम्?

इस कारण इस समय अपने यह पुत्र किस उपायसे गुणवान् किये जायँ?

---

* वंशशब्दसे कुल और बांस दो अर्थ होते हैं। धनुषके लिये वंश अर्थात् बांस। गुण शब्दमें विद्या विनय इत्यादि और धनुषके लिये गुण अर्थात् डोरा। धनुष श्रेष्ठ बांसके झांदरेसेभी काटकर बनाया गया हो और उसमें डोरा न होनेपर जिस प्रकार वह निकम्मा है, अच्छे वंशमें उत्पन्न होनेपर, मनुष्यभी विना गुणके वैसेही निकम्मा है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥ २५॥

आहार, निद्रा, भय, विहार करना; ये चारों बातें पशु व मनुष्योंमें समान हैं। केवल एक धर्महीं मनुष्यमें अधिक है फिर जब मनुष्यमें यह धर्महीं नहीं तो मनुष्यभी पशुके समान हैं॥ २५॥

यतः–धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥ २६॥

जिससे–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारोमेंसे जिसको एकभी प्राप्त नहीं तो उसका जन्म ऐसा निरर्थक है, जैसे बकरीके गलेका थन व्यर्थ हैं॥ २६॥

यच्चोच्यते–आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥ २७॥

जो कहाजाता है कि;–आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पांच बातें प्राणीके गर्भवासकालमेंही सिरजी जाती हैं॥ २७॥

किंच–अवश्यं भाविनो भावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः॥ २८॥

औरभी–भालका लिखा हुआ अवश्यही होकर रहेगा; जो सबमें श्रेष्ठ बडे हैं वेभी उसका खंडन नहीं कर सकते, क्योंकि कपालकेही दोषसे शिव सदा नंगे रहते और कपालकेही दोषसे विष्णुजी सप्पको शेजपर शयन करते हैं॥ २८॥

अपि च–यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥ २९॥

और दूसरे–जो नहीं होनेवाला है, उसको कौन कर सकता है? और जो होनहार है, उसको कौन मेट सकता है? सर्व चिन्ताविषका नाश करनेवाला यह ज्ञान औषध लोग क्यों नहीं पान करते?॥ २९॥

एतत् कार्याक्षमाणां केषाञ्चिदालस्यवचनम् ।

ये बातें कुछ एक आलसीलोग आलस्यके ही वश होकर कहा करते हैं ।

यतः–न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाप्तुमर्हति ॥ ३० ॥

क्योंकि;–भाग्यके भरोसेपर अपना उद्योग छोडना नहीं चाहिये क्योंकि, विना यत्न किये तिलसे तेल नहीं निकलता ॥ ३० ॥

अन्यच्च–उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ ३१ ॥

और भी कहाहै किः–उद्योगी पुरुषश्रेष्ठ सदा लक्ष्मीको प्राप्त करता हैं और कायर पुरुष सदा भाग्यके भरोसे पर बैठा रहता है । भाग्यही देता है, ऐसा वचन तो कायर ही कहा करते हैं, भाग्यको छोडकर अपना पौरुष दिखाओ; यदि यत्न करनेपर भी सिद्धि न हो तो इसमें क्या दोष है ? ॥ ३१ ॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार एक पहियेसे रथकी गति नहीं होती, ऐसेही पुरुषार्थके विना भाग्य नहीं फलता ॥ ३२ ॥

तथा च–पूर्वजन्मकृतं कर्म यद्दैवमिति कथ्यते ।
तस्मात्पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ३३ ॥

और भी–पहिले जन्मका किया कर्म प्रारब्ध (दैव) कहाता है, इस कारण आलस्यको त्याग पुरुषार्थ करके यत्न (उपाय) करो ॥ ३३ ॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

जैसे मिट्टीके पिण्डसे कुम्भकार (कुम्हार) इच्छानुसार वस्तु बनाता है, तैसे ही मनुष्य अपने किये हुए कर्मको आपही पाता है ॥ ३४ ॥

अन्यच्च–काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वापि निधिमग्रतः ।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥

और भी–काकतालीयन्यायसे अचानक सम्मुख निधिको आई हुई निहारकरभी दैव (प्रारब्ध) अपने आप नहीं देता, बरन् पुरुषार्थकी आवश्यकता रखता है॥३५॥

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥३६॥

उद्यमके विना केवल इच्छासेही कार्य नहीं होते बरन् उद्यमसेही होते हैं, कारण कि, मृग (हिरन) आपही सोते हुए सिंहके मुखमें प्रवेश नहीं करते हैं ॥ ३६ ॥

मातापितृकृताभ्यासो गुणितामेति बालकः ।
न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः ॥ ३७ ॥

माता पिताके अभ्यास करानेसे बालक गुणवान् होता है, न कि केवल गर्भसे निकलते ही पुत्र पंडित होता है ॥ ३७ ॥

तथा च--माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ ३८ ॥

और भी–वह बाप और वह माता वैरीकी तुल्य हैं जिन्हांने अपने बालकको नहीं पढाया । वह बालक सभाके बीचमें इस प्रकारसे शोभित नहीं होता, जैसे हंसोंके बीचमें बगला ॥ ३८ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥३९॥

रूप-यौवन-सम्पन्न, बडे भारी कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य (कुलीन) विद्याहीन होकर इस प्रकार शोभित नहीं होते, जैसे गन्धरहित ढाकके फूल ॥ ३९ ॥

मूर्खोऽपि शोभते तावत्सभायां वस्त्रवेष्टितः ।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किंचिन्न भाषते ॥ ४० ॥

सभामें वस्त्र पहरेहुए मूर्ख तबतक शोभा पाता है कि, जबतक मूर्ख कुछ बोलता नहीं है (जहां बोला कि, कलई खुल जाती है.) ॥ ४० ॥

एतच्चिन्तयित्वा स राजा पण्डितसभां कारितवान्। राजोवाच। भो भोः पण्डिताः! श्रूयताम्-अस्ति कश्चिदेवम्भूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः। यतः-

उस राजाने इन सब बातोंको शोच विचारकर पंडितोंको बुलवाय एक सभा की। राजाने कहा-हे पंडितगण! आप लोगोंमें कोई ऐसे भी पंडित हैं कि, जो सदाही खोटे मार्गपर चलनेवाले शास्त्रज्ञानहीन हमारे पुत्रोंको नीतिशास्त्रका उपदेश देकर उनका दूसरा जन्म करानेके लिये समर्थ होसकें? क्योंकि-

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्।
तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्॥ ४१॥

कांच, सुवर्णकी संगतिसे मरकत मणिकी कान्तिको धारण करता है, ऐसेही सज्जनोंका संग करनेसे मूर्ख भी प्रवीण (चतुर) होजाता है ॥ ४१ ॥

उक्तं च-हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥ ४२॥

कहा है कि-हे तात! हीनमतिवालेंके समागमसे बुद्धि हीन होती है, समान बुद्धिवालोंके सहवाससे बुद्धि समान रहती है, और बडोंकी संगति करनेसे बुद्धिभी बडी होती है ॥ ४२ ॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाब्रवीत्। 'देव! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्रा मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते। यतः-

उस समय बृहस्पतिजीके समान समस्त नीतिशास्त्रके मर्मको जाननेवाले विष्णु-शर्मा नामक एक विख्यात पंडित राजासे बोले,-'हे देव ! इन राजपुत्रोंने महावंशमें जन्म ग्रहण किया है, हम इनको नीति सिखा सकते हैं । क्योंकि—

नाद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत् ।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥ ४३ ॥

कुपात्रमें करनेसे कोई क्रिया फलवती नहीं होती । सैकडों प्रकारके उपाय कर-नेसे भी बगला तोतेकी समान नहीं पढाया जाता है ॥ ४३ ॥

अन्यच्च—अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते ।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ॥ ४४ ॥

और दूसरे—यह वंश गुणरहित पुत्रोंको उत्पन्न नहीं करता । × पद्मराग मणि-योंकी खानीसे कहीं कांच पैदा होसकता है ? ॥ ४४ ॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नीतिशास्त्रा-भिज्ञान् करिष्यामि' । राजा सविनयं पुनरुवाच—

इसलिये हम छः महीनेके भीतर ही आपके पुत्रोंको नीतिशास्त्रमें सुशिक्षित करेंगे ।' राजाने फिर नम्रतासे कहा—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ॥४५॥

' कीडा भी फूलके संगसे श्रेष्ठोंके शिरपर चढता है, बडे जनोंसे आदरके साथ प्रतिष्ठित होनेपर पत्थरभी देवपनेको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—यथोदयगिरेर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्संनिधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४६ ॥

और भी—जैसे उदयपर्वतकी वस्तु सूर्यके समीप होनेसे प्रकाशित होती है, वैसेही हीनजाति भी साधुलोगोंके समागमसे प्रकाशित होती है ॥ ४६ ॥

× पद्मराग—माणिक ।

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रभवन्ति नद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ ४७ ॥

गुण गुणजाननेवालोंके सम्मुख गुणही होते हैं, परन्तु दुष्टके संगको पाकर विपरीत होजाते हैं । नदी स्वादिष्ट जलवाली होती हैं परन्तु समुद्रमें पहुँचकर पीनेके अयोग्य खारे जलवाली होजाती हैं ॥ ४७ ॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम् ' इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरःसरं पुत्रान्समर्पितवान् । अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात्प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्-'भो राजपुत्राः शृणुत-

इसलिये हमारे इन पुत्रोंको नीतिशास्त्र 'सिखानेके लिये आपही योग्य हैं' राजा यह कह उन विष्णुशर्माजीका सम्मान करके उनके हाथमें अपने पुत्रोंको समर्पण करता हुआ ॥ तिसके पीछे वह राजपुत्र जब राजभवनकी छत्तपर सुखसे बैठ गये; तब उन पंडितजीने प्रसंगके क्रमसे कहा-' हे राजपुत्रगण ! श्रवण करो-

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥ ४८ ॥

काव्यशास्त्रके आनंदसे बुद्धिमानोंका समय बीतता है और विषय, निद्रा और कलहसे मूर्ख अपना समय व्यतीत करते हैं ॥ ४८ ॥

तद्भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि' । राजपुत्रैरुक्तम्-आर्य ! कथ्यताम् ।

इसलिये तुम्हारे आनन्दके लिये हम काक कच्छपादिकी विचित्र कथा कहते हैं ।' राजपुत्रोंने कहा, हे आर्य ! कहिये । इति कथारम्भ समाप्त ॥

मित्रलाभ १.



विष्णुशर्मोवाच—' शृणुत, सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

विष्णुशर्मा बोले—' सुनो, अब मित्रलाभकी कथा कहता हूं, जिसका प्रथम श्लोक यह है—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत् '॥ १ ॥

उपायहीन द्रव्यहीन बुद्धिमान् मित्रगण परस्पर मिलकर कार्योंको शीघ्र सिद्ध करते हैं । जिस प्रकार काक, कछुए, मृग और चूहेने किया ' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—' यह किस प्रकारसे है ? ' तब विष्णुशर्मा कहने लगे:—

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र नानादिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमायान्तं पाशहस्तं व्याधमपश्यत् । तमवलोक्याचिन्तयत्—' अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं जातम् । न जाने किमनभिमतं दर्शयिष्यति ?' इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः।यतः—

गोदावरीके तीरपर एक बडा भारी सेमलका वृक्ष है, अनेक दिशा और अनेक देशोंसे पक्षिगण आकर रात्रिके समय उस वृक्षपर बसेरा लेते हैं । एक समय

रात्रिके बीत जाने, और भगवान् कुमुदिनीकान्त चन्द्रमाके अस्ताचल शिखरका आश्रय लेनेपर लघुपतनक नामक एक कागने जागकर देखा कि, दूसरे यम-राजकी समान एक व्याध फंदा हाथमें लिये चलाआता है। इस व्याधको देखकर उस कागने विचारा-' आज सवेरेही सवेरे अशुभ दर्शन हुआ । न जाने क्या अमंगल होगा ? ' यह विचारकर व्याकुलचित्तसे वह काक उस व्याधका अनुसरण करने लगा । क्योंकि,-

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसेदिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २ ॥

हजारों शोक और सैकडों भयके स्थान दिन प्रतिदिन मूर्खको प्राप्त होते हैं, पंडितको नहीं होते ॥ २ ॥

अन्यच्च विषयिणामिदमवश्यं कर्तव्यम्-

और विषयी लोगोंको यह अवश्य करना उचित है-

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।
मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति ॥ ३ ॥

सेजसे उठ २ कर प्राप्त होनेवाले बडे भयको जानना योग्य है कि, मरण, व्याधि, शोकमेंसे आज कौन आनकर उपस्थित होगा ? ॥ ३ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान्विकीर्य जालं विस्तीर्णम् । स च प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। तस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणानवलोकयामास। ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान्कपोतान् प्रत्याह--' कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां संभवः ? तन्निरूप्यतां तावत् । भद्रमिदं न पश्यामि। प्रायेणानेन तण्डुलकणलोभेनास्माभिरपि तथा भवितव्यम् । यथाहि--

इसके पीछे उस व्याधने चावलकी किनकीको बखेरकर जाल फैलाया और वहां आपभी छिपकर टिका रहा। ठीक उसी समय, चित्रग्रीव नामक एक कपोतराज अपने परिवारसहित आकाशमें घूमता २ उन समस्त चावलके दानोंको देखता हुआ, तब कबूतरोंको चावलके दानोंका लोभी देखकर कबूतरोंके राजाने कहा— 'इस निर्जन वनमें चावलके दाने कहांसे आये? इस कारण पहले इस बातकी खोज खबर लीजाय। यह तो भला विदित नहीं होता कदाचित् उन चावलके दानोंके लोभसे हमपरभी वैसा न हो; जैसे कि:—

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे।
वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः स मृतो यथा ॥ ४ ॥

कंकणके लोभसे दुस्तर कीचडमें फँसा पथिक (मुसाफर) बूढे व्याघ्रसे पकडा जाकर मारागया ॥ ४ ॥

कपोता ऊचुः—'कथमेतत्?' कपोतराजः कथयति।

कबूतर बोले—'यह कैसा हुआ?' कबूतरोंका राजा कहने लगा.

कथा १.

अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्। एको वृद्धव्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते—'भो भोः पान्थाः! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्'। ततो लोभाकृष्टेन केनचित्पान्थेनालोचितम्—"भाग्येनैतत्संभवति। किंत्वस्मिन्नात्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया। यतः—

मैंने एक समय दक्षिण वनमें घूमते २ देखा कि, एक बूढा व्याघ्र स्नान करके हाथमें कुश लिये सरोवरके किनारे पर खडा हुआ कह रहाहै कि, 'हे यात्रिगण! इस सुवर्णके कङ्कणको ग्रहण करो'। अनन्तर लोभसे खिंचा हुआ एक यात्री विचारने लगा,—'भाग्यसेही ऐसा लाभ हुआ करताहै, परन्तु जिसमें जीवनका संशय है उसमें लोभ करना भला नहीं। कारण कि—

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा।
यत्रास्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ५ ॥

अनिष्टसे वाञ्छित वस्तु मिलनेपरभी अच्छी दशा नहीं होती, विषके साथ रहते हुए अमृतसेभी मृत्युका भय निश्चय है ॥ ५ ॥

किंतु सर्वत्रार्थार्जने प्रवृत्तिः सन्देह एव। तथा चोक्तम्-

परन्तु अर्थ (धन) उपार्जन करनेमें तो सबही स्थानोंमें संशय है। कहाभी है कि-

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ६ ॥

मनुष्य विना संशयमें आरूढ हुए कल्याणों (भलाइयों) को नहीं देखता और जब वह संशयमें आरूढ होकर जीता है, तो फिर भलाइयोंको देखता है ॥ ६ ॥

तन्निरूपयामि तावत्।" प्रकाशं ब्रूते-'कुत्र तव कङ्कणम् ?' व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति। पान्थोऽवदत्-'कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः ?' व्याघ्र उवाच-' शृणु रे पान्थ ! प्रागेव यौवन-दशायामतिदुर्वृत्त आसम्। ततः अनेकगोब्राह्मण-मानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता दाराश्च, वंशहीन श्चाहम्। ततः केनचिद्धार्मिकेणाहमादिष्टः-दानधर्मादिकं चरतु भवान्। तदुपदेशादिदानी-महं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो न कथं विश्वासभूमिः ?'

इसलिये खोज करके देखूं'। फिर पुकार कहा-'कहां है तुम्हारा कंकण ?'। व्याघ्रने हाथ बढाकर दिखाया। यात्री बोला-'तू हिंसकस्वभाव है, तुझमें विश्वास क्या ?' व्याघ्रने कहा,-'सुन रे पथिक ! पहिले मैं जवानीके समय बडा दुराचारी था। अनेक गौ, ब्राह्मण और दूसरे अनेक मनुष्योंकी हिंसा करनेके पापसे हमारे

स्त्री पुत्र मर गये हैं। मैं निर्वंश होगया हूं। तिसके पीछे एक धार्मिकने मुझे उपदेश दिया कि, तुम दान धर्मादिका आचरण करो। उसहीके उपदेशसे मैं इस समय नित्य स्नान और दान किया करता हूं। मैं वृद्ध होगया हूं, मेरे नख और दांत गिर पडे हैं, फिर मैं क्यों विश्वासका पात्र नहीं हूंगा?

उक्तं च–इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥ ७॥

कहाभी है–यज्ञ करना, वेद पढना, दान देना, तप करना, सत्य बोलना, धैर्यता, क्षमा, लोभ न करना यह धर्मका आठ प्रकारवाला मार्ग कहा गया है॥ ७॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति॥ ८॥

इनमेंसे * प्रथमके चार पाखण्डके लिये भी किये जाते हैं, परन्तु पिछले चार तो सदा साधुजनोंमेंही रहते हैं॥ ८॥

मम चैतावाँल्लोभविरहो येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद्दातुमिच्छामि। तथापि व्याघ्रो मानुषं खादतीति लोकप्रवादो दुर्निवारः। यतः–

मैंने लोभको यहांतक त्याग दिया है कि–अपने हाथका यह सुवर्णमय कङ्कण जिस तिसको देना चाहता हूं, तथापि बाघ मनुष्यको खाता है, यह लोकापवाद मिटनेवाला नहीं। क्योंकि;–

गतानुगतिको लोकः कुट्टिनीमुपदेशिनीम्।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम्॥ ९॥

---

* प्रथमके चार अर्थात् पहले कहे हुए आठ प्रकारके धर्मोंमेंसे यज्ञ, अध्ययन, दान और तपस्या कोई २ लोग इन चारोंको अभिमानके वश होकर किया करते हैं, परन्तु अन्तके चार अर्थात् सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ इन चारोंको यथार्थ साधुके सिवाय और कोई नहीं पाता॥

संसार देखादेखीकी चाल चलनेवाला है । उपदेश करनेवाली कुटनीका धर्मके विषयमें प्रमाण नहीं करते, जैसे गोघाती ब्राह्मणका ॥ ९ ॥

मया च धर्मशास्त्राण्यधीतानि । शृणु-

मैंने धर्मशास्त्रभी पढा है । सुन;-

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्ते भोजनं तथा ।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ १० ॥

जैसे मरुभूमि (मारवाड) में वर्षा, क्षुधासे पीडितको भोजन कराना सफल है, हे पाण्डुनन्दन ! (पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर !) वैसेही दरिद्रको दिया हुआ दान सार्थक होता है ॥ १० ॥

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ ११ ॥

आप अपने प्राणोंको जैसा प्यार करता है, दूसराभी अपने प्राणोंको वैसाही प्यार करता है । साधु लोग ऐसाही जानकर सब प्राणियोंपर दया करते हैं ॥ ११ ॥

अपरं च-प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ १२ ॥

दूसराभी-प्रत्याख्यान (भिक्षुकको कुछ न देकर टालदेना), पराये चित्तमें सुख दुःख उपजाना और दूसरेके प्रति प्यारा या कुप्यारा वचन कहना दान इनमें कौन श्रेष्ठ है, इसका प्रमाण पुरुष अपने समान जाने ॥ १२ ॥

अन्यच्च-मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ १३ ॥

औरभी-पराई स्त्रीको माताकी समान, पराये द्रव्यों (धनादि) को ढेलेकी समान और सब प्राणियोंको अपनी समान जो देखता है वही पंडित है ॥ १३ ॥

त्वं चातीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सुयत्नोऽहम् ।
तथा चोक्तम्-

तुम अति दरिद्री हो इसी कारण तुमको यह (कंगन) देनेके लिये मैं इतना यत्न करताहूं। वैसा कहाभी है कि;-

दरिद्रान् भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर ! दरिद्रोंका भरण पोषण करो, ऐश्वर्यवान्को धन न दो; व्याधिवालेको औषध हितकारी है, निरोगीको दवाइयोंसे क्या फल है ? ॥ १४ ॥

अन्यच्च-दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १५ ॥

औरभी-देनाही उचित है, ऐसा समझकर जो दान अनुपकारी (जो पुरुष अपने कार्यमें न आता हो) को दियाजाय देश, काल और पात्रमें दियाजाय उस दानको सात्त्विक कहते हैं ॥ १५ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण ।' ततो यावदसौ जातविश्वासः सरः स्नातुं प्रविशति तावदेव महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षमः । पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्-'अहह! महापङ्के पतितोऽसि । अतस्त्वामहमुत्थापयामि ' इत्युक्त्वा शनैःशनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः । स पान्थोऽचिन्तयत्-

इसलिये तुम इस सरोवरमें स्नान करके सुवर्णके कंगनको ग्रहण करो ' । इसके पीछे उसके वचनका विश्वास करके जैसे ही वह (यात्री) सरोवरमें स्नान करनेको पैठा कि, वैसेही गहरी कीचडमें फँसकर भागनेकी सामर्थ्यसे हीन होगया । उसको कीचडमें फँसाहुआ देखकर व्याघ्रने कहा,-' अहह! तुम गंभीर कीचडमें फँसेहो इस कारण मैं तुमको निकालता हूं ' उस व्याघ्रने यह कहकर धीरे २ जाय जब उसको (यात्रीको) पकडा तब उस पथिकने विचारा;-

' न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।
स्वभाव एवात्र तथाऽतिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥ १६ ॥

'धर्मशास्त्रका पाठ या वेदका पढना दुरात्माको साधुताका कारण नहीं होसकता जिसका जो स्वभाव है वही सबसे प्रबल है, जैसे गायका दूध स्वभावसेही मीठा होता है ॥ १६ ॥

किंच—अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया ।
दुर्भगाऽऽभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥१७॥

और देखो,—जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं, उनके कार्य * हाथीके स्नानकी समान हैं। जैसे प्रायः विधवा स्त्रियोंको गहना भार है ऐसेही विना अनुष्ठानके ज्ञान बोझेकी समान है ॥ १७ ॥

तन्मया भद्रं न कृतं, यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः ।

इसलिये मैंने जो हिंसकस्वभाव जीवका विश्वास किया सो भला नहीं किया ॥

तथा ह्युक्तम्—
नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा ।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ १८ ॥

वैसाही कहा है—नदियोंका, जिनके हाथमें शस्त्र हो उनका, नखवालोंका, सींगवालोंका, स्त्रियोंका और राजकुलका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

---

* हाथी नहीं धोकर जैसे फिर अपने अंगोंमें धूल डाल लेता है, वैसेही अजितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानका उपदेश पाकरभी निन्दनीय आचरणोंसे अपनी आत्माको दूषित करते हैं, इस कारण ज्ञानके समान सदाचार न रहनेसे उस ज्ञानका रहना विधवा स्त्रीके अंगमें गहने रहनेके समान है।

अपरं च—सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः ।
अतीत्य हि गुणान्सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥१९॥

और भी—सबके स्वभावही परखे जाते हैं, उनके पृथक् गुणोंकी परीक्षा नहीं की जाती. कारण कि, सब गुणोंको उल्लंघन कर स्वभावही शिरके ऊपर रहता है ॥१९॥

अन्यच्च—स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी ।
विधुरपि विधियोगाद्ग्रस्यते राहुणाऽसौ
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः २०॥'

और भी,—वह आकाशमें विहार करनेवाला, अंधकारनाशकारी, सहस्र किरणोंका धारण करनेवाला, प्रकाशवान्, तारागणोंके मध्यमें घूमनेवाला चन्द्रमा भी भाग्यके वश हो राहुसे ग्रसा जाता है, इस कारण माथेपरके लिखे हुएको मेटनेमें कौन समर्थ है ? ॥ २० ॥'

इति चिन्तयन्नेवासौ तेन व्याघ्रेण व्यापादितः खादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—' कङ्कणस्य तु लोभेन ' इत्यादि । अतः सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्तव्यम् । यतः—

इस प्रकार विचार करते हुए पथिकका व्याघ्रने प्राण संहार करके उसको भोजन किया । इस कारण मैंने ' कंगनके लोभसे ' इत्यादि कहाथा । इसलिये सब भांतिसे विना सोचे विचारे काम करना उचित नहीं है । क्योंकि—

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ २१ ॥

भली भाँतिसे जीर्ण (पचा) हुआ अन्न, शिक्षित पुत्र, शासन कीहुई स्त्री, भली प्रकारसे सेवा कियाहुआ राजा, भली रीतिसे विचार कर कहना और अच्छी तरह सोच विचार कियाहुआ कार्य, ये बहुत समयमेंभी विकारको प्राप्त नहीं होते ॥२१॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित्कपोतः सदर्पमाह-'आः! किमेवमुच्यते ?

यह वचन सुनकर एक कबूतर गर्वसहित बोला-'आः! यह सब क्या कहतेहो ?

वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।
सर्वत्रैवं विचारेण भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् ॥ २२ ॥

विपद्का समय प्राप्त होनेपर बडोंके वचन ग्रहण करने चाहिये और जो सब जगहही इसका विचार किया जायगा तो भोजनमें भी प्रवृत्ति नहीं होसकती ॥ २२॥

यतः-शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले ।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ॥२३॥

क्योंकि-पृथ्वीपर अन्न पान सबहीमें तो अनेक प्रकारकी शंका है; फिर किसमें प्रवृत्ति की जाय और किस प्रकारसे प्राण रखने चाहिये ॥ २३ ॥

तथा चोक्तम्-

ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः ॥ २४ ॥'

औरभी कहा है कि;-ईर्षा करनेवाला, घिन करनेवाला, सदा कोप करनेवाला, सदा असन्तुष्ट और सदाही शंकित रहनेवाला और दूसरेके भाग्यसे (भरोसेसे) जीनेवाला ये छः सदा दुःख भोगनेवाले हैं ॥ २४ ॥'

एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः ।

यह बात सुनकर सब कबूतर उन समस्त चांवलोंके दानोंपर जायकर बैठे ।

यतः-सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥२५॥

कारण,-जिन्होंने बडे शास्त्र पढे हैं, जिन्होंने बहुत ज्ञान उपार्जन किया है और जो दूसरेके संशयोंको छेदन करनेवाले हैं, वेभी लोभमें पडकर कष्ट पाते हैं ॥ २५ ॥

अन्यच्च–लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥ २६ ॥

और देखो,–लोभसेही काम होता है, लोभसेही क्रोध होता है, लोभहीसे मोह तथा नाश होता है और लोभही पापका कारण है ॥ २६ ॥

अन्यच्च–असंभवं हेममृगस्य जन्म
तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥ २७ ॥

और देखो;–सुवर्णके मृगका जन्म असम्भव है, तथापि श्रीरामचन्द्रजी मृगमें लुभाये, बहुधा विपत् समयके आनेपर पुरुषोंकी बुद्धि मलिन होजाती है ॥ २७ ॥

अनन्तरं ते सर्वे जालेन बद्धा बभूवुः । ततो यस्य वचनात्तत्रावलम्बिताः पक्षिणस्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति ।

इसके पीछे वे समस्त कपोत (कबूतर) जालमें बँधे। तिसके उपरान्त जिसकी बात सुन सब वहां जाकर बैठेथे, उसका सबही कबूतर निरादर करने लगे।

तथा चोक्तम्–
न गणस्याग्रतो गच्छेत्सिद्धे कार्ये समं फलम् ।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥ २८ ॥

कहाभी है कि;–समूहके आगे न चले क्योंकि कार्यके सिद्ध होनेपर फल तो बराबर मिलता है और जो काममें कहीं कुछ विपत्ति होगई तो वह सबसे प्रथम अगवानी ही मारा जाता है ॥ २८ ॥

तथा चोक्तम्-आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः। तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥२९

कहा भी है कि,-इन्द्रियोंको अपने वशमें न करनाही आपत्तिका मार्ग कहाहै और इन्द्रियोंके जयसे सम्पत्तिका मार्ग प्राप्त होताहै जो इन मार्गोंमें अच्छा लगे उसीमें चले ॥ २९ ॥

तस्य तिरस्कारं कृत्वा चित्रग्रीव उवाच-'नायमस्य दोषः। यतः-

उस कबूतरका सबसे निरादर होते हुए देखकर चित्रग्रीव कहने लगा,-' यह इसका दोष नहीं है। कारण;—

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम्।
मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥ ३०॥

आनेवाली विपद्का हेतु हितभी होजाता है, जैसे दुहनेके समय बछडेके बांधनेमें उसकी माताकी जंघाही खंभा होजाती है *॥ ३० ॥

अन्यच्च-स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः।
न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः ॥ ३१ ॥

औरभी देखो;-वही बन्धु है, जो विपदमें पडे हुओंको आपत्तिसे छुटकारा करानेमें समर्थ है और वह मित्र नहीं है जो भयभीत हुएभी रक्षा करनेवाली वस्तुके उल्हाने देनेमें चतुर है ॥ ३१ ॥

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम्। तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम्। यतः-

और विपद्के समय बुद्धिहीन होजानाभी कायर पुरुषका लक्षण है इसलिये अब धीरज धारण करके छुटकारेकी चिन्ता कीजानी उचित है। क्योंकि—

---

* गाय दुहनेके समय उस गायकीही जांघसे अबभी कहीं २ बछडेको बांधदिया करते हैं इस कारण देखो बछडेकी माताका शरीरही बछडेके बाँधनेको खूँटारूप होगया।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३२ ॥

विपद्में धीरता, ऐश्वर्यमें क्षमा, सभामें वाणीकी चतुरता, युद्धमें पराक्रम, यशमें रुचि, वेदमें व्यसन ये महात्मा पुरुषोंके स्वभावसेही सिद्ध हैं ॥ ३२ ॥

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च धीरत्वम् । तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३३ ॥

संपत्तिमें जिसे हर्ष न हो, विपत्तिमें शोक न हो, रणमें धीरता हो ऐसे तीनों लोकोंके तिलक पुत्रको बहुतही थोडी मातायें उत्पन्न करती हैं ॥ ३३ ॥

अन्यच्च–षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

औरभी–निद्रा, तन्द्रा (ऊँघना), भय, क्रोध, आलस्य, देरमें काम करना, ये छः दोष संसारमें लक्ष्मी चाहनेवाले पुरुषको दूर करने चाहिये ॥ ३४ ॥

इदानीमप्येवं क्रियताम्, सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादायोड्डीयताम् ।

इस समय भी इस प्रकारसे किया जाय, आओ ! हम सब एकहृदय हो जाल लेकर उडचलें ।

यतः–अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३५ ॥

कारण,–अल्प वस्तुओंका भी समूह कार्य सिद्ध करनेवाला होता है, तिनके रस्सीके भावको प्राप्त होकर मतवाले हाथियोंको बाँधते हैं ॥ ३५ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि ।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ३६ ॥

मनुष्योंको अपने थोडे भी कुलके लोगोंसे संगति श्रेष्ठ है, (क्योंकि) भूस्सीसे छूटें हुए चावल नहीं ऊगते ॥ ३६ ॥'

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादायोत्पतिताः। अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तानवलोक्य पश्चाद्धावन्नचिन्तयत्।

इस प्रकार विचारकर सब पक्षी जाल लेकर उडे । इसके उपरान्त जब उस व्याधने दूरसे देखा कि, वे पक्षी जाल लेकर भागे जाते हैं अर्थात् उड़े जाते हैं, तब वह उनके पीछे २ दौडकर इस प्रकार विचारने लगा;-

संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहङ्गमाः ।
यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा ॥ ३७ ॥

ये सब पक्षी मिलकर मेरे जालको लिये भागे जाते हैं, पर जब ये अवश होकर गिरेंगे तब मेरे वशमें पडेंगे ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयातिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः । अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः-' स्वामिन् ! किमिदानीं कर्तुमुचितम् ?'
चित्रग्रीव उवाच-

इसके पीछे जब वे पक्षिगण दृष्टिकी पहुँचसे निकल गये तब वह व्याध लौट गया । इसके उपरान्त व्याधको लौटाहुआ देखकर कबूतर बोले;- ' प्रभो ! इस समय क्या करना चाहिये ?' चित्रग्रीव बोला;—

' माता मित्रं पिता चेति स्वभावात्त्रितयं हितम् ।
कार्यकारणतश्चान्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ ३८ ॥

' माता, पिता, मित्र, ये तीनों * स्वभावसेही हित करनेवाले हैं, व और दूसरे लोग किसी कार्यवश हितबुद्धिवाले होते हैं ॥ ३८ ॥

---

* स्वभावतः अपने यथार्थ स्नेहके वश होकर ।

तदस्माकं मित्रं हिरण्यको नाम मूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति । दन्तबलेन सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति ' इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः । हिरण्यकश्च सर्वदा अपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति ।

इस लिये हमारा मित्र हिरण्यक नामक चूहोंका राजा गण्डकी नदीके तीर चित्र वनमें वास करता है, वह अपने दांतोंके बलसे हमारे जालबन्धनोंको काट डालेगा, इस प्रकार विचारकर सब हिरण्यकके बिलके निकट गये । हिरण्यक सदा विपद्के भयसे सौ द्वारोंका बिल बनाकर उसमें वास करता था ।

अनागतभयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः ।
अवसन्मूषिकस्तत्र वृद्धः शतमुखे बिले ॥ ३९ ॥

भावी भयको विचारकर नीतिशास्त्रका विशारद (जाननेवाला) वृद्ध चूहा शत-द्वारका बिल बनाय उसके भीतर रहताथा ॥ ३९ ॥

ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः । चित्रग्रीव उवाच–'सखे हिरण्यक ! किमस्मान्न संभाषसे ?'। ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससंभ्रमं बहिर्निःसृत्याब्रवीत्–' आः! पुण्यवानस्मि प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः।

हिरण्यक कबूतरोंके गिरनेके शब्दसे चकित हो चुपचाप रहा । चित्रग्रीव बोला;– ' सखे हिरण्यक ! हमसे क्यों नहीं बोलते ? ' हिरण्यकभी उसकी यह बात सुन बोल पहचान हडबडायकर बाहर आय बोला,–' अहो ! मैं कैसा पुण्यवान् हूं, हमारे प्रियबन्धु चित्रग्रीव आये हैं ।

यस्य मित्रेण संभाषा यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान्॥४०॥

अपने मित्रके साथ जिसका संभाषण है, और जो. सदा मित्रके साथ रहता है, जिसकी वार्तालाप सदा मित्रके साथ होती है, उसकी तुल्य पुण्यवान् संसारमें और कोई नहीं है ॥ ४० ॥'

पाशबद्धांश्चैतान्दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वोवाच-'सखे किमेतत्?'। चित्रग्रीवोऽवदत्-'सखे! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत्।

वह (हिरण्यक चूहा) उन (कबूतरों) को जालमें बँधा हुआ देखकर क्षणभर तो विस्मित होरहा, तिसके पीछे पूछा 'सखे! यह क्या हुआ?' चित्रग्रीव बोला, 'मित्र! यह हमारे पूर्वजन्मके कर्मका फल है।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ ४१ ॥

जिस कारणसे, जिस उपायसे, जिस प्रकारसे, जिस समय, जो कोई जितना पाप पुण्य करता है, उसी कारणसे, उसी उपायसे तथा उसी प्रकारसे, उसी समय, उतना-ही फल उसको वहां *भाग्यके वश होकर मिलता है ॥ ४१ ॥

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥४२॥

रोग, शोक, सन्ताप, बन्धन, व्यसन (दुःख), यह सब उनके दुष्कृत रूपी वृक्षोंके+ फल हैं ॥ ४२ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति। चित्रग्रीव उवाच-'मित्र! मा मैवम्। अस्मदाश्रितानामेषां तावत्पाशांश्छिन्धि, तदा

* विधाताके हाथसे। + अपने कर्मोंके दोषसेही सब यह समस्त दुःख भोग करते हैं।

मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि'। हिरण्यकोऽप्याह–'अहं चाल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः, तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थः तद्यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति तावत्तव पाशं छिनद्मि। तदनन्तरमेषामपि बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि। चित्रग्रीव उवाच–'अस्त्वेवम् । तथापि यथाशक्त्येतेषां बन्धनं खण्डय'। हिरण्यकेनोक्तम्–'आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिविदां संमतम्। यतः–

यह सुनकर हिरण्यक चित्रग्रीवके बन्धन काटनेके लिये शीघ्रतासे आगे बढा। तब चित्रग्रीव बोला,–' मित्र ! नहीं नहीं ! ! ऐसा न करो; तुम पहले हमारे इन सब आश्रित जनोंके बन्धन काटो, हमारे बंधन पीछे काटना ' । हिरण्यक बोला,–' हममें सामर्थ्य थोडी है और दाँतभी कोमल हैं, इस कारण मैं इन सबके बन्धन किस प्रकारसे काट सकता हूं, इसलिये जबतक मेरे दाँत नहीं टूटजायें, तबतक तो तुम्हारे बन्धन काटूं, तिसके पीछे यथाशक्ति इन सबकेभी बन्धन काटूंगा।' चित्रग्रीव बोला,–'यह बात ठीक है, तथापि तुम यथासाध्य इनकेही बन्धन काटो।' हिरण्यक बोला–'आत्मत्याग* करके आश्रय लेनेवालोंकी रक्षा करना, नीति जाननेवालोंको सम्मति नहीं है क्योंकि—

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ४३ ॥

आपत्तिके लिये धनको रक्खे, धनसे स्त्रियोंकी रक्षा करे और स्त्री व धनसेभी अधिक सदा अपनी रक्षा करे ॥ ४३ ॥

---

* आत्मत्याग–अपनाजीवन, धन या और किसी प्रकारके अभीष्टका त्याग करना।

अन्यच्च-धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम् ॥४४॥'

और भी-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जो कुछभी हैं, इन सबके होनेके हेतु प्राण हैं सो इनके (प्राणोंके) मारनेवालेने क्या नहीं मारा ? और इसके बचानेवालेने क्या नहीं बचाया ? ॥ ४४ ॥'

चित्रग्रीव उवाच-' सखे ! नीतिस्तावदीदृश्येव ।
किं त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थः।
तेनेदं ब्रवीमि । यतः-

चित्रग्रीव बोला-' मित्र ! नीतिशास्त्रकी कथा ठीक ऐसी ही है किन्तु मैं किसी प्रकारसे अपने आाश्रित गणोंका दुःख नहीं देखसकूंगा, इसलिये ऐसा कहताहूं । क्योंकि—

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥ ४५ ॥

पराये हितके लिये ज्ञानी पुरुषको अपना धन और जीवन भी वारदेना चाहिये । विनाश होना अवश्य ठहराया गया है, इसलिये भले जनोंके अर्थ त्याग ही श्रेष्ठ है४५

अयमपरश्चासाधारणो हेतुः—

और भी एक असाधारण कारण यह है कि,-

जातिद्रव्यगुणानां च साम्यमेषां मया सह ।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद्भविष्यति ॥ ४६ ॥

जाति, द्रव्य, गुणोंमें इन सबकी मेरे साथ बराबरी है, फिर भला मेरी प्रभुताईका फल बतलाओ कि, वह कब और क्या होगा ? ॥ ४६ ॥

अन्यच्च--विना वर्तनमेवैते न त्यजन्ति ममान्तिकम् ।
तन्मे प्राणव्ययेनापि जीवयैतान्ममाश्रितान् ॥ ४७॥

औरभी-विना आजीविकाकेभी ये मेरे साथको नहीं छोडते, इस कारण मेरे प्राण व्यय करकेभी इन मेरे आश्रितोंको बचाओ ॥ ४७ ॥

किञ्च–मांसमूत्रपुरीषास्थिनिर्मितेऽस्मिन् कलेवरे।
विनश्वरे विहायास्थां यशः पालय मित्र! मे ॥४८॥

वरन्–मांस, मूत्र, विष्ठा और अस्थि इनसे बनेहुए नाशवान् शरीरमें आशा छोडकर, हे मित्र! मेरे यशको पाल ॥ ४८ ॥

अपरं च पश्य–यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना।
यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्नु किम् ॥ ४९ ॥

औरभी देख–अनित्य * मलधारी शरीरसे नित्य निर्मल यश प्राप्त करना, जो वह प्राप्त किया गया तो फिर क्या नहीं मिलगया? ॥ ४९ ॥

यतः–शरीरस्य गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः॥५०॥'

क्योंकि–शरीरका व गुणोंका अन्तर (फरक) बहुतही बडा है, शरीर क्षणभरमें विध्वंस होजाता है, और गुण प्रलयके समयतक रहनेवाले हैं ॥ ५० ॥'

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन्नब्रवीत् 'साधु मित्र! साधु!! अनेनाश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि कपोतानां युज्यते'। एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि छिन्नानि। ततो हिरण्यकः सर्वान्सादरं संपूज्याह–'सखे चित्रग्रीव! सर्वथाऽत्र जालबन्धनविधौ दोषमाशङ्क्यात्मन्यवज्ञा न कर्तव्या।

इस वचनको सुनकर, हिरण्यक अत्यन्त आनन्दित और पुलकित होकर कहनेलगा–'धन्य मित्र! धन्य!! आश्रित रहनेवालोंके प्रति तुम इस प्रकारकी वात्सल्यताके गुणसे त्रिलोकीके कबूतरोंके अधीश्वर होनेके योग्य हो।' उसने यह कहकर समस्त कबूतरोंके बन्धन काट डाले। इसके उपरान्त हिरण्यक आदर सम्मान

* मलधारी–विष्ठा, मूत्र श्लेष्मा इत्यादि घिनकारा अपवित्र पदार्थोंकी खानि।

सहित सबकी यथोचित पूजा करके बोला,--' सखे चित्रग्रीव ! किसी भांतिसे जालमें बन्धनके कार्यपर दोषकी शंका करके तुम कभीभी अपनी निन्दा न करना।

यतः-योऽधिकाद्योजनशतात्पश्यतीहामिषं खगः।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ५१ ॥

क्योंकि;-जो पक्षी शतयोजनकी भी अधिक दूरीसे भक्ष्य मांसको देख लेता है वही काल प्राप्त होनेपर जालके फंदेको नहीं देखता ॥ ५१ ॥

अपरं च-शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ ५२ ॥

चन्द्रमा और सूर्यका ग्रहणसे पीडित होना और हाथी, साँपकाभी बन्धनमें पडना और मतिमानोंकी दरिद्रताको देखकर मेरी ऐसी बुद्धि होती है कि, भाग्यही प्रबल है*५२

अन्यच्च-व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि। दुर्नीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ ५३ ॥'

और भी-आकाशमें एकान्त विहार करनेवाले पक्षीभी विपद्को प्राप्त होते हैं। चतुर मनुष्य गंभीरजलवाले समुद्रसेभी मछलियोंको बांध लेते हैं। इस संसारमें क्या दुर्नीत है ? क्या सुचरित्र है ? स्थानप्राप्तिमें कौन गुण है ? कालही नाश करनेको दुःखरूप भुजा फैलाये दूरसे पकडलेता है ॥ ५३ ॥'

* इस जगत्में किसीकी चाहे जैसी शक्ति क्यों न हो, भाग्यके हाथसे किसी प्रकार छुटकारा नहीं पासकता।

इति प्रबोध्यातिथ्यं कृत्वाऽऽलिङ्गच च चित्रग्रीव-स्तेन सम्प्रेषितो यथेष्टदेशान् सपरिकारो ययौ। हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः॥

हिरण्यक इस प्रकारसे उसको समुझाय और अतिथिसत्कार करके भेंट पूर्वक विदा देता हुआ। चित्रग्रीव परिवारसहित इच्छित स्थानको चला गया। हिरण्य-कने भी अपने बिलमें प्रवेश किया॥

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च।
पश्य मूषिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः॥ ५४॥

मनुष्यको प्रत्येक जातिके सैकडों मित्र करने उचित हैं। देखो! चूहेके मित्र होनेसे कबूतरके बन्धन छूटे॥ ५४॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यमिदमाह–'अहो हिरण्यक! श्लाघ्योऽसि। अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीमिच्छामि। अतो मां मैत्र्येणानुग्रहीतुमर्हसि।' एतच्छ्रुत्वा हिरण्यको-ऽपि विवराभ्यन्तरादाह-'कस्त्वम्?' स ब्रूते 'लघुपतनकनामा वायसोऽहम्'। हिरण्यको विहस्याह–'का त्वया सह मैत्री। यतः–

इसके पीछे, लघुपतनक नामक कौवा, यह समस्त वृत्तान्त देखकर विस्मित हो चूहेसे कहने लगा–'हे हिरण्यक! तुम धन्य हो। मैं भी तुम्हारे साथ मित्रता कर-नेकी इच्छा करता हूं' इसलिये हमारे साथ मित्रता स्थापन करके मुझपर अनुग्रह करो।' हिरण्यक भी यह वचन सुन भट्टकहीमेंसे बोला–'भाई! तुम कौन हो?' कौवा बोला;–'मैं कौआ हूँ, मेरा नाम लघुपतनक है।' यह सुन हिरण्यक हँस-कर कहनेलगा–'तुम्हारे संग कहीं मित्रता संभव होसकती है? कारणः–

यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत्।
अहमन्नं भवान्भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति॥ ५५॥

इस संसारमें जिसका जोड जिसके साथ लगता है, पंडितको उचित है कि, उसकेही साथ उसको मिलावै। मैं आपका अन्न (भोजन), आप मेरे भक्षक (खानेवाले), फिर भला प्रीति कैसे होगी ? ॥ ५५ ॥

अपरं च-भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम् ।
शृगालात्पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः ॥५६॥'

औरभी देखो-भक्ष्य (खानेके योग्य) के साथ भक्षक (खानेवाले) की प्रीतिका होना विपत्तिहीका कारण है, शृगालके वचनसे बँधा हुआ मृग कौएसे रक्षा किया गया॥'

वायसोऽब्रवीत्-'कथमेतत् ?' हिरण्यकः कथयति-

कौएने पूछा,-' वह किस प्रकार ? ' हिरण्यक कहने लगा-

कथा २.

अस्ति मगधदेशे चम्पकावती नामारण्यानी, तस्यां चिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन्हृष्टपुष्टाङ्गः केनचिच्छृगालेनावलोकितः । तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्-' आः ! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि । भवतु विश्वासं तावदुत्पादयामि ' । इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत्-' मित्र ! कुशलं ते ?' । मृगेणोक्तम्-' कस्त्वम् ' । स ब्रूते-'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम् । अत्रारण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि । इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि । अधुना तवानुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम् ।' मृगेणोक्तम्-'एवमस्तु ' । ततः पश्चादस्तं गते सवितरि भगवति

मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति। तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्–'सखे चित्राङ्ग! कोऽयं द्वितीयः?' मृगो ब्रूते– 'जम्बुकोऽयम्। अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः'। काको ब्रूते–' मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता। तथा चोक्तम्–

मगध देशमें चम्पकवती नामक एक बडा वन है। वहांपर बहुत दिनोंसे परम प्रेमसहित एक हरिण और एक काक रहते थे। एक शृगालने देखा कि– वह मृग इच्छानुसार विचरण करनेसे दिव्य हृष्ट पुष्ट हुआ है। उस मृगको देखकर शृगालने विचारा–' अहा! किस उपायसे इसका मधुर मांस भक्षण करूं? अच्छा! इसके मनमें विश्वास तो उपजाऊं'। इस प्रकार कपट रच उसके सम्मुख जाकर बोला–' मित्र! भले तो हो?'। मृग बोला,–' तुम कौन?'। शृगाल बोला;–'मैं शृगाल हूँ, मेरा नाम क्षुद्रबुद्धि है। मैं इस वनमें बन्धुहीन होकर मरेहुएकी समान रहताहूँ। इस समय तुमको बन्धु पायकर मेरी मृतकदेहमें फिर प्राण आये, इस समय मैं सब भाँतिसे तुम्हारा सेवक होकर रहूंगा'। मृग बोला,– ' तब ऐसाही हो'। इसके उपरान्त मरीचिमाली सूर्य भगवान् छिपगये। तब मृगके साथ २ वह शृगाल भी मृगके वासस्थानपर गमन करता भया। उस स्थानमें मृगका एक बहुत दिनोंका मित्र सुबुद्धिनामक कौआ चम्पकवृक्षकी शाखा-पर वास करता था, उसने दो जनोंको देखकर पूछा,–' सखे मृग! यह दूसरा कौन है?' मृगने कहा,–' यह शृगाल मेरे साथ बन्धुता करनेकी इच्छासे आया है'। काक बोला;–' मित्र! अचानक एक आनेवालेसे मित्रता करनी योग्य नहीं। इसलिये तुमने भला काम नहीं किया। कहाभी है कि,–

अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः॥ ५७॥'

जिस किसीका कुल और स्वभाव न जाना गया हो, उसको निवास करनेका स्थान नहीं देना चाहिये। कारण कि, बिलावके दोषसे जरद्गवनाम गिद्ध मारा गया ॥५७॥

तावाहतुः--' कथमेतत् ?'। काकः कथयति--

मृग और शृगालने पूछा,-' यह कैसे ? '। काक बोला,-

कथा २.

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान् पर्कटीवृक्षः। तस्य कोटरे दैवदुर्विपाकाद्गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति। अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाहारात्किंचित् किञ्चिदुद्धृत्य ददति, तेनासौ जीवति। शावकरक्षां च करोति। अथ कदाचिद्दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान्भक्षितुं तत्रागतः। ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्तैः कोलाहलः कृतः। तच्छ्रुत्वा जरद्गवेनोक्तम्-' कोऽयमायाति ?'। दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह-' हा! हतोऽस्मि। यतः--

गंगाजीके किनारे गृध्रकूटनामक पर्वतपर एक बडा भारी पाकरका वृक्ष है। उस वृक्षकी कोटरमें जरद्गव नामक एक गिद्ध रहता था। प्रारब्धके खोटेपनसे उसके नख और नेत्र जाते रहेथे। उस वृक्षपर जो पक्षी वास करते, वे दया करके उसके जीवनकी रक्षाके अर्थ अपने २ भोजनमेंसे कुछ २ लेकर उसकोभी देदिया करतेथे। उस भोजनको पायकर वह गिद्ध जीताथा और उन पक्षियोंके बच्चोंकी देखभाल किया करताथा। इसके पीछे एक दिन दीर्घकर्ण नामक एक बिलाव पक्षिगणोंके बच्चोंको भक्षण करनेके अभिप्रायसे वहींपर आया, उसको आते देखकर

पक्षियोंके बच्चे चिल्ला उठे। उनके चिल्लानेको सुनकर जरद्गवने पूछा-'यह कौन आता है?' दीर्घकर्ण, गिद्धको देखकर भीत हो विचारने लगा,-'हाय! मैं मारा गया। कारण-

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम्॥५८॥

जबतक विपद् नहीं आनपडे, तबतक विपद्से भय करना चाहिये परन्तु जब विपद् आन ही पडे तब उस विपद्को देख मनुष्यको उचित उपाय करना योग्य है ५८

अधुनाऽस्य संनिधाने पलायितुमक्षमः। तद्यथा भवितव्यं तद्भवतु। तावद्विश्वासमुत्पाद्यास्य समीपमुपगच्छामि' इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत्- 'आर्य! त्वामभिवन्दे'। गृध्रोऽवदत्--'कस्त्वम्?' सोऽवदत् 'मार्जारोहम्'। गृध्रो ब्रूते-'दूरमपसर। नो चेद्धन्तव्योऽसि मया'। मार्जारोऽवदत्-'श्रूयतां तावदस्मद्वचनम्' ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः। यतः-

इस समय अत्यन्त निकट आय गया हूँ, इससे अब भागना कठिन है। अब उपस्थितके अनुसार कार्य कियाजाय। विश्वास उत्पन्न कराकर इसके सम्मुख जाऊँ' मनही मन इस प्रकार विचार सम्मुख जायकर कहने लगा;--'हे आर्य! आपको प्रणाम करताहूँ'। गिद्धने कहा;--'तुम कौन?' उसने कहा--'मैं बिलाव'। गिद्धने कहा'--'दूर हो, नहीं तो तेरा प्राणसंहार करडालूंगा'। बिलाव बोला;-- 'पहले मेरी बात तो सुनलीजिये; तिसके पीछे जो मैं मार डालनेके योग्य हूँ तो मुझको मारडालना। कारण;—

जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यते पूज्यते क्वचित्।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत्॥५९॥'

जातिमात्रसे कहीं कोई वध किया जाता या पूजा जाता है ? व्यवहारको जान-करही वध करने योग्य या पूजने योग्य होता है ॥ ५९ ॥ '

गृध्रो ब्रूते-'ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि?'। सोऽवदत्- ' अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि । यूयं धर्मज्ञानरता विश्वासभूमय इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति । अतो भवद्भ्यो विद्या-वयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः, भवन्तश्चैता-दृशा धर्मज्ञा यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः । गृहस्थ-धर्मश्चैषः--

गिद्धने कहा,--' कह ! तू किस कारणसे आया है ? ' बिलाव बोला,--' मैं इन गंगाजीके किनारे रहताहूँ, नित्य स्नान करताहूँ और मांसरहित भोजन करता हूँ और ब्रह्मचर्य पालन करके चान्द्रायण व्रतका अनुष्ठान करताहूँ । आप धर्मके जानने-वाले प्रेम व विश्वासके पात्र हैं, पक्षिगण सदाही मेरे निकट आनकर आपका ऐसा गुण कीर्त्तन किया करते हैं । इस कारणसे मैं आपको ज्ञानमें और अवस्थामें बडा जानकर आपके निकट धर्मकथा श्रवण करनेके लिये इस स्थानमें आयाहूँ । किन्तु आप ऐसे धर्मके मर्मको जाननेवाले हैं कि, आये हुए मुझ अतिथिकोही मारडाल-नेके लिये तैयार हुए हैं । शास्त्रमें गृहस्थका धर्म इस प्रकारसे कहा है:-

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ६० ॥

घरमें आये हुए शत्रुकाभी अतिथिसत्कार करना चाहिये । वृक्ष अपने काटन-वालेके ऊपरकी छायाका संहार नहीं करता है । (अर्थात् बढई जो पेडको काटता है, तोभी पेड उसके ऊपरसे अपनी छायाको नहीं खेंचलेता) ॥ ६० ॥

यदि वाऽन्नं नास्ति तदा प्रीतिवचसाप्यतिथिः पूज्य एव । यतः-

और जो घरमें अन्न न हो तब मधुर वचनोंसेभी तो पाहुनेकी पूजा की जाती है। कहाभी है कि-

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ ६१॥

तृण, भूमि, जल और सूनृत वचन* ये श्रेष्ठ पुरुषोंके गृहसे कभी नष्ट नहीं होते॥ ६१

अन्यच्च–बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥ ६२॥

औरभी–गृहपर आये हुए बालक, वृद्ध, युवा सबकी ही विधिसे पूजा करै. कारण कि, अभ्यागत सबकाही गुरु है॥ ६२॥

अपरं च–निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः॥ ६३॥

औरभी कहा है कि,–साधुजन निर्गुण जीवोंपरभी दया करते हैं चन्द्रमा अपनी चांदनी चण्डालके घरसेभी नहीं हरता अर्थात् नहीं खैंचलेता है॥ ६३॥

अन्यच्च–अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥ ६४॥

औरभी–अतिथि निराश हो जिसके घरसे लौट जाता है, वह उसके अर्थ अपने किये पाप देकर उसके पुण्य लेकर चला जाता है॥ ६४॥

अन्यच्च--उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः॥ ६५॥'

औरभी–उत्तम वर्णके घर आया हुआ नीच अतिथि भी यथायोग्य पूजनीय है क्योंकि, अतिथि सर्वदेवमय है॥ ६५॥'

गृध्रोऽवदत्-'मार्जारो हि मांसरुचिः, पक्षिशावकाश्चात्र निवसन्ति। तेनाहमेवं ब्रवीमि'। तच्छ्रुत्वा

* सूनृत वचन–सत्य और प्रिय वाक्य।

मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति, ब्रूते च- ' मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणमध्यवसितम्। परस्परं विवदमानाना-मपि धर्मशास्त्राणाम्-' अहिंसा परमो धर्मः ' इत्यत्रैकमत्यम् । यतः-

गिद्धने कहा;-' बिलाव मांसका खानेवाला होता है और पक्षियोंके बच्चे इस स्थानमें वास करते हैं । इसी कारणसे मैं ऐसा कहता हूँ ' । बिलावने भी यह बात सुनते ही पृथ्वीको छूकर कानोंमें हाथ दिये और कहा;-' मैंने धर्मशास्त्रको श्रवण-कर संसारका त्याग करके यह कठिन चान्द्रायणव्रत ग्रहण किया है । (प्रमाण स्वरूप) धर्मशास्त्रोंमें परस्पर मतभेद रहने भी ' अहिंसा परम धर्म है ' इस वचनको सबही शास्त्र एकवाक्यतासे स्वीकार करते हैं । क्योंकि,-

सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६६ ॥

जो मनुष्य सर्वहिंसाओंसे निवृत्त हैं और जो सब कुछ सहनेवाले हैं, जो सब जीवोंको आश्रय देनेवाले हैं, वेही लोग स्वर्गको जाते हैं ॥ ६६ ॥

अन्यच्च-एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ६७ ॥

औरभी देखो-केवल एक धर्मही मित्र है, जो मरनेपरभी साथ जाता है और अन्य सब कुछ तो शरीरके संगही लय होजाता है ॥ ६७ ॥

किंच-योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम् ।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते॥ ६८ ॥

और देखो-जो जिसके मांसको आहार करता है, उन दोनोंके अन्तरको देखो एकको तो क्षणभरके लिये सुख होता है, परन्तु दूसरा एकबारही अपने प्राणोंसे मारा जाता ह ॥ ६८ ॥

अपि च–मर्तव्यमिति यद्दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
शक्यस्तेनानुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम् ॥ ६९ ॥

औरभी;–मरनेका दुःख जो पुरुषको होता है उस दुःखका अनुमान करके पराये प्राणोंकी रक्षा भी की जा सकती है ॥ ६९ ॥

शृणु पुनः–स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात्पातकं महत्॥७०॥'

और सुनो;–स्वयं वनमें उपजे हुए शाकसे भी उदर पूर्ण कियाजाता है, फिर इस जलेहुए पेटके निमित्त कौन महापाप करे ? ॥ ७० ॥'

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः–

इस प्रकारसे विश्वास उपजाकर विलाव वृक्षकी कोटरमें वास करने लगा ।

ततो दिनेषु गच्छत्सु पक्षिशावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्रत्यहं खादति। अथ येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा । तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः । पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकास्थीनि प्राप्तानि । अनन्तरं त ऊचुः–'अनेनैव जरद्गवेनास्माकं शावकाः खादिताः' इति सर्वैः पक्षिभिर्निश्चित्य गृध्रो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि 'अज्ञातकुलशीलस्य ' इत्यादि । इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह–'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने

१ शक्यते नानुमानेन परेण परिवर्णितु –इत्यपि पठ्यते ।

भवानप्यज्ञातकुलशील एवासीत् । तत्कथं भवता सहैतस्य स्नेहानुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्द्धते ?

फिर धीरे २ दिन बीतनेलगे और वह (बिलाव) भी प्रतिदिन पक्षियोंके बच्चे पकड २ अपने कोटरमें लाय भक्षण करने लगा। अनन्तर उसने जिनके बच्चोंको भक्षण किया वे शोकसे आर्त हो विलापकर इधर उधर खोजने लगे । बिलावभी यह जानकर कोटरसे निकलकर भागा। पीछेसे पक्षियोंने इधर उधर ढूंढते २ उस वृक्षके कोटरमें अपने बच्चोंकी हड्डियां देखीं, इसके उपरान्त वे बोले-' इस जरद्गव-नेंही हमारे बच्चोंको खाया है ' यह निश्चय कर सब पक्षियोंने एकत्र हो उस गिद्धको मारडाला। इसलिये मैं कहताहूं कि, ' जिसका कुल, शील ज्ञात नहीं उसको आश्रय नहीं देना चाहिये '। यह कथा सुन वह शृगाल क्रोधसे बोला कि,-' जिस दिन तुम्हारे साथ मृगकी प्रथम मित्रता हुई थी उस दिन तुम्हारा भी तो कुल शील नहीं जाना गया था। फिर किस प्रकारसे तुम्हारे साथ इसका स्नेह अबतक बराबर बढताही जाता है ?

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि ।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥ ७१ ॥

जहां सुविज्ञ विद्वान् पुरुष नहीं है, वहां मूर्ख भी प्रशंसाके योग्य है, वृक्षहीन देशमें एरंड (अण्डी) भी वृक्ष गिना जाता है ॥ ७१ ॥

अन्यच्च-अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७२ ॥

और दूसरे-यह अपना है, यह पराया है, यह गणना* ओछी बुद्धिवालोंकी है, उदारचरित्रवालोंको तो संसारही कुटुम्ब है ॥ ७२ ॥

---

* ओछे चित्तवाले मनुष्यही अपने स्त्री, पुत्र इत्यादि परिवारवालोंको अपना सगा और सबोंको पराया विचार करते हैं, परन्तु महात्मा पुरुषोंके चित्तमें भेदज्ञान नहीं है, जगत्के समस्त प्राणीही उनका परिवार है अर्थात् सब जीवोंमें उनका एकसा प्रेम है ।

यथाऽयं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि'। मृगोऽब्रवीत्–'किमनेनोत्तरेण ? सर्वैरेकत्र विश्रम्भालापैः सुखिभिः स्थीयताम्। यतः—

और यह मृग जिस प्रकारसे हमारा बन्धु है वैसेही तुम भी हमारे बन्धु हो।' मृगने कहाः–'इस प्रकारके उत्तर प्रत्युत्तरसे क्या प्रयोजन है ? आओ, हम सबही परस्पर प्रेमकी बात करके सुखको प्राप्त करते हुए मिलकर रहें। क्योंकि,–

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा॥ ७३॥'

न कोई किसीका मित्र है, न कोई किसीका शत्रु है व्यवहारसे ही शत्रु मित्र होते हैं॥ ७३॥'

काकेनोक्तम्–'एवमस्तु'। अथ प्रातः सर्वे यथाभिमतदेशं गताः। एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते–'सखे! अस्मिन्वनैकदेशे सस्यपूर्णक्षेत्रमस्ति। तदहं त्वां नीत्वा दर्शयामि'। तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति। ततो दिनकतिपयेन गतेन क्षेत्रपतिना तं दृष्ट्वा पाशो योजितः। अनन्तरं पुनरागतो मृगस्तत्र चरन्पाशैर्बद्धोऽचिंतयत्–'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात्त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः'। तत्रान्तरे जम्बुकस्तत्रागत्योपस्थितोऽचिन्तयत्–'फलिता तावदस्माकं कपटप्रबन्धेन मनोरथसिद्धिः। एतस्योत्कृत्यमानस्य मांसासृग्लिप्तान्यस्थीनि मयाऽवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि बाहुल्येन भोजनानि भविष्यन्ति।'

स च मृगस्तं दृष्ट्वोल्लासितो ब्रूते-' सखे ! छिन्धि तावन्मम बन्धनम् । सत्वरं त्रायस्व माम् । यतः-

कौएने फिर कहा;-'ऐसाही हो '। इसके उपरान्त प्रभातकाल होनेपर सबही अपने २ इच्छित स्थानोंमें गये। एक दिन शृगालने एकान्तमें मृगसे कहा;-' सखे मृग ! इस वनके एक स्थानमें नाजसे भरापूरा एक खेत है। मैं तुमको संग ले चलकर वह दिखाता हूं '। गीदडने नाजका खेत दिखाने पर मृग प्रतिदिन वहां जाकर नाज खाया करै। इस प्रकारसे कई एक दिन बीत गये, खेतके स्वामीने खेतको खाया हुआ देखकर उस स्थानमें जाल लटका दिया। इसके पीछे मृग फिर वहां आयकर इधर उधर घूमते घूमते जालमें फँसकर विचारने लगा-' मित्रके विना और कौन हमें इस यमके फंदे समान व्याधके जालसे छुटकारा करानेको समर्थ होगा '। इसी अवसरमें शृगालने वहां पहुँचकर विचारा-' हमारी कपटताका जाल सफल होनेसे हमारे मनोरथकी सिद्धि भली भाँतिसे होगई, क्योंकि,-इस मृगको जब काटकूट लिया जायगा, तब रुधिर मांससे सनीहुई इसकी हड्डियें अवश्यही हम पावेंगे जो कि बहुतायतसे भोजन होंगे (उन्हें बहुत दिनतक खायेंगे)' और इधर मृग शृगालको देखकर हर्षित हो बोला;-' सखे ! हमारे बन्धनोंको काट डालो, शीघ्र हमारी रक्षा करो। कारण,-

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरमृणे शुचिम् ।
भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ॥७४॥

विपत् समयमें मित्रको, युद्धमें शूरको, धनके व्यवहारसे खरे पुरुषको, धन नाश होनेपर स्त्रीको और दुःखमें भाइयोंको पहँचानना चाहिये ॥ ७४ ॥

अपरं च-उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥७५॥[1]

औरभी,-हर्षमें, शोकमें, दुर्भिक्ष समयमें, राष्ट्रविप्लवमें, राजद्वारमें, मरघटमें जो टिका रहता है, वही बन्धु* है ॥ ७५ ॥'

---

१ राजाके द्वारपर दुःख निवारण करनेके लिये जो जाय अर्थात् उस समय जो उसकी सहायता करे वही उसका यथार्थ मित्र है। ' राष्ट्रविप्लव ' स्वदेशीय विद्रोह,

जम्बुको मुहुर्मुहुः पाशं विलोकयाचिन्तयत्–'दृढबन्धनबद्धोऽस्ति तावदयं मृगः'। ब्रूते च–'सखे! स्नायुनिर्मिता एते पाशाः। तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान् दन्तैः स्पृशामि। मित्र! यदि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत्त्वया वक्तव्यं तत्कर्तव्यम्' इत्युक्त्वा तत्समीप आत्मानमाच्छाद्य स्थितः सः। अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्येतस्ततोऽन्विष्यन् तथाविधं दृष्ट्वोवाच–'सखे! किमेतत्' मृगेणोक्तम्–'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत्। तथा चोक्तम्–

शृगाल जालकी ओर बारबार दृष्टि करके विचारने लगा कि, 'यह मृग भले कठिन बन्धनमें पडा है'। इसके उपरान्त बोला,–'मित्र! यह जाल नाडियों (तांतों) से बना है, इसलिये आज *रविवारमें किस प्रकारसे इसको दांतोंसे स्पर्श

–या विदेशी शत्रुके उपद्रवके कारण राज्य उलट पलट हो जानेको राष्ट्रविप्लव कहते हैं। उस समय जो अपनी ओर न देखकर दूसरेके धन प्राणकी रक्षा करे वही इसका यथार्थ बन्धु है।

* 'रविवारके दिन मांस नहीं खाना चाहिये' इस कारणसे धूर्त शृगालने रविवारका मिषकर उस तांतके बनेहुए जालको नहीं काटना चाहा। शास्त्रमें इस प्रकार निषेध है;–

'माषमामिषमांसं च मसूरं निम्बपत्रकम्। भक्षयेद्यो रवेर्वारे सप्तजन्मन्यपुत्रकः॥
आर्द्रकं मधु मांसं च भक्षयेद्यो रवेर्दिने। सप्तजन्म भवेद्रोगी जन्मजन्म दरिद्रता॥
निम्बं मांसं मसूरं च बिल्वं काञ्जिकमार्द्रकम्। भक्षयेद्यो रवेर्वारे सप्तजन्मन्यपुत्रकः॥
[इति कर्म्मलोचनम्।]

माष, आमिष (कलाई आदि), मांस, मसूरकी दाल, नींबके पत्ते रविवारको जो पुरुष भक्षण करताहै वह सात जन्मतक पुत्रहीन होता है–इत्यादि।

करूं ? मित्र ! तुम इससे और कुछ मत समझलेना । कल प्रातःसमय तुम हमसे जो कहोगे सो मैं करूंगा ' यह कह उसके पास अपने शरीरको छिपाकर स्थित हुआ । इधर वह कौआ सन्ध्याकालमें मृगको वासस्थानपर न आयाहुआ देखकर इधर उधर उसकी खोज करता २ मृगको इस अवस्थामें पडाहुआ देख कहने लगा;–' मित्र ! यह क्या ? ' मृग बोला;–' यह मित्रके वचन नँ सुननेका फल है । कहाभी है कि–

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।
विपत्संनिहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ७६ ॥'

हित चाहनेवाले मित्रोंका कहना जो नहीं सुनता, वह मनुष्य विपद्में पडकर अपने शत्रुको आनन्द देता है ॥ ७६ ॥ '

काको ब्रूते–'स वञ्चकः क्वास्ते ?' । मृगेणोक्तम्–' मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव ' । काको ब्रूते–' उक्तमेव मया पूर्वम् ।

कौएने कहा–' वह जालिया कहाँ है ? ' मृगने कहा–' मेरे मांसके खानेकी इच्छा किये वह इसी स्थानमें है '। कौआ बोला;–'मित्र ! मैंने तो पहलेही कहाथा ।

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम् ।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७७ ॥

यह मेरा अपराध नहीं है, यहभी विश्वासका कारण नहीं है, गुणवान् पुरुषोंकोभी हिंसकोंसे भय होताही है * ॥ ७७ ॥

---

* इस श्लोकके ही आगे किसी २ पुस्तकमें निम्नलिखित श्लोक अधिक है इस स्थानमें उसका अनुवादभी दियागया;–

श्लोक–दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥ १ ॥

अनुवाद–गतायुष जिनकी उमर बीतचुकी है वे लोग दीपकके बुझानेकी गन्धको

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ॥ ७८ ॥

पीछेमें कार्यके नाशकारी, सम्मुख प्यारे वचन बोलनेवाले मित्रको दूधमुखवाले विषके घडेकी समान त्याग दे। (जिसमें ऊपर थोडासा दूध हो और नीचे विष भरा हो ऐसे घडेका यहां वर्णन है) ॥ ७८ ॥'

ततः काको दीर्घं निःश्वस्य-'अरे वञ्चक ! किं त्वया पापकर्मणा कृतम् ? । यतः-

इसके उपरान्त कौएने लम्बी श्वास लेकर कहा;-' अरे पापी जालिये ! तैंने कैसा कुकर्म किया ? कारण;-

संलापितानां मधुरैर्वचोभिर्मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम्। आशावतां श्रद्दधतां च लोके किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति ॥ ७९ ॥

जिनसे मधुर वचनोंसे बातें की उनको, झूँठे उपचारोंसे वश किये हुओंको, आशावान्, विश्वासी और अर्थियोंको; भला कहीं ठगना चाहिये ? ॥ ७९ ॥

उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम्। तं जनमसत्यसन्धं भगवति ! वसुधे ! कथं वहसि ॥ ८० ॥

-नहीं सूंघते, मित्रके वचनको श्रवण नहीं करते और अरुन्धतीतारे (वसिष्ठजीकी स्त्रीका नाम) को नहीं देखते हैं ॥ १ ॥

इसका तात्पर्य यह है कि,-मन, बुद्धि इत्यादि भीतरी इंद्रियोंके अत्यन्त चल विचल होजानेहीसे मनुष्य हितकारीके वचनोंको नहीं मानता। आंख, कान इत्यादि बाहरी इंद्रियोंके चलायमान होजानेसे मनुष्य इतने बडे प्रकाशमान अरुन्धतीतारेको नहीं देखपाता, और दीपक बुझानेकी अत्यन्त तीव्र गन्धकाभी अनुभव नहीं कर सकता है। बस इन सब इंद्रियोंका चल विचल होजानाही मृत्युके होनेका पूर्वलक्षण हैं।

हितकारी, विश्वासी, पापरहित जनके प्रति जो पापका आचरण करता है; हे पृथ्वि! हे भगवति! तुम कैसे उस निर्लज्ज, कृतघ्न, दुराचारीका भार सँभालती हो ?॥ ८० ॥

दुर्जनेन[1] समं वैरं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णयते करम् ॥८१॥

दुष्टके साथ शत्रुता, मित्रता इन दोनोंहीके करनेसे अनिष्ट होता है, क्योंकि-अग्निमय अंगार तो हाथको जलाता है और यही शीतल होनेपर भी हाथको काला करता है ॥ ८१ ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम् ।

अथवा दुर्जन लोगोंका स्वभावही यही है कि—

प्राक्पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८२ ॥

प्रथम चरणपर बैठता है, पीठके मांसको खाता है, कानमें कुछ " गुनगुन "

---

१ " दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् "–समस्त पुस्तकोंमें यही पाठ है। ऐसा पाठ इस श्लोकके अपरार्द्धपर दृष्टि डालनेसे कुछभी संलग्न नहीं होता, कारण कि;–अंगारेकी उष्णता शीतलता ये दोनों जिस प्रकारसे परस्परकी विपरीत अवस्था है, सो दुर्जनकी सख्यता और प्रीति ऐसा विपरीत अवस्था न दिखाकर वरन् एकही अवस्था समझाती है। इस कारण ' सख्यं ' इस पाठके बदले ' वैरं ' यह पाठ दिया। इस श्लोकके शेष चरणमें ' कृष्णायते करम् ' ऐसा पाठ समस्त पुस्तकोंमें है। परन्तु ' कृष्णं करोति ' इस अर्थमें ऐसा पद व्याकरणसम्मत नहीं है। अतएव ' कृष्णायते ' के बदले ' कृष्णयते ' पाठ किया। कारण ' करने ' अर्थमें कृष्णशब्दके उत्तर णिच् होकर धातुसंज्ञा होती है और णिजन्त धातुकी समान उभयपदी हुआ करती है। इस स्थानमें आत्मनेपदमें ' कृष्णयते ' यह रूप हुआ है।

चित्रविचित्र और मधुर वचन धीरे २ बोलता है, छिद्र पाकर उसमें सहसा शंकारहित होकर प्रवेश करता है। इस प्रकारसे सबही खलके चरित्र मच्छर करता है *॥८२॥

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम् ॥८३॥'

दुष्टका प्रियवादी होना विश्वासका कारण नहीं. क्योंकि, उसकी जीभपर मधु रहता है और हृदयमें हालाहल विष ॥ ८३ ॥ '

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशमागच्छन् काकेनावलोकितः। तमालोक्य काकेनोक्तम्—'सखे मृग! त्वमात्मानं मृतवत्संदर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान् स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। यदाऽहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे'। मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन

---

*मच्छर ठीक ठीक खलजनकी चाल चलता है। दुष्टजन अपना मतलब निकालनेके लिये लोगोंके " पैरोंपर गिरता है। मच्छरभी पाँवके ऊपर बैठता है। " " पीठका मांस खाता है " अर्थात् खल पीछे जाकर किसीसे चुगली करता और अनिष्टकी चेष्टा करता है लोगोंकी पीठमें अर्थात् उनके न होनेपर (असाक्षात्में) निन्दा और बुरा करता है। इसलिये खलका एक नाम 'पृष्ठमांसादक' है। मच्छरभी पीठपर ददोरा डालकर रुधिरपान करता है। खल अपनी दुरभिसन्धि सिद्ध करनेके लिये लोगोंके कानोंमें अनेक प्रकार कपटसे भरीहुई मीठी बातें कहता है। मच्छरभी रुधिर पीनेसे पहले 'गुनगुन' शब्द कानके निकट किया करता है। 'छिद्र' अर्थात् सुअवसर पातेही खल लोगोंके मनोंमें अधिकार पाय निर्भय हो उनका अनिष्ट करता है। मच्छरभी 'मशेरी' के किसी स्थानमें जरासा छेद पातेही उसमें निर्भय हो प्रवेश करता है।

तथाविधो मृग आलोकितः । 'आः ! स्वयं मृतोऽसि' इत्युक्त्वा मृगं बन्धनान्मोचयित्वा पाशान् ग्रहीतुं सयत्नो बभूव । ततः कियद्दूरेऽन्तरिते क्षेत्रपतौ स मृगः काकस्य शब्दं श्रुत्वा ससंभ्रमः समुत्थाय पलायितः । तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो व्यापादितः । तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त प्रभात होनेपर कौएने देखा कि, वह खेतका मालिक लाठी हाथमें लिये उस स्थानमें आरहा है । उसको आताहुआ देखकर कौएने कहाः- 'सखे मृग ! तुम पवनसे उदर फुलाय, पाँव अकडाय, अपनेको ठीक मृतककी समान दिखायकर पडे रहो । जब मैं शब्द करूं, तब तुम शीघ्र उठकर भाग जाना ।' मृग कौएके कहनेसे ठीक वैसेही पडा रहा । इसके उपरान्त खेतका स्वामी आनन्दसे आंखोंको विकसाय मृगको ऐसी अवस्थामें देखता भया । मृगको इस प्रकारसे देखकर बोला,-'अहह ! मृग ! तू तो अपने आपही मरगया ।' यह कह मृगको बन्धनसे छोड, जाल समेट लेनेको यत्नवान् हुआ । खेतके स्वामीके कुछ दूर जाते ही वह मृग कौएका शब्द सुन शीघ्र उठकर भागा । खेतके स्वामीने उस मृगको ताककर क्रोधसे लाठी छोडी, उस लाठीको शृगालके शरीरपर पडनेसे शृगालने प्राणत्याग किया । कहा भी है कि-

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८४ ॥

तीन वर्षमें, तीन मासमें, तीन पक्षमें, तीन दिनमें बडे भारी पाप पुण्यका फल मनुष्य इस संसारमेंही भोगता है ॥ ८४ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि-' भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः ' इत्यादि । काकः पुनराह-

इसलिये मैं कहताहूँ कि-'भक्ष्य और भक्षककी जो प्रीति है वह अनर्थका मूल है।' कौएने फिर कहा-

'भक्षितेनापि भवता नाहारो मम पुष्कलः।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवानघ॥ ८५॥

'तुम्हारे भक्षण करनेसे भी मेरा भली भाँति भोजन नहीं हो सकता, हे द्वेष-रहित! मैं चित्रग्रीवकी नाईं तेरे जीनेसे जीता हूं॥ ८५॥

अन्यच्च-

तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम्।
सतां हि साधुशीलत्वात्स्वभावो न निवर्तते॥८६॥

और भी;-पक्षियोंका विश्वास भी देखागया, एक पुण्यकर्म करनेवाले श्रेष्ठोंका स्वभाव साधु शील होनेसे नहीं बदलता॥ ८६॥

किंच-

साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम्।
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया॥८७॥'

और भी-क्रोध करानेपरभी साधुका चित्त विकारको नहीं प्राप्त होता, फूसकी आग समुद्रके जलको नहीं तपा सकती॥ ८७॥'

हिरण्यको ब्रूते-'चपलस्त्वम्। चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्यः। तथा चोक्तम्-

हिरण्यकने कहा,-'तुम चपल स्वभाव हो, चपलके साथ प्रीति करनी उचित नहीं। ऐसा कहा भी है कि,-

मार्जारो महिषो मेषः काकः कापुरुषस्तथा।
विश्वासात्प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नोचितः॥८८॥

बिलाव, भैंसा, मेंढा, काक, कायर पुरुष यह विश्वाससे स्वामिता करते हैं इनपर विश्वास करना उचित नहीं॥ ८८॥

किंचान्यत, शत्रुपक्षो भवानस्माकम् । उक्तं चैतत्-
और देखो;-तुम हमारे शत्रुकी ओरके हो । कहा भी है,-

शत्रुणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ८९ ॥

दृढ संधिवाले शत्रुसे भी मिलाप करना उचित नहीं; कारण कि, बहुत गरम जलभी अग्निको बुझाही देता है ॥ ८९ ॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ? ॥ ९० ॥

विद्यासे भूषित हुआ भी दुर्ज्जन विश्वास करनेके योग्य नहीं है, क्या मणिसे शोभायमान सर्प भयंकर नहीं होता ? ॥ ९० ॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।
नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९१ ॥

जो असाध्य (न होनेके योग्य) है, वह साध्य (होजानेके योग्य) नहीं हो सकता और जो साध्य (होनेके योग्य) है वह असाध्य (होनेके अयोग्य) नहीं हो सकता. क्योंकि, न जलमें छकडा चलता है, न स्थलपर नाव चलती है ॥ ९१ ॥

अपरं च-महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥९२॥'

और भी देखो-जो शत्रुओंपर, विरक्त स्त्रियोंपर, बडा प्रयोजन होनेपर भी विश्वास करता है वह उस विश्वास करनेवालेके जीवनका अन्तही है ॥ ९२ ॥'

लघुपतनको ब्रूते-'श्रुतं मया सर्वम् । तथापि मम चैतावान् सङ्कल्पस्त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीयमिति । नोचेदनाहारेणात्मानं तव द्वारि व्यापादयिष्यामि । तथाहि—

लघुपतनक बोला;–' मैंने सब सुना, तथापि मेरा यह संकल्प है कि, मैं तुमसे अवश्यही मित्रता करूंगा ? यदि यह न होगी, तो मैं तुम्हारे द्वारपर अनाहारसे अपना देह त्याग करूंगा। क्योंकि,—

मृद्घटवत्सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघटवद्दुर्भेद्यश्च सन्धेयः॥ ९३॥

+ मट्टीके घडेकी समान दुर्जन सहजहीसे तोडनेके योग्य होता है और कठिनतासे मिलनेवाला होता है और सज्जन तो सोनेके घडेकी समान कठिनतासे टूटता और शीघ्र सन्धिके योग्य होता है॥ ९३॥

किंच–द्रवत्वात्सर्वलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम्।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां सङ्गतं दर्शनात्सताम्॥९४॥

औरभी,–गलनेहीसे धातुका मेल धातुसे होता है, मृग पक्षियोंका मेल निमित्तके वशसेही होता है, भय या लोभसे मूर्खगणोंका मेल होता है और श्रेष्ठोंका मेल दर्शनसेही होजाता है॥ ९४॥

किंच–नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः॥ ९५॥

औरभी–नारियलके फलकी समान साधुओंका रूप (बाहर चटक नहीं, पर भीतर सार होता है) दिखाई देता है। बेरोंकी समान कुमित्र होते हैं जिनका रूप केवल बाहरसेही मनोहर होता है॥ ९५॥

एतज्ज्ञात्वा सतां सङ्गतिरिष्यते। यतः–

+ मट्टीका बरतन जिस प्रकार शीघ्र टूटजाता है और टूटजानेपर फिर उसमें जोड नहीं लगता; दुर्जनके संगमें मित्रताभी ऐसीही है, क्योंकि यह मित्रता अल्प कारणसेही टूट जाती है और टूटनेपर फिर मिलना दुर्घट है। और सोनेका बर्तन जिस प्रकार सहजसे टूटता नहीं और जो टूटताभी है तो सहजसेही जोडलिया जाता है, सुजनके संगमें मित्रताभी ऐसीही है, यह मित्रता सहजसे नहीं टूटती और जो टूटतीभी है तो सहजहीसे जुडजाती है।

यही समझकर सब कोई साधुसंग प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। कारण,-

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम् ।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥ ९६ ॥

प्रीति टूटजानेपरभी श्रेष्ठोंके गुण विकारको नहीं प्राप्त होते. कारण कि, टूटजानेपरभी * मृणालके सूत उसके संगमें लगे रहते हैं ॥ ९६ ॥

अन्यच्च-शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥९७ ॥

औरभी;-शुद्धचित्त, दाता, सत्यशील, सरल, उदार, अनुरागी, शूर, सुख दुःखमें समान, ये सब मित्रोंके गुण हैं ॥ ९७ ॥

एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत्प्राप्तव्यः' इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिर्निःसृत्याह-' आप्यायितोऽहं भवतामनेन वचनामृतेन । तथा चोक्तम्-

तुम्हारे सिवाय इन सब गुणांसे विभूषित मित्र मैं और कहां पाऊंगा ?' उसके यह वचन सुनकर हिरण्यकने बिलसे बाहर आकर कहा;-' मैं तुम्हारे इस वचनामृतको पान करके पुष्ट हुआ। इस प्रकार कहाभी है कि-

घर्मार्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्यै सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम्॥९८॥

धूपसे सतायेको सुन्दर शीतल जलसे नहाना, तथा मोतीकी माला और प्रतिअंगमें चन्दनका लेप वैसा सुखद न होता है जैसा कि, हर्षके अर्थ पुण्यात्मा जनोंके मनका आकर्षणमन्त्ररूप भली युक्तिसे शोभित सज्जनोंका वचन सुखदाई होता है ॥

* मृणालके सूत अर्थात् उसके भीतरके महीन तार ।

अन्यच्च-रहस्यभेदो याच्ञा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ॥९९॥

औरभी कहा है-कि, भेदका प्रगट करना, मांगना, निष्ठुरता, चित्तकी चंचलता, क्रोध, झूठ बोलना, जुआ खेलना ये मित्रके दूषण हैं ॥ ९९ ॥

अनेन वचनक्रमेण तदेकदूषणमपि त्वयि न लक्ष्यते। यतः-

इन शास्त्रके वचनोंमें जो दोष कहे हैं, उनमेंका एकभी दोष मैं तुम्हारेमें नहीं देखता। कारण-

पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते ॥ १०० ॥

चतुरता, सत्य बोलना कथाके प्रसंगसे जानलियाजाता है, और दर्शनसे नम्रता और धीरता जानी जाती है ॥ १०० ॥

अपरं च-अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०१ ॥

औरभी-शुद्ध चित्तवालोंकी मित्रता औरही भाँतिकी होती है, और शठतासे जिसका चित्तनाश होगया, उसकी वाणी औरही प्रकारसे होती है ॥ १०१ ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्यमन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥१०२॥

दुष्टके मनमें कुछ और, वचनमें कुछ और, कार्यमें कुछ औरही होता है। महात्माके मनमेंभी एक, वचनमेंभी एक और कार्यमें भी एकही होता हैं। (भिन्नरूप नहीं होता) ॥ १०२ ॥

तद्भवतु भवतोऽभिमतमेव' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं संतोष्य विवरं

प्रविष्टः । वायसोऽपि स्वस्थानं गतः । ततः प्रभृति तयोरन्योन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नै-र्विश्रम्भालापैश्च कियान् कालोऽतिवर्तते ।

इसलिये तुम्हाराही मनोरथ पूर्ण हो ' यह कह हिरण्यक मित्रता स्थापन कर उत्तम भोजन करनेकी सामग्रीसे कौएको संतुष्ट कर अपने बिलमें प्रवेश करता भया । काकभी अपने स्थानको चलागया । तबसे उन दोनोंका परस्पर भोजन देते, कुशल सम्भाषण और प्रेमालाप करते इस प्रकारसे कुछ समय बीतगया ।

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह-'सखे ! हिरण्यक ! कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानम् । तदेतत परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि । ' हिरण्यको ब्रूते-'मित्र क्व गन्तव्यम् । तथा चोक्तम्-

एक समय लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा;-' मित्र हिरण्यक ! इस स्थानमें भोजन मिलना कठिन है, इस कारण यह स्थान त्यागकर मैं दूसरे स्थानपर जानेकी इच्छा करताहूं । ' हिरण्यकने कहा;-'मित्र ! कहां जाओगे ? यह कहा है कि,-

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः ।
इति विज्ञाय मतिमान्स्वस्थानं न परित्यजेत॥१०३॥'

स्थान छूट जानेपर दांत, केश, नख और नर शोभित नहीं होते, यह जानकर बुद्धिमानूको अपना स्थान नहीं छोडना चाहिये ॥ १०३ ॥ '

काको ब्रूते-'मित्र ! कापुरुषस्य वचनमेतत । यतः-

कौएने कहा,-' सखे ! यह कायर पुरुषोंकी बात है, क्योंकि-

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः॥१०४॥

सिंह, श्रेष्ठ पुरुष, हाथी ये स्थान छोडकर चले जाते हैं और काक, कायर पुरुष और मृग येही अपने स्थानपर मरते हैं ॥ १०४ ॥

अन्यच्च-

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः॥१०५

औरभी कहा है-क्या देश क्या विदेश ? जिस स्थानमें भी हो उसी स्थानको वीर मनस्वी बाहुबलसे अपने वशमें लाता है। सिंह-नख और डाढोंसे हाथीको विदारण करके उसके रुधिरसे जिस वनमें जाता है वहीं अपनी प्यास बुझाता है॥१०५॥

चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्।
माऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत् ॥१०६॥

बुद्धिमान् एक पांवसे चलता है व एक पांवसे स्थित रहता है, विना दूसरे स्थानके देखे पहला स्थान नहीं छोडना चाहिये ॥ १०६ ॥

अस्ति सुनिरूपितस्थानम्'। हिरण्यकोऽवदत्-'किं तत्'। वायसो ब्रूते-'अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः। तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराभिधानः सहजधार्मिकः प्रतिवसति। यतः-

(कौएने कहा--)मित्र ! एक भलीभांतिसे देखाभाला हुआ स्थान है'। हिरण्यकने कहा;-'वह स्थान कौन है ? '। कौएने कहा-'दंडकारण्यमें कर्पूरगौरनामक एक सरोवर है, वहांपर हमारा बहुत कालका किया हुआ प्रियबन्धु मन्थरनामक एक कच्छप है। वह स्वभावसेही अति धार्मिक है। देखो;-

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ॥ १०७॥

पराये उपदेशमें सब मनुष्योंकी पंडिताई सहज है, आपभी धर्मका अनुष्ठान करना किसी विरलेही महात्मामें होता है ॥ १०७ ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति' । हिरण्यकोऽप्याह–'तत्किमत्रास्थाय मया कर्तव्यम् । यतः–

वह विविध प्रकारकी श्रेष्ठ भक्ष्य सामग्रीसे मेरा प्रतिपालन करेगा ' । हिरण्यकने कहा;–'इस स्थानमेंभी मैं रहकर क्या करूंगा ? क्योंकि;–

यस्मिन्देशे न संमानो न वृत्तिर्न च बान्धवः ।
न च विद्यागमः कश्चित्तं देशं परिवर्जयेत् ॥ १०८ ॥

जिस देशमें न सम्मान है, न आजीविका है, न बन्धुजन है, न कुछ विद्याकी प्राप्ति है उस देशको त्यागदेना चाहिये ॥ १०८ ॥

अपर च–धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥ १०९ ॥

औरभी;–धनी, राजा, नदी, वैद्य, वेदका जाननेवाला ब्राह्मण यह पाँच जहाँ नहीं वहा एक दिनभी वास नहीं करना योग्य है ॥ १०९ ॥

लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥ ११० ॥

मनुष्योंका आना जाना, भय, लज्जा, सरलता, दान जिस स्थानपर यह पांच नहीं उस स्थानपर भी न ठहरै ॥ ११० ॥

तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ॥ १११ ॥

हे मित्र ! वहांपर भी नहीं बसै जहांपर ये चार न हों,–ऋणका देनेवाला, वैद्य और पंडित और जलवाली नदी ॥ १११ ॥

ततो मामपि तत्र नय ' । वायसोऽवदत्–'एवमस्तु' । अथ वायसस्तेन मित्रेण सह विचित्रा-

लापैः सुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ । ततो मन्थरो दूरादवलोक्य लघुपतनकस्य यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषिकस्यातिथिसत्कारं चकार। यतः—

इसलिये मुझेभी वहां लेचल'। कौएने कहा;–'अच्छा तुमभी चलो'। इसके उपरान्त कौआ उस बन्धुके साथ अनेक कथा वार्त्ता कहता परमसुखसे उस सरोवरके निकट गमन करता भया। इसके उपरान्त मन्थर दूरसे लघुपतनकको देखकर उठा और उसकी यथोचित पहुनई करके मूषक (चूहे) काभी अतिथिसत्कार किया। कारण;—

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥११२॥

* द्विजातिका गुरु अग्नि है और सब वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है, स्त्रियोंका गुरु केवल पति है, और सबका गुरु अभ्यागत है ॥ ११२ ॥

वायसोऽवदत्-'सखे मन्थर ! सविशेषपूजामस्मै विधेहि। यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषकराजः । एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनापि सर्पराजो न कदाचित्कथयितुं समर्थः स्यात्' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान्। ततो मन्थरः सादरं हिरण्यकं संपूज्याह–'भद्र ! आत्मनो निर्जन-

---

* ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णोंको द्विजाति कहते हैं. दो बार जन्म होताहै इस कारण इनको 'द्विजाति' कहते हैं। प्रथम माताके गर्भसे जन्म, दूसरा जन्म उपनयनसंस्कारसे। हुताशन अर्थात् अग्नि, इन तीन वर्णोंके पूजनीय गुरु अर्थात् देवता है। इनको प्रतिदिन यथाविधान अग्निकी पूजा अर्थात् होम करना पडताहै।

वनागमनकारणमाख्यातुमर्हसि ' । हिरण्यकोऽवदत् । ' कथयामि श्रूयताम्'-

कौएने कहा;-'मित्र मंथर ! इसका अधिक सम्मान कर. कारण कि, यह पुण्यात्मा लोगोंका अगुआ, दयाका समुद्र चूहोंका राजा है । सर्पराज शेष दो हजार जीभोंसे भी इसके गुण वर्णन नहीं कर सकते हैं इसमें सन्देह नहीं, यह कहकर चित्रग्रीववाला समस्त वृत्तान्त वर्णन किया । इसके पीछे मन्थरने आदर सहित हिरण्यककी पूजा करके कहा-' हे महाशय ! अपने इस निर्जनवनमें आनेका कारण अनुग्रहपूर्वक कहिये ' । हिरण्यकने कहा-कहताहूं सुनो'-

कथा ४.

अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्यां परिव्राजकावसथः । तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति । स च भोजनावशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति । अहं च तदन्नमुत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि । अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः । तेन सह कथाप्रसङ्गावस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत । तद्दृष्ट्वा वीणाकर्ण उवाच-'सखे ! किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान् ?।

चम्पक नगरमें * परिव्राजक लोगोंका एक आश्रम है । वहांपर चूडाकर्ण नामक एक संन्यासी वास करता है । वह भोजनसे वचे हुए भिक्षाके अन्नसहित भिक्षाकी

* जो सर्वकर्मत्यागी, भिक्षाकी जीविका करनेवाले और ब्रह्मनिष्ठ होते हैं जो स्त्री नहीं रखते, हिंसासे अलग रहते, दुःखसुखमें समानभावसे रहकर विकारको प्राप्त नहीं होते, जो बाहर भीतरसे शुद्ध रहते, जो समस्त इन्द्रियोंको वशमें करके-

झोलीको × नागदन्तमें लटकाकर शयन करता था। मैंभी कूद कूदकर प्रतिदिन उस अन्नको खाता था। इसके पीछे एक दिन उसका प्रियबन्धु वीणाकर्णनामक एक संन्यासी वहांपर आया। चूडाकर्ण उसके साथ कथा वार्त्ताके प्रसंगमें रहा, पर वह मुझको भय दिखानेके लिये पुराने बाँसके टुकडेसे पृथ्वीपर प्रहार करने लगा। इसे देखकर वीणाकर्णने कहा—' हे मित्र ! तुम हमारी बातसे विरक्त होकर दूसरीमें आसक्त क्यों होते ?

यतः—मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टिः
कथानुरागो मधुरा च वाणी।
स्नेहोऽधिकः सम्भ्रमदर्शनं च
सदाऽनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म ॥ ११३ ॥

कारण—प्रसन्न मुख, विमल दृष्टि, कथामें अनुराग, मधुरवाणी, स्नेहकी अधिकता, आदरसहित देखना यह सदा अनुरागीजनके लक्षण हैं ॥ ११३ ॥

अतुष्टिदानं कृतपूर्वनाशन-
ममाननं दुश्चरितानुकीर्त्तनम्।
कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृति-
र्विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम् ॥ ११४॥'

असन्तुष्ट होकर दान देना, किये हुए कर्मका हरना, निरादर करना, दोषोंका कहना, कथाके प्रसंगमें नामका भूल जाना यह विरक्तभावयुक्त जनके लक्षण हैं ११४'

—ध्यानयोग किया करते और जिनके चित्तका भाव संपूर्ण निर्मल रहता है, उन्हीं लोगोंको 'परिव्राजक' 'परिव्राट्' अथवा 'संन्यासी' कहते हैं। कहाभी है—
'सर्वारम्भपरित्यागो भैक्ष्याशा ब्रह्ममूलता। निष्परिग्रहताऽद्रोहः समता सर्वजन्तुषु ॥
प्रियाप्रियपरिष्वंगे सुखदुःखाविकारिता। सबाह्याभ्यन्तरं शौचं सुखदुःखाविकारिता ॥
सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणाध्याननित्यता। भावसंशुद्धिरित्येष परिव्राड्वर्य उच्यते ॥'
[गरुडपुराणम्।]

× नागदन्त दिवालके किसी कोनेमें कपडे इत्यादि टांगनेको गाड देते हैं, वह खूंटी होती है, नाग अर्थात् हाथी, उसके दांतकी समान होनेसे खूंटीको नागदन्त कहते हैं।

चूडाकर्णेनोक्तम्-'मित्र ! नाहं विरक्तः । किंतु पश्यायं मूषिको ममापकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति '। वीणाकर्णो नागदन्तकं विलोक्याह-'कथं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतावद्दूरमुत्पतति । तदत्र केनापि कारणेन भवितव्यम् । तथा चोक्तम्-

चूडाकर्णने कहा;-' मित्र ! मैं विरक्त नहीं हूं परन्तु देख ! यह चूहा मेरा बडा अनिष्ट करता है, यह कूद २ कर मेरी झोलीमें रक्खा हुआ भिक्षाका अन्न खाता है'। वीणाकर्णने खूंटीको देखकर कहा,-' यह मूसा तो अति दुर्बल जीव है, यह किस प्रकारसे इतनी दूर कूदता है ? इसलिये इसमें कोई कारण होगा, कहाभी है कि,—

अकस्माद्युवती वृद्धं केशेष्वाकृष्य चुम्बति ।
पतिं निर्दयमालिङ्गय हेतुरत्र भविष्यति ॥ ११५ ॥'

अकस्मात् युवती वृद्ध पतिको केशोंमें आकर्षण करके चूमती है और भली भांति चिपटाती है इसमें कोई कारण होगा ॥ ११५ ॥'

चूडाकर्णः पृच्छति-'कथमेतत'। वीणाकर्णः कथयति-

चूडाकर्णने पूछा;-' यह किस प्रकार ? ' वीणाकर्णने कहा-

कथा ५.

अस्ति गौडीये कौशाम्बी नाम नगरी । तस्यां चन्दनदासनामा वणिङ्महाधनो निवसति । तेन पश्चिमे वयसि वर्तमानेन कामाधिष्ठितचेतसा धनदर्पाल्लीलावतीनामा वणिक्पुत्री परिणीता । सा च मकरकेतोर्विजयवैजयन्तीव यौवनवती

बभूव। स च वृद्धपतिस्तस्याः सन्तोषाय नाभवत्। यतः–

गौडदेशमें कौशाम्बीनाम नगरीहै, वहाँ चन्दनदासनामक अतिधनवान् एक बनियाँ रहता है। उसकी जब वृद्धदशा हुई, तब उस अन्तिम कालमें उसने धनके मदसे अंधे हो लीलावती नामकी एक बनियेकी कन्यासे विवाह किया, क्रमसे लीलावती युवाअवस्थामें पदार्पण करके कामदेवकी विजयपताका समान मनमोहिनी हुई। वह जराग्रस्त पति उसको प्रसन्नताका देनेवाला नहीं हुआ। कारण–

शशिनीव हिमार्तानां घर्मार्तानां रवाविव।
मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रिये पतौ॥ ११६॥

जैसे शीतसे आर्त हुएको चन्द्रमा सुखका देनेवाला नहीं और घाम (धूप) से तपे हुएको सूर्य सुखकर नहीं वैसे जरा अवस्थासे पीडित पतिमें स्त्रियोंका मन नहीं रमता॥ ११६॥

अन्यच्च–पलितेषु हि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता।
भैषज्यमिव मन्यन्ते यदन्यमनसः स्त्रियः॥ ११७॥

और भी–जिसका मस्तक + पलित होगया और दांत गिरगये, वह पुरुष कामिनीको कमनीय (रुचिकर) नहीं होता। उसकी युवती भार्या और में मन लगाती है और अपने पतिको दवाई (औषधि) की समान जानतीहै॥ ११७॥

स च वृद्धपतिस्तस्यामतीवानुरागवान्। यतः–

परन्तु वह वृद्धपति उसको अत्यन्त प्यार करता था। कारण,–

धनाशा जीविताशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा।
वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥ ११८॥

+ जिसका मस्तक अर्थात् मस्तकके सब बाल पलित अर्थात् बुढोत्तरीके कारण सफेद होगये हैं।

धनकी आशा और जीवनकी आशा प्राणधारियोंको सदाही भारी होती है, परन्तु वृद्धको यदि जवान स्त्री मिलजाय तो वह उसको प्राणोंसे भी अधिक प्यारी होती है ॥ ११८ ॥

अपि च-नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयाञ्जरी ।
अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम् ॥११९॥

औरभी-बूढा भोगकी वस्तुओंको न भोगही सकता है और न लालसाके मारे छोडही सकता है, जिस प्रकार दांतहीन कुत्ता हड्डीको पायकर केवल उसको जीभसे चाटाही करता है ॥ ११९ ॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिक्रान्तकुल-मर्यादा केनापि वणिक्पुत्रेण सहानुरागवती बभूव । यतः-

इसके उपरान्त वह लीलावती यौवनके गर्वसे कुलकी मर्यादा लांघकर एक बनियेके पुत्रपर अनुरागवाली हुई । कारण-

+स्वातन्त्र्यं पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे संगति-
र्गोष्ठी पूरुषसंनिधावनियमो वासो विदेशे तथा ।
संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसकृद्वृत्तेर्निजायाः क्षतिः
पत्युर्वार्धकमीर्षितं प्रवसनं नाशस्य हेतुः स्त्रियाः१२०॥

स्वाधीनता, पिताके भवनमें रहना, यात्राके उत्सवमें संगति, पुरुषके समीपमें वार्ता, नियमहीनता, विदेशमें रहना, व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी संगति, जीविकाकी हानि, पतिका बूढा होना, ईर्ष्या करना ये हेतु स्त्रियोंके नाश करनेवाले हैं ॥१२०॥

+ संसारके मध्य सैकडों लालचोंके बीच रहकरभी जो स्त्रियें अपने चरित्रको ठीक रख सकती हैं निम्नलिखित श्लोक उनके सम्बन्धमें नहीं है । तथापि स्त्रीमात्रको रक्षित स्थानमें रहना, सदा कार्यमें चित्त देना और दुष्ट जनोंसे दूर रहना अवश्यही उचित है । नहीं तो चरित्र दूषित होनेकी सम्भावना होजाती है । यही इन नीचे लिखे श्लोकोंका तात्पर्य है ।

अपरं च-पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नश्चान्यगृहे वासो नारीणां दूषणानि षट् ॥१२१॥

और भी-सुरापान, जहां तहां दुःसंगमें घूमना, पतिका विरह, व्यर्थ फिरना, अतिनिद्रा, पराये गृहमें वास करना ये छः स्त्रियोंके दोष हैं ॥ १२१ ॥

किंच-

स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १२२ ॥

औरभी;-हे नारद ! स्थान नहीं, समय नहीं और चाहनेवाला मनुष्य न हो तो स्त्रियोंका सतीभाव होता है ॥ १२२ ॥

अन्यच्च-न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवंनवम् ॥ १२३ ॥

औरभी-असती स्त्रियोंका न कोई प्यारा है और न कुप्यारा है। जैसे गाय वनमें नई नई घास खोजती हैं ऐसेही असती स्त्रियें नये नये पुरुषको चाहती हैं ॥१२३॥

अपरं च-स्त्रियो हि चपला नित्यं देवानामपि विश्रुतम्।
ताश्चापि रक्षिता येषां ते नराः सुखभागिनः॥१२४॥

औरभी-देवतालोगोंमें भी प्रसिद्ध है कि, स्त्रियें नित्य चपल रहती हैं जिसने उनकी रक्षा करली वह मनुष्य सुखका भागी है ॥ १२४ ॥

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥१२५॥

घीके घडेकी समान स्त्री है और गरम अंगारेकी समान पुरुष है, इस कारण घी व अग्निको पंडित एक जगह नहीं रक्खै ॥ १२५ ॥

न लज्जा न विनीतत्वं न दाक्षिण्यं न भीरुता।
प्रार्थनाभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः॥ १२६ ॥

न लाज, न विनीत होना, न संकोच, न भय स्त्रीके सतीत्वका कारण है, केवल एक प्रार्थनाका न होनाही स्त्रीके सतीपनका कारण है ॥ १२६ ॥

अपि च–पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥१२७॥

औरभी;–कारेपनमें पिता रक्षा करता है, युवा अवस्थामें पति और पुत्र बुढापेमें रक्षा करता है. स्त्री कभी स्वतन्त्र रहनेके योग्य नहीं है ॥ १२७ ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ १२८॥

माता, बहिन या बेटीके साथभी बहुत देरतक एकान्तमें न बैठे, ये बलवान् इन्द्रियें बडीही भयंकर हैं, ज्ञानीकोभी पापमें खैंच लेती हैं ॥ १२८ ॥

एकदा सा लीलावती रत्नावलीकिरणकर्बुरे पर्यङ्के तेन वणिक्पुत्रेण सह विश्रम्भालापैः सुखासीना तमलक्षितोपस्थितं पतिमवलोक्य सहसोत्थाय केशेष्वाकृष्य गाढमालिङ्ग्य चुम्बितवती । तेनावसरेण जारश्च पलायितः । उक्तं च–

एक दिन वह लीलावती विविध मणिरत्नकी प्रभासे रंगे हुए पलंगके ऊपर उस बनियेके पुत्रके साथ परम सुखसे बैठकर प्रेमप्रीतिकी बातें कर रही थी कि इतनेमेंही विना जाने वहां अपने पतिको आता हुआ देखकर लीलावती सहसा उठी और पतिके बाल पकड खैंचकर भली भाँतिसे लिपटाय उसको चूम लिया । यह सुअवसर पाय उसका उपपति (यार) भाग गया । कहाभी है कि—

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ।
स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम् ॥१२९॥

शुक्र जिन शास्त्रोंको जानते हैं और बृहस्पतिजी जिन वेदोंको जानते हैं स्वभावसे ही वे सब शास्त्र स्त्रियोंकी बुद्धिमें टिके रहते हैं ॥ १२९ ॥

तदालिङ्गनमवलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टिन्यचिन्तयत्–'अकस्मादियमेनमुपगूढवती' इति । ततस्तया कुट्टिन्या तत्कारणं जारं परिज्ञाय सा लीलावती गुप्तेन दण्डिता । अतोऽहं ब्रवीमि–'अकस्माद्युवती वृद्धम्' इत्यादि । मूषिकबलोपस्तम्भेन केनापि कारणेनात्र भवितव्यम् । क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्–'कारणं चात्र धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति । यतः–

इस लीलावतीके निकटही एक कुटनी थी, वह इस स्त्रीको इस प्रकारसे लिपटती चिपटती देख विचारती हुई,–' इसने जो एकाएकी अपने वृद्ध पतिको ऐसा आलिंगन किया इसका कारण क्या है ? ' पीछे जब उसने जानलिया कि, लीलावतीने अपने मित्र (यार) को छिपानेके अर्थ ही ऐसा किया है तब उस कुटनीने लीलावतीको गुप्तसे दण्ड दिलाया । इसी कारणसे मैं कहताहूं कि–' अकस्मात् युवती स्त्री ' इत्यादि । इसलिये इस चूहेमें ऐसा बल होनेकाभी अवश्यही कोई कारण होगा । एक क्षणभर चिंता करके संन्यासीने कहा,–' धनका बलही इसमें कारण समझ पडता है । क्योंकि,—

धनवान् बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ॥ १३० ॥'

धनवान् सब जगह, सब समय संसारमें बलवान् है. कारण कि, राजालोगोंकी तो प्रभुताका मूल धनही होता है ॥ १३० ॥'

ततः खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा चिरसञ्चितं मम धनं गृहीतम् । ततः प्रभृति निजशक्तिहीनः सत्त्वोत्साहरहितः

स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मन्दंमन्द-मुपसर्पंश्चूडाकर्णेनावलोकितः । ततस्तेनोक्तम्-

फिर उस संन्यासीने कस्सी ले हमारे बिलको खोदकर मेरा बहुत कालका इकट्ठा किया हुआ समस्त धन ग्रहण करलिया. इसके उपरान्त दिन २ मेरे शरी-रका बल घटने लगा, मनमें बल और उत्साह नहीं रहा. यहांतक कि, मैं अपना आहारको इकट्ठा करनेमें असमर्थ हुआ । मैं इस अवस्थामें एक दिन भयसहित धीरे २ जाताथा कि, चूडाकर्णने मुझको देखपाया, तब वह बोला,-

'धनेन बलवान् सर्वो धनाद्भवति पण्डितः ।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥ १३१ ॥

'धनसे ही सब कोई बलवान् होते हैं, धनके ही प्रभावसे पंडित होता है, इस दुष्ट मूषक (चूहे) को देखो कि, यह अपनी जातिके समान फिर क्षीण होगया १३१

किंच-अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥ १३२

और भी-धनरहित होजानेसे ओछी बुद्धिवाले पुरुषोंकी सारी क्रिया नष्ट होजाती हैं जैसे ग्रीष्म कालमें छोटी नदियें ॥ १३२ ॥

अपरं च-

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥ १३३

औरभी-जिसके पास धन है उसकेही मित्र हैं, जिसके पास धन है उसकेही बन्धु बांधव हैं, जिसके पास धन है वही संसारमें पुरुष है और जिसके पास धन है वही पंडित है ॥ १३३ ॥

अन्यच्च-अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता १३४॥

औरभी,-जो पुत्रसे रहित है और श्रेष्ठमित्रसे रहित है उसका घर सूना है ।

मूर्खको सब दिशा सूनी हैं और दरिद्रताको सबही कुछ सूना है (जो दरिद्र है उसको सबही कुछ सूना है) ॥ १३४ ॥

अपरं च-दारिद्र्यान्मरणाद्वापि दारिद्र्यमवरं स्मृतम् ।
अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुस्सहम् ॥ १३५ ॥

और भी,-दरिद्रताकी अपेक्षा (बनिस्वत्) मरनेका क्लेश भला है, क्योंकि मरनेमें थोडासा क्लेश है, परन्तु दरिद्रतामें अति दुस्सह क्लेश है ॥ १३५ ॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥१३६॥'

वेही विना व्याकुल हुई इंद्रियाँ हैं, वही नाम है, वही न रुकनेवाली बुद्धि है, वही वचन है, परन्तु धनकी गरमाईसे रहित वही पुरुष क्षणभरमें औरका और होजाता है, यही विचित्र है ॥ १३६ ॥'

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयाऽऽलोचितम्-' ममात्रावस्थानमयुक्तमिदानीम् । यच्चान्यस्मा एतद् वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम् ।

यह सब वचन सुनकर मैंने विचारा कि,-' अब अधिक इस स्थानमें मेरा रहना ठीक नहीं । और यह वृत्तान्त किसी औरसे भी कहना उचित नहीं ।

यतः-अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥ १३७ ॥

कारण;-धनका नाश, मनका संताप, घरके खोटे चरित्र, ठगाई और मानकी हानि इनको मतिमान् प्रकाश न करै ॥ १३७ ॥

अपि च-आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम् ।
तपो दानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ॥१३८॥

औरभी;-अपनी उमर, धन, घरके दूषण, औषधि, मैथुन, सलाह, तप, दान अपमान ये नौ यत्नसहित छिपाने चाहिये ॥ १३८ ॥

तथा चोक्तम्-

अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे ।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत्कुतः सुखम् ॥१३९॥

औरभी कहा है कि;-जिससे विधाता अत्यन्त विमुख होता है,उसका यत्न और पौरुष व्यर्थ होजाता है । उस मानी दरिद्रीको वनके जानेके सिवाय और कहां सुख है ?॥

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् १४०

औरभी;-बुद्धिमान् मरजाता है परन्तु कृपण होनेकी इच्छा नहीं करता, अग्नि बुझ जाती है, परन्तु शीतलताको नहीं प्राप्त होती ॥ १४० ॥

किंच-कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा ॥ १४१ ॥

औरभी;-फूलोंके गुच्छोंकी समान बुद्धिमान्की दो वृत्तियां होती हैं, या तो सबके शिरपर स्थित रहैं. या वनमेंही मुरझ जांय ॥ १४१ ॥

यच्चात्रैव याच्ञया जीवनं तदतीव गर्हितम् । यतः-

और जो इसी स्थानमें भिक्षा करके जीवन बिताया जाय तो यह भी अत्यन्त नीच कार्य है । कारण—

वरं विभवहीनेन प्राणैः संतर्पितोऽनलः ।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः ॥ १४२ ॥

धनहीन होनेसे प्राणोंको अग्निके समर्पण करदिया जाय वह अच्छा, परन्तु शून्य हृदय कृपणसे प्रार्थना करना भला नहीं ॥ १४२ ॥

अन्यच्च-

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात्परिभ्रश्यते
निस्सत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।

निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिःक्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् १४३॥

औरभी;-दरिद्रता होनेसे मनमें लाज होती है, और लाजको प्राप्त हुआ मनुष्य बलसे छूट जाता है, और निर्बलका अपमान होता है, अपमान होनेसे मनमें धिक्कार उत्पन्न होता है, और धिक्कारसे हृदयमें शोकका उदय होता है, शोकार्त होनेसे बुद्धि छूट जाती है, बुद्धिलोप होनेसे मरण होता है, हा! एक निर्धनताही सब विपत्तियोंका स्थान है ॥ १४३ ॥

किंच-वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम्।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम् १४४॥

औरभी;-मिथ्या वचन कहनेसे वचन न कहनाही श्रेष्ठ है, परस्त्रीगमन करनेसे नपुंसक होना अच्छा है, दुष्टके वचनका विश्वास करनेकी अपेक्षा प्राण छोड देना भी भला है, पराये धनसे सुखभोग करनेकी अपेक्षा (वनिस्वत्) भिक्षा करके खाना श्रेष्ठ है ॥

किंच-वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः।
वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाधिपपुरे
वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥ १४५ ॥

औरभी,-दुष्ट बैल श्रेष्ठ नहीं; बरन् सूनी गोठ श्रेष्ठ है, खोटे चरित्रवाली स्त्रीसे वेश्या भली है, विचाररहित राजाके राज्यमें रहनेसे वनमेंही रहना अच्छा है, नीच लोगोंका समागम करनेसे मरनाभी अच्छा है ॥ १४५ ॥

अपिच-
सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम्।
हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति १४६॥

औरभी;–जैसे पराई सेवा करना सम्पूर्ण मानको, चांदनी अन्धकारको, जरा अवस्था देहके लावण्य (नमकीनी) को, और हरिहरकी कथा पापोंको हरती है ऐसे ही मांगना समस्त गुणोंका नाश करदेता है ॥ १४६ ॥ '

इति विमृश्य ' तत्किमहं परपिण्डेनात्मानं पोषयामि ? कष्टं भोः! तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम् । यतः–

यह सब सोच विचार करके ' मैं क्या फिरभी पराये अन्नसे अपनी आत्माको पोषण करूंगा ? हा कष्ट है ! यह तो दूसरा मृत्युका द्वार है । कारण—

पल्लवग्राहि पाण्डित्यं क्रयक्रीतं च मैथुनम् ।
भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बनाः॥१४७॥

पल्लव लेकर पंडितपन (किसी शास्त्रमें प्रवेश नहीं परन्तु दोचार वाक्य याद करलिये), मोल लिया हुआ मैथुन (जिसमें प्रेमकी गन्धतक नहीं होती) और पराये अधीनमें भोजन करना (जिस भोजनमें अपनेको कुछभी स्वतन्त्रता न हो) ये तीनों केवल पुरुषोंकी विडम्बना हैं ॥ १४७ ॥

अपि च–रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी ।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः१४८॥'

और भी–सदा रोगभोग करनेवाला, सदा परदेशमें रहनेवाला, पराये अन्नका खानेवाला, पराये स्थानमें शयन करनेवाला ऐसा जीता हुआ मृतकतुल्य है और इसका मरण होना यही विश्रामका कारण है ॥ १४८ ॥ '

इत्यालोच्यापि लोभात्पुनरपि तदीयान्नं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम् । तथा चोक्तम्–

मैंने यह सब विचार करभी फिर लोभमें पडके उसके उस भिक्षापात्रमें रक्खे हुए अन्नको ग्रहण करनेकी इच्छा की । इस प्रकार कहाभी है कि–

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ १४९ ॥

लोभसे बुद्धि चलायमान होती है, लोभही तृष्णाको उत्पन्न करता है और तृष्णाका करनेवाला मनुष्य संसार और परलोक दोनोंमें दुःख पाता है ॥ १४९ ॥

ततोऽहं मन्दंमन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जर-वंशखण्डेन ताडितश्चाचिन्तयम्-

इसके उपरान्त वीणाकर्णने उस पुराने बांसके टुकडेसे मुझ मन्द २ चलते हुएको मारा. तब मैंने विचारा,-

'धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम्॥१५०॥

'धनके लोभीको, असन्तोषीको, अस्थिर मनवालेको, अजितेन्द्रियको अर्थात् जिसका मन संतुष्ट नहीं उसको सब आपत्तियां होती हैं ॥ १५० ॥

तथा च-सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥ १५१ ॥

कहा भी है कि,-जिसका हृदय सदाही सन्तोषसे पूर्ण है उसको समस्त सम्प-त्तियां प्राप्त हैं, जिसके पांवमें जूतियें हैं उसको सबही स्थान चर्ममयहै ॥ १५१ ॥

अपरं च-संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १५२ ॥

और भी,-जो सुख संतोषरूप अमृतपान करनेसे तृप्त और शान्तचित्त पुरुषको है, वह सुख इधर उधर दौडते हुए धनके लोभियोंको कहां है ? ॥ १५२ ॥

किंच-तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम्॥१५३॥

औरभी-(जिस पुरुषने विषयवासना दूर करके वैराग्यका अवलंबन किया है।) उसने ही पढा, उसनेही सुना और उसनेही सब कुछ किया, जिसने आशाको पश्चात् रख निराशाका आश्रय लिया ॥ १५३ ॥

अपि च-असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम्।
अनुक्तक्लीबवचनं धन्यं कस्यापि जीवनम्॥१५४॥

औरभी;–जिसने धनवान्‌के द्वारेकी सेवा न की, विरहकी पीरको कभी नहीं देखी, बुरा वचन नहीं कहा; ऐसा जीवन धन्य है ॥ १५४ ॥

यतः–न योजनशतं दूरं बाध्यमानस्य तृष्णया ।
सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नादरः ॥ १५५ ॥

कारण;–उसको सौ योजनभी कुछ दूर नहीं है कि, जिसे तृष्णा ले जाती है और संतुष्टके हाथमें प्राप्त हुए धनका भी आदर नहीं होता ॥ १५५ ॥

तदत्रावस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान् ।

इसलिये अब अपनी अवस्थाके अनुसार कार्यनिर्णय करना ही ठीक है ।

उक्तञ्च–

को धर्मो भूतदया किं सौख्यमरोगिता जगति जन्तोः ।
कः स्नेहः सद्भावः किं पाण्डित्यं परिच्छेदः॥ १५६॥

कहाभी है कि,–धर्म क्या है ? सर्व प्राणियोंपर दया । सुख क्या है ? रोग रहित होना । स्नेह क्या है ?, कपटतारहित । पंडिताई क्या है ? हिताहितका विचार॥१५६

तथा च–परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः ।
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदेपदे ॥ १५७ ॥

औरभी देखो;–जब विपत्ति निकट आई तब विचारही पांडित्य है; अविचार करनेवालोंको पग २ पर विपत्ति घेरती हैं ॥ १५७ ॥

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १५८॥

एकको छोडकर कुलकी रक्षा करै, गाँवके लिये कुलको छोड दे, देशके अर्थ गाँवको तज दे और अपने लिये पृथ्वीकोभी त्याग देना चाहिये ॥ १५८ ॥

अपरं च–पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वाऽऽभयोत्तरम्।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः॥१५९॥

औरभी;—अनायास (विना विपत्तिके) जो केवल जलभी मिलजाय और स्वाद-युक्त भोजनमें अनेक प्रकारके रोग हों तो विचार करके दोनोंको देखे और उसकोही ले कि, जिससे मनमें शान्ति हो ॥ १५९ ॥'

इत्यालोच्याहं निर्जनवनमागतः । यतः-

मैं यही सब विचार कर इस निर्जन वनमें आया हूँ । क्योंकि;—

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं
द्रुमालयं पक्कफलाम्बुभोजनम् ।
तृणानि शय्या परिधानवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥ १६० ॥

व्याघ्र और सिंहसे सेवित वन श्रेष्ठ है, वृक्षोंका स्थान श्रेष्ठ है, पक्क फल खाना और जलका पान करना भला है, तिनकोंकी सेज अच्छी है, वृक्षोंकी छालके वस्त्र उत्तम है; परन्तु बन्धुओंके बीचमें धनहीनका जीवन श्रेष्ठ नहीं ॥ १६० ॥

ततोऽस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्या-ऽनुगृहीतः। अधुना च पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः । यतः-

इसके उपरान्त हमारे बडे भाग्यसे इस बन्धुने हमारेपर स्नेह करके साथ साथ आकर मुझको कृतार्थ किया है । इस समय फिर मेरे भाग्यके ऊपर सौभाग्यका उदय समझना चाहिये कि, मैंने स्वर्गकी समान आपके आश्रयको पाया । कारण,—

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले ।
काव्यामृतरसास्वादः सङ्गमः सुजनैः सह ॥१६१॥

संसाररूप विषवृक्षके दोही रसीले फल हैं, काव्यरूप अमृतरसका स्वाद और सज्जनोंके साथ संग करना ॥ १६१ ॥

अपरं च-सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाम्भसि निमज्जनम् ।
असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत्॥१६२॥

औरभी-साधुलोगोंका संग, नारायणकी भक्ति, विमल गंगाके जलमें सदा स्नान करना इस समस्त असार संसारमें ये तीनही सार विचार किये गये हैं ॥ १६२ ॥

मन्थर उवाच-

'अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्
आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम् ।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते १६३

मन्थरने कहा,-' धन पाँवकी धूलके समान है (धूल पांवसे लगती है और फिर झडजाती है), यौवन पहाडकी नदीके वेगकी समान चंचल है, उमर जलके बुदबुदोंकी समान चपल है, जीवन झागोंकी समान है जो कुबुद्धि स्वर्गके किवाडोंके मूसलको उघाडनेवाला धर्म नहीं करता वह वृद्धावस्थाको प्राप्त हो पश्चात्तापयुक्त शोककी अग्निसे भस्म किया जाताहै ॥ १६३ ॥

युष्माभिरतिसञ्चयः कृतः । तस्यायं दोषः । शृणु-

आपने जो बहुत धन इकट्ठा किया था, उससेही यह इतना अनिष्ट हुआ है। सुनो;-

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसंस्थानां परिवाह इवाम्भसाम् ॥ १६४ ॥

संचय किये हुए धनका त्याग ही रक्षण है (अर्थात् कातरताको दूर कर सुपात्रोंको धन बांट दे), जैसे तालाबके भीतर रहनेवाले पानीका नल है अर्थात् जबतक उस नलसे और खेतोंमें पानी न जायगा तबतक खेतोंमें धान्य कैसे उत्पन्न होगा; जो धन दिया जायगा तभी तो पुण्यका फल प्राप्त होगा ॥ १६४ ॥

अन्यच्च-यदधोधः क्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः ।
तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १६५ ॥

और भी-जो धन लोभीने पृथ्वीके अत्यन्त नीचे गाडा है (मानो) उसने नीचेमें (नरकमें) जानेके लिये प्रथमहीसे अपना मार्ग साफ कर रक्खा है॥ १६५॥

अन्यच्च–निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति।
परार्थभारवाहीव क्लेशस्यैव हि भाजनम् ॥ १६६ ॥

औरभी,--अपने सुखको रोकता हुआ जो धन इकट्ठा करना चाहता है; वह पराये अर्थ बोझा ढोनेकी समान क्लेशहीका पात्र है ॥ १६६ ॥

अपरं च–दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि।
पृथ्वीखातनिखातेन धनेन धनिनो वयम् ॥ १६७ ॥

औरभी कहा है कि;--न जिसका उपभोग है न जिसका दान है, ऐसे धनसे यदि लोग धनी कहलायै जाँय; तब तो इस पृथ्वीके नीचे कहाँ धन नहीं है, और उस धनसे हम लोगभी धनी हैं ॥ १६७ ॥

अन्यच्च–दानभोगविहीनाश्च दिवसा यान्ति यस्य वै।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ १६८ ॥

औरभी देखो,–दान और भोगसे विहीन होकर जिसके दिन बीतते जाते हैं वह लुहारकें भाथेकी समान श्वास लेता हुआ भी मृतकही है ॥ १६८ ॥

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ १६९ ॥

उस धनसे क्या है ? जिसने न दान दिया न भोगा. उस बलसे क्या है ? जिससे शत्रुको बाधा न हुई; बहुत धर्मशास्त्र सुननेसे क्या है ? जब कि, धर्मका आचरण न किया. उस आत्मासे क्या है ? जो जितेन्द्रिय न हुआ ॥ १६९ ॥

असंभोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः।
अस्येदमिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते ॥ १७० ॥

संभोगरहित होनेसे कृपण (कंजूस) का धन पराये (धन) की समान है उसी

औरभी-साधुलोगोंका संग, नारायणकी भक्ति, विमल गंगाके जलमें सदा स्नान करना इस समस्त असार संसारमें ये तीनही सार विचार किये गये हैं ॥ १६२ ॥

मन्थर उवाच-

'अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्
आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम्।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते १६३

मन्थरने कहा,-' धन पाँवकी धूलके समान है (धूल पांवसे लगती है और फिर झडजाती है), यौवन पहाडकी नदीके वेगकी समान चंचल है, उमर जलके बुदबुदोंकी समान चपल है, जीवन झागोंकी समान है जो कुबुद्धि स्वर्गके किवाडोंके मूसलको उघाडनेवाला धर्म नहीं करता वह वृद्धावस्थाको प्राप्त हो पश्चात्तापयुक्त शोककी अग्निसे भस्म किया जाताहै ॥ १६३ ॥

युष्माभिरातिसञ्चयः कृतः। तस्यायं दोषः। शृणु-

आपने जो बहुत धन इकट्ठा किया था, उससेही यह इतना अनिष्ट हुआ है। सुनो;-

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परिवाह इवाम्भसाम् ॥ १६४ ॥

संचय किये हुए धनका त्याग ही रक्षण है (अर्थात् कातरताको दूर कर सुपात्रोंको धन बांट दे), जैसे तालाबके भीतर रहनेवाले पानीका नल है अर्थात् जबतक उस नलसे और खेतोंमें पानी न जायगा तबतक खेतोंमें धान्य कैसे उत्पन्न होगा; जो धन दिया जायगा तभी तो पुण्यका फल प्राप्त होगा ॥ १६४ ॥

अन्यच्च-यदधोधः क्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः।
तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १६५ ॥

और भी-जो धन लोभीने पृथ्वीके अत्यन्त नीचे गाडा है (मानो) उसने नीचेमें (नरकमें) जानेके लिये प्रथमहीसे अपना मार्ग साफ कर रक्खा है॥१६५॥

अन्यच्च–निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति।
परार्थभारवाहीव क्लेशस्यैव हि भाजनम् ॥ १६६ ॥

औरभी,--अपने सुखको रोकता हुआ जो धन इकट्ठा करना चाहता है; वह पराये अर्थ बोझा ढोनेकी समान क्लेशहीका पात्र है ॥ १६६ ॥

अपरं च–दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि।
पृथ्वीखातनिखातेन धनेन धनिनो वयम् ॥ १६७ ॥

औरभी कहा है कि;--न जिसका उपभोग है न जिसका दान है, ऐसे धनसे यदि लोग धनी कहलाये जाँय; तब तो इस पृथ्वीके नीचे कहाँ धन नहीं है, और उस धनसे हम लोगभी धनी हैं ॥ १६७ ॥

अन्यच्च–दानभोगविहीनाश्च दिवसा यान्ति यस्य वै।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ १६८ ॥

औरभी देखो,–दान और भोगसे विहीन होकर जिसके दिन बीतते जाते हैं वह लुहारकें भाथेकी समान श्वास लेता हुआ भी मृतकही है ॥ १६८ ॥

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥१६९॥

उस धनसे क्या है ? जिसने न दान दिया न भोगा. उस बलसे क्या है ? जिससे शत्रुको बाधा न हुई; बहुत धर्मशास्त्र सुननेसे क्या है ? जब कि, धर्मका आचरण न किया. उस आत्मासे क्या है ? जो जितेन्द्रिय न हुआ ॥ १६९ ॥

असंभोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः।
अस्येदमिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते॥१७०॥

संभोगरहित होनेसे कृपण (कंजूस) का धन पराये (धन) की समान है उसी

समय समझा जायगा कि, यह सूमका धन है जब कि, उसके खोजाने पर वह हाहाकार करता है ॥ १७० ॥

न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने ।
कृपणस्य धनं याति वह्नितस्करपार्थिवैः ॥ १७१ ॥

न देवतामें, न विप्रमें, न भाई बन्धुमें, न अपने व्ययमें कंजूस अपने धनको उठाता है, परन्तु कृपणका धन अग्निमें जलजाता, या चोर चुराकर लेजाता अथवा राजा छीन लेता है ॥ १७१ ॥

अन्यच्च-

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥ १७२

और भी-धनकी तीन गति हैं-दान, भोग व नाश, जो न दान देता है, न अपने आप भोगता है. उसके धनकी तीसरी गति (नाश) होती है ॥ १७२ ॥

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ॥ १७३ ॥

प्रिय वचनसहित दान, गर्वरहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता, दानमें लगा हुआ धन यह चार संसारमें दुर्लभ हैं ॥ १७३ ॥

उक्तं च-कर्तव्यः सञ्चयो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चयः ।
पश्य संचयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः॥ १७४॥

कहा भी है कि;-नित्य इकट्ठा करना उचित है, परन्तु अतिसंचय करना कर्त्तव्य नहीं, देखो अतिसंचय करनेवाला यह (एक) शृगाल धनुषसे मारागया ॥ १७४ ॥

तावाहतुः-' कथमेतत् ? '। मन्थरः कथयति-

उन दोनोंने पूछा, ' यह कैसे ? ' मन्थर कहता है;—

कथा ६.

आसीत्कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः। स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यमाणो विन्ध्याटवीं गतवान्। ततस्तेन व्यापादितं मृगमादाय गच्छता घोराकृतिः शूकरो दृष्टः। ततस्तेन व्याधेन मृगं भूमौ निधाय शूकरः शरेणाहतः, शूकरेणापि घनघोरगर्जनं कृत्वा स व्याधो मुष्कदेशे हतः संछिन्नद्रुम इव भूमौ निपपात। यतः—

कल्याणकटक नामक स्थानमें भैरवनामक एक व्याध था, वह एक दिन मांस प्राप्त करनेके लिये धनुष लेकर मृगको ढूंढते विंध्याचलके वनमें गया। वहांपर उसने एक मृग मारा। उस मृगको लेजाते हुए उसने एक भयंकराकार शूकर देखा। तिसके पीछे वह (व्याध) मृगको भूमिपर रख बाणसे उस सूअरको बींधता भया। सूअरनेभी (मरनेके पहिले) मेघकी समान गर्ज्जन करते आयकर उस व्याधके मुष्कदेश (अण्डकोश) विदीर्ण करादिये कि, जिससे व्याध प्राणरहित हो जड कटेहुए वृक्षकी समान भूमिमें गिरपडा। कारण—

जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधिः पतनं गिरेः।
निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्वियुज्यते ॥१७५॥

जल, अग्नि, विष, शस्त्र, क्षुधा, पीडा, पहाडपरसे गिरना, इनमेंसे किसी एक निमित्तको पायकर प्राणी शरीरको छोडता है ॥ १७५ ॥

अथ तयोः पादास्फालनेन सर्पोऽपि मृतः। अथानन्तरं दीर्घरावो नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान् मृतान् मृगव्याधसर्पशूकरानपश्यत।

अचिन्तयच्च-' अहो भाग्यमद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम् । अथवा-

उस व्याध और सूअरके पैरोंकी ताडनासे वहां एक सर्प्पनेभी प्राण छोडा । उस समय दीर्घराव नामक एक शृगाल भोजनकी चेष्टासे उस स्थानमें घूमरहा था, उसने उस मृगके, व्याधके, सर्पके और सूअरके मृतक शरीरको वहांपर देखा और देखकर विचारा-' अहो ! आज हमारा कैसा अच्छा प्रारब्ध है कि, जिसने बहुतही भोजन प्राप्त करदिया । अथवा—

अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम् ।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥ १७६ ॥

जैसे विना सोचे हुए दुःख एकाएकी आकर जीवोंको प्राप्त होते हैं, वैसेही मैं सुखका प्राप्त होनाभी मानता हूं । यहां प्रारब्धही प्रधान है ॥ १७६ ॥

तद्भवतु । एषां मांसैर्मासत्रयं मे सुखेन गमिष्यति ।

वह हो, अब इनके मांससे हमारे तीन मास परम सुखसे कटेंगे ।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगसूकरौ ।
अहिरेकं दिनं याति ह्यद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः ॥ १७७ ॥

मनुष्यके मांससे मेरा एक महीना बीतेगा, दो महीनेको मृग व शूकर बहुत हैं और एक दिन निश्चय सर्पसे चलेगा और आजका भोजन धनुषकी प्रत्यञ्चा है१७७

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डाटनीलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि ' इत्युक्त्वा तथा कृते सति छिन्ने स्नायुबन्धने द्रुतमुत्पातितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि-'कर्तव्यः सञ्चयो नित्यम् ' इत्यादि । तथा च-

इस धनुषके अग्रभागमें जो तांतका डोरा लगा हुआ है यह बहुत स्वादयुक्त नहीं है तो भी पहली भूँखकी चोटसे इसकोही भक्षण करूं ' यह कहकर वह उसे खानेको गया परन्तु उस धनुषका डोरा जैसेही उसने काटा कि, वैसेही धनुषका अग्रभाग अतिजोरसे उछटकर उसके मर्मस्थानमें विंधगया कि, जिससे उस दीर्घ-राव शृगालने प्राण त्याग किया. इसीलिये मैं कहताहूं कि,–' नित्य संचय करना पर अधिक न करै ' कहाभी है कि–

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम् ।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥ १७८ ॥

जो देता है और जो खाता है, वही धनीका धन है, मरे हुएके धन और स्त्रीको लेकर और दूसरे लोग खेल करते हैं * ॥ १७८ ॥

यातु । किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन ? ।

इस समय यह सब गई बातके वर्णन करनेसे क्या है ? ।

यतः–नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥१७९॥

जिससे कि,–श्रेष्ठ बुद्धिवाले जन (पंडित) न मिलने योग्य वस्तुकी इच्छा नहीं करते और नष्टका सोच नहीं करते, आपत्तियोंमेंभी व्याकुल नहीं होते ॥ १७९ ॥

तत्सखे ! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम् । यतः–

इस कारण हे सखे ! कार्यमें सदा ही उत्साहशील रहो । क्योंकि;–

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ १८० ॥

---

* " यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने। तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि " अर्थात् जो धन तुम श्रेष्ठोंको देतेहो और जो तुम दिन प्रति दिन खाते हो उसही धनको मैं तुम्हारा जानताहूं और बाकी तो परायेके लिये इकट्ठा करते हो ।

बहुत शास्त्रोंको जानकरभी विद्वान् नहीं होता, जो कि क्रियावान् पुरुष है वही विद्वान् है, यदि नियमसे सेवन नहीं कियाजाय; तो क्या कहीं सुचिन्तित भी औषधके केवल नामसेही रोग भागता है ? ॥ १८० ॥

अन्यच्च-न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः
करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि ।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि
प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ॥ १८१ ॥

औरभी देखो;-उत्साहसे डरनेवालेको विज्ञानविधि कुछभी गुण नहीं करती । इस लोकमें अन्धेकी हथेलीपर रक्खाहुआ दीपक भी उसको द्रव्य नहीं दिखलाता १८१

तदत्र सखे ! दशाविशेषेण शान्तिः करणीया ।
एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम् । यतः-

सो इस समय हे सखे ! ऐसी कष्टकी अवस्थामें धैर्यही धारण करना उचित है । इस (कष्ट) का अत्यन्त असह्य विचारकर घबडाना उचित नहीं है । कारण—

निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः ।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः ॥ १८२ ॥

जिस प्रकार निपान (कुएँके समीपके छोटे जलाशय) में मेंडक और भरे सरोवरमें पक्षिगण आपसे आप आते हैं, योंही उद्योगी पुरुषके पास सब सम्पत्तियाँ अवश होकर आजाती हैं ॥ १८२ ॥

अन्यच्च-सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा ।
चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥१८३ ॥

औरभी देखो;-सुखके समय सुखका सेवन करै और दुःखके समय दुःखका सेवन करै क्योंकि, यह सुख दुःख चाककी समान घूमा करते हैं ॥ १८३ ॥

अन्यच्च-उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥ १८४ ॥

औरभी–उत्साहसम्पन्न, कार्य करनेमें आलस्यरहित, कार्यकी विधिका जाननेवाला, किसी व्यसनके वश नहीं होनेवाला, शूर, कृतज्ञ, मित्रताईमें दृढ, ऐसोंके यहां लक्ष्मी स्वयं निवास करनेको जाती है ॥ १८४ ॥

विशेषतश्च–विनाप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयाच्चातिविपुलां
धृतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते॥१८५॥

विशेषसेभी–वीर धनहीन होनेपर भी पूजित और उन्नतिको प्राप्त होता है और अतुल धन होनेपरभी कृपण घृणित होता है । कुत्ता यदि सुवर्णका हारभी गलेमें पहरले तोभी सिंहके स्वभावोत्पन्न गुणोंसे बढेहुए धैर्यको वह क्या कभी पा सकता है ? १८५

धनवानिति हि मदो मे किं गतविभवो विषादमुपयामि ।
करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् १८६ ॥

मैं धनवान् हूं यों गर्व और मैं धनरहित हूँ यों विषादको भी क्यों प्राप्त हूं ? क्योंकि गेंदकी समान मनुष्योंके हाथमें धन कभी आता है कभी जाता है ॥१८६॥

अपरं च–अभ्रच्छाया खलप्रीतिर्नवसस्यानि योषितः ।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च १८७

दूसराभी–बादलकी छाया, दुष्टका प्रेम, नये धान्य, स्त्रियां, युवा अवस्था और धन यह वस्तुएँ थोडे काल भोगनेके योग्य होती हैं ॥ १८७ ॥

वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ ॥ १८८ ॥

जीविकाके अर्थ अत्यन्त चेष्टा न करै, क्योंकि वह (जीविका) तो ब्रह्माहीकी बनाई हुई है, प्राणीके गर्भसे बाहर होतेही माताके स्तनोंसे दूध चूने लगता है १८८॥

अपि च सखे-

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १८९ ॥

औरभी मित्र ! जिसने हंस श्वेत किये और तोते हरे किये तथा मयूर (मोर) चित्र विचित्र किये, वह ईश्वर तेरी जीविकाको भी करैगा ॥ १८९ ॥

अपरं च सतां रहस्यं शृणु मित्र !

औरभी साधुओंने (अर्थके विषयमें) जो गूढ वार्ता कही है, उनको भी सखे ! श्रवण करो,—

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु ।
मोहयन्ति च संपत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ॥ १९० ॥

संचय करनेमें दुःख उत्पन्न करता है, विपत्तियोंमें संताप करता है, संपत्तिमें मोहता है, सो ऐसा धन किस प्रकारसे सुखका दाता है ? ॥ १९० ॥

अपरं च-धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १९१ ॥

और दूसरे,-धर्मके अर्थ जिसको धनकी इच्छा है उसको निरिच्छ होना भला है. क्योंकि, कीचके धोनेसे (उसको) दूरसे न छूनाही अच्छा है ॥ १९१ ॥

यतः-यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥१९२॥

कारण-जैसे आकाशमें पक्षियोंसे, पृथ्वीपर व्याघ्रादि पशुओंसे, जलमें नाकोंसे मांस भक्षण कियाजाता है, इसी भांति धनीभी सब जगह खाया जाता है ॥१९२॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ १९३ ॥

राजा, जल, अग्नि, चोर और अपने बन्धुबान्धवोंसेभी नित्य धनवान्को भय रहता है, जैसे प्राणधारियोंको मृत्युसे ॥ १९३ ॥

तथाहि-जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम्।
इच्छासंपद्यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते॥१९४॥

देखो-बहुत क्लेशयुक्त इस जन्ममें इससे अधिक और क्या दुःख होगा? कि;-इच्छानुसार सम्पद् नहीं मिलती और उस इच्छाकी निवृत्ति भी नहीं होती १९४॥

अन्यच्च भ्रातः! शृणु-
धनं तावन्न सुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत्॥१९५

भाई! और भी श्रवण कर,-एक तो धन सुलभ नहीं और प्राप्त किया हुआ धन कठिनतासे रक्षा किया जाता है और प्राप्त किये हुए धनका नाश होना मृत्युके समान है, इस कारण इसकी चिन्ता न करै॥ १९५॥

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम्१९६

इस संसारमें तृष्णाको छोडकर कौन दरिद्र है और कौन धनी है? और जो उसको फैलाव दिया तो दासपन शिरपर स्थित है *॥ १९६॥

अपरं च-यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते॥१९७

---

* अर्थात् जिसको धनकी तृष्णा नहीं है वह पुरुष स्वाधीनतामें राजासेभी बडा है इसलिये कहावत हैं कि-"निस्पृहस्य तृणं जगत्"-जो स्पृहारहित है वह जगत्को तिनुका समझता है। औरभी कहावत है कि-"सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्" जगत्की सब वस्तुओंमेंही भय है, केवल वैराग्यमेंही भय नहीं है। और जो पुरुष विषयतृष्णाको आसरा देता है वह पुरुष दासताके बोझेको माथेपर धरता है अर्थात् उसमें स्वाधीनता नाममात्रकी नहीं रहती।

औरभी;–ज्यों + ज्यों इच्छा करता है, त्यों त्यों इच्छा होती ही जाती है, वह धन प्राप्त ही है जिससे वाञ्छा निवृत्त हो ॥ १९७ ॥

किं बहुना मम पक्षपातेन । मयैव सहात्र कालो नीयताम् । यतः–

और अधिक क्या कहूं, ? आओ हम सब मिलकर इस स्थानमें परम प्रणयालापसे समय वितावें । कारण,–

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् १९८'

मरनेके अन्ततक प्रीति और क्रोध उसी क्षणमें नष्ट होनेवाला, स्वलाभरहित दान ये बातें महात्माओंमेंही होती हैं ॥ १९८ ॥'

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते–'धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथाऽऽश्रयणीयोऽसि । यतः–

यह सुनकर लघुपतनकने कहा,–' मन्थर ! तुमही धन्य हो ! हरएक प्रकारसे सदाही तुम्हारा आश्रय लेना उचित है ! कारण,–

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ १९९ ॥

साधुकी विपद्का भय साधुही निवारण करते हैं, कीचमें फँसे हुए हाथीको हाथी ही निकालते हैं ॥ १९९ ॥

+ अर्थात् मनुष्य जबतक " यह चाहिये " " वह चाहिये " ऐसा करता रहता है, तबतक उसकी कामना बढती है । और जिससे इच्छा निवृत्त हुई मानो वह पदार्थ प्राप्तही है ।

और–नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥

अर्थात् विद्याकी समान नेत्र नहीं है, सत्यकी समान तप नहीं है, रागकी समान दुःख नहीं है और त्यागकी समान सुख नहीं है ।

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः। अलिरेति वनात्कमलं न हि भेकस्त्वेकवासोऽपि ॥ २०० ॥

गुणका जाननेवालाही गुणीके संगमें सुख पाता है, निर्गुणी उस रसको प्यार नहीं करता, भौंरे अतिदूरसे आनकर सरोवरपर कमलका मधु पान करतेहैं और मेंडक वहां सदा रहतेहैं तोभी मधुके मिठासको नहीं जानते ॥ २०० ॥

अपरं च–श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥ २०१ ॥'

और देखो,–पृथ्वीपर मनुष्योंमें वही बडाई करनेके योग्य है और वही उत्तम सत्पुरुष धन्य है जिसके यहांसे याचक और शरणागत निराश होकर विमुख नहीं जाते॥'

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्ति।

इस प्रकारसे वे सब इच्छापूर्वक आहार विहार करते हुए सन्तुष्टचित्त और परम सुखसे वहां वास करने लगे।

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य मिलितः। ततः पश्चादायान्तं भयहेतुं संचिन्त्य मन्थरो जलं प्रविष्टः, मूषिकश्च विवरं गतः। काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः। ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचितम्। पश्चात् तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः। मन्थरेणो-

क्रम्-' भद्र मृग ! स्वागतम् ? स्वेच्छयोदकाद्याहारोऽनुभूयताम्, अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम् '। चित्राङ्गो ब्रूते-' लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतः ।

इसके उपरान्त एक दिन चित्रांगनामक एक मृग किसीसे भय पाय उस स्थानमें आयकर प्राप्त हुआ । अवश्यही उस मृगके पीछे कोई भयका कारण होगा, इसी शंकासे मन्थर जलमें व चूहेने भट्टकमें प्रवेश किया और कौआ उडकर वृक्षपर बैठगया । तिसके उपरान्त लघुपतनकने बहुत दूरतक देखकर कोई भयका कारण नहीं है ऐसा जाना । इसके उपरान्त फिर वे सब एकत्र हो उसी स्थानपर आयकर बैठगये. मन्थरने पूछा,-' भद्र मृग ! आपका मंगल तो है ? इस स्थानमें इच्छानुसार भोजन पान कीजिये, यहां विराजकर इस वनको कृतार्थ कीजिये '। चित्रांगने कहा-' मैं व्याधके भयसे भीत होकर आपकी शरणमें आयाहूं ।

लोभाद्वापि भयाद्वापि यस्त्यजेच्छरणागतम् ।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ २०२ ॥

लोभसे, भयसे या और किसी कारणसे जो शरणागतको छोडता है, उसको ब्रह्महत्याका महापाप होता है ऐसा पंडित जन कहते हैं ॥ २०२ ॥

भवद्भिः सह सख्यमिच्छामि '। हिरण्यकोऽवदत्-' मित्रत्वं तावदस्माभिः सहायत्नेनैव निष्पन्नं भवतः ।

मैं आप सब जनोंके संगमें मित्रता करना चाहताहूं '। हिरण्यकने कहा,-' हम लोगोंके संगमें आपकी मित्रता तो विनाही यत्न होगई ।

यतः-औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमागतम् ।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ २०३ ॥

कारणः,-स्वदेहज (जिसके संगमें रुधिर और वीर्यका संबंध है), स्वभावज, अकृत्रिम, कुलक्रमागत (पुरुषोंने पुरुषोंसे जिसके साथ मित्रता चली आई हो)

और विपद्रक्षित (विपद्में रक्षा करनेसे जिनके साथ मित्रता होती है) ऐसे चार प्रकारके मित्र जानने चाहिये ॥ २०३ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषं स्थीयताम्' तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा स्वेच्छाहारं कृत्वा पानीयं पीत्वा जलासन्नवटतरुच्छायायामुपविष्टः। यतः–

इसलिये आप इस स्थानमें वास कीजिये, इस स्थानको आप अपनाही जाने।' यह सुनकर मृग परम आनन्दित हुआ और इच्छानुसार भोजन पान करके जलाशयके निकटवाले बडके पेडकी छायामें बैठ गया। कारण;–

कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टकागृहम्।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥२०४॥

कुएका जल, बडके पेडकी छाया, श्यामा*स्त्री और ईटोंका बना हुआ घर, ये चारों शीतकालमें गरम और ग्रीष्मकालमें शीत होते हैं॥ २०४॥

अथ मन्थरेणोक्तम्–' सखे ! मृग ! एतस्मिन्निर्जने वने केन त्रासितोऽसि। कदाचित्किं व्याधाः संचरन्ति ?'। मृगेणोक्तम्–' अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नरपतिः। स च दिग्विजयव्यापारक्रमेणागत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावासितकटको वर्तते। प्रातश्च तेनात्रागत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्यमिति व्याधानां मुखात् किंवदन्ती श्रूयते, तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथावसरकार्यमारभ्यताम्' तच्छ्रुत्वा

---

* जिसका शरीर शीतमें उष्ण और ग्रीष्ममें शीतल रहे, तपाये हुए सुवर्णकी समान उज्ज्वल हो उस पूर्णयौवना सोलहवर्षवाली सुन्दरीको श्यामा कहते हैं।

कूर्मः सभयमाह–' मित्र ! जलाशयान्तरं गच्छामि '। काकमृगावप्युक्तवन्तौ–'एवमस्तु'। ततो हिरण्यको विहस्याह–'जलाशयान्तरे प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम्। स्थले गच्छतः कः प्रतीकारः ? यतः—

इसके उपरान्त मन्थरने पूछा–' सखे ! मृग ! तुमने किस कारणसे भय पाया है? इस निर्जन वनमें क्या व्याध लोगोंकी गति है ? '। मृगने कहा–' कलिंग देशमें रुक्मांगद नाम एक राजा है । वह दिग्विजय करता हुआ आकर चन्द्रभागा नदीके तीरमें डेरे डालकर पडा हुआ है । प्रातःकालको वह राजा इस कर्पूर सरोवरके निकट आवेगा। व्याध लोगोंके मुखसे मैंने ऐसा जनरव (अफवाह)सुना है । इसलिये प्रातःकालको हमारा इस स्थानमें रहनाभी शंकाका हेतु है, यह विचारकर जैसा करना हो वैसा करो ' । यह सुनकर कछुएने भीत होकर कहा–' मित्र ! मैं तलावके अन्दर जाताहूं ' । काक और मृगने कहा,–' मित्र ! यही उत्तम परामर्श है' । हिरण्यकने यह सुन चिन्ता करके कहा–' जलाशमें भीतर जानेसे मन्थरकी कुशल है; परन्तु इस पृथ्वीपर चलनेवालेका क्या उपाय है ? कारण,–

**अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम् ।
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां सैन्यं परं बलम्॥२०५॥**

जलही जलजन्तुओंका आश्रय है, दुर्गके रहनेवालोंके लिये दुर्गही अभय है, श्वापद (व्याघ्र) आदिकोंको अपनी भूमि और राजाको सेनाका बडा बल है२०५

सखे लघुपतनक ! अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम् ।

'मित्र लघुपतनक ! इस उपदेशसे वैसाही हो ।

**स्वयं वीक्ष्य यथा वध्वाः पीडितं कुचकुड्मलम् ।
वणिक्पुत्रोऽभवद्दुःखी त्वं तथैव भविष्यसि ॥२०६॥'**

एक बनियेका पुत्र अपनी स्त्रीको अपनी आंखोंसे औरके द्वारा भोगी हुई देखकर जिस प्रकारसे पछताया था;–तुमकोभी वैसा ही होना है ॥ २०६ ॥ '

त ऊचुः-'कथमेतत् ?'। हिरण्यकः कथयति-

उन्होंने पूछा,-' वह किस प्रकार ? ' । हिरण्यक बोला,-

कथा ७.

अस्ति कान्यकुब्जविषये वीरसेनो नाम राजा । तेन वीरपुरनाम्नि नगरे तुङ्गबलो नाम राजपुत्रो भोगपतिः कृतः । स च महाधनस्तरुण एकदा स्वनगरे भ्राम्यन्नतिप्रौढयौवनां लावण्यवतीं नाम वणिक्पुत्रवधूमालोकयामास । ततः स्वहर्म्यं गत्वा स्मराकुलितमतिस्तस्याः कृते दूतीं प्रेषितवान् । यतः-

कान्यकुब्ज देशमें वीरसेननामक एक राजा है । उसने तुङ्गबलनामक राजपुत्रको वीरपुरनामक नगरमें युवराज पदपर स्थापित किया । वह राजपुत्र अति समृद्धि शाली और युवा पुरुष था एक दिन अपने नगरमें घूमते २ लावण्यवती नामक एक पूर्णयौवना बनियेके पुत्रकी स्त्रीको देखा । इसको देखकर कामसे विह्वलचित्त हुआ और अपने घरमें जायकर उसने उस स्त्रीके निकट दूतीको भेजा । कारण,—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव । भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥ २०७ ॥

तभीतक मनुष्य श्रेष्ठ मार्गमें स्थित रहता है, तभीतक इन्द्रियोंका स्वामी होता है और तबहीतक लाज रखता है, तभीतक विनयका अवलंबन करता है जबतक कि, सुन्दरियोंकी भृकुटियोंके धनुषसे खैंचकर छोडे हुए कानके मार्गको गये हुए धीरजके हरनेवाले ये नीले पलकरूप दृष्टिबाण हृदयमें नहीं लगते हैं ॥ २०७ ॥

साऽपि लावण्यवती तदवलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहारजर्जरितहृदया तदेकचित्ताऽभवत् । तथा ह्युक्तम्-

इस ओर वह लावण्यवती राजपुत्रको देखते ही कामबाणसे जर्जरितहृदय हो उसके प्रति अत्यन्त अनुरागिणी हुई । कहाभी है कि,-

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता ।
निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ २०८॥

असत्य, साहस, माया, लोभ, ईर्ष्या, निर्गुणता, अपवित्रता ये स्त्रियोंके स्वाभाविक दोष हैं * ॥ २०८ ॥

अथ दूतीवचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच-'अहं पतिव्रता परपुरुषस्पर्शमात्रमपि न करोमि । यतः-

इसके उपरान्त दूतीके वचन सुनकर लावण्यवतीने कहा-' मैं पतिव्रता पराये पुरुषको छूतीभी नहीं । कारण,—

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥२०९

वही भार्या है जो गृह (कार्य) में चतुर है, वही भार्या है जो संतानवाली है, वही भार्या है जिसका पति प्राणरूप है और वही भार्या है जो पतिव्रता है॥२०९॥

कोकिलानां स्वरो रूपं नारीरूपं पतिव्रतम् ।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥ २१० ॥

कोकिलका स्वरही रूप है, नारीका रूप पातिव्रत्य है, कुरूपियोंका विद्याही रूप है और तपस्वियोंका क्षमाही रूप है ॥ २१० ॥

अन्यच्च-न सा भार्येति वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां सन्तुष्टाः सर्वदेवताः ॥२११॥

* यह अशिक्षिता व अरक्षिता नारीके ऊपर लग सकता है । स्त्रियोंके अशिक्षित रहने और विलाससुखके बढनेपर ये सब दोष उत्पन्न होजाते हैं ।

औरभी;–जिस नारीका पति प्रसन्न न हो उसे भार्या न कहना चाहिये । एक पतिके प्रसन्न होनेसे स्त्रियोंके सब देवता प्रसन्न होजाते हैं ॥ २११ ॥

ततो यद्यदादिशति मे प्राणेश्वरस्तदेवाहमविचारितं करोमि'। दूत्योक्तम्–'सत्यमेतत्?'। लावण्यवत्युवाच–' ध्रुवं सत्यमेतत् '। ततो दूतिकया गत्वा तत्सर्वं तुङ्गबलस्याग्रे निवेदितम्। तच्छ्रुत्वा तुङ्गबलोऽवदत्–' विषमेषुणा व्रणितहृदयस्तां विना कथमहं जीविष्यामि'। कुट्टिन्याह–'स्वामिनाऽऽनीय समर्पयितव्येति'। स प्राह–'कथमेतच्छक्यम्?।'कुट्टिन्याह–'उपायः क्रियताम्। तथा चोक्तम्–

इसी कारणसे हमारे प्राणपति जब हमको जो आज्ञा देते हैं, उसको हम विना भला बुरा सोचे हुए तुर्त पालन करती हैं '। दूतीने पूछा–' क्या तुम सत्यही ऐसा करती हो ?' । लावण्यवतीने कहा;–' मैं यथार्थमेंही ऐसा करती हूं ' । इसके उपरान्त वहांसे चली गई, और तुङ्गबलके समीप जाकर सब वृत्तांत कहती भयी । उसको सुनकर तुंगबलने कहा;–' कामबाणसे हमारे मर्मस्थान विदीर्ण होते हैं, उसको विना पाये हम कैसे प्राण धारण करेंगे ?' । दूतीने कहा;–' उसका स्वामीही उसको लाकर आपके हाथमें समर्पण करेगा ' । राजकुमारने पूछा;–' यह कैसे होगा ? ' । दूतीने कहा;–' उपाय कियाजाय । कहाभी है कि;–

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना ॥२१२॥'

जो उपायसे होसकता है वह पराक्रमसे नहीं होसकता, कीचडके मार्गसे जाते हुए हाथीको शृगालने मारा ॥ २१२ ॥ '

राजपुत्रः पृच्छति–'कथमेतत् ? '। सा कथयति–

राजपुत्रने पूछा;–' यह कैसे ? ' । उसने कहा;–

कथा ८.

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती। तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म–'यद्ययं केनाप्युपायेन म्रियते तदाऽस्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य स्वेच्छाभोजनं भवेत्'। ततः तत्रैकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञा कृता–'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साधयितव्यम्'। अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच–'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु।' हस्ती ब्रूते–'कस्त्वम्। कुतः समायातः?'। सोऽवदत्–'जम्बुकोऽहम्। सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः। यद्विना राज्ञाऽवस्थानं न युक्तं तदत्राटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः। यतः–

ब्रह्मारण्यमें कर्पूरतिलकनामक एक हाथी था। उसको देख सब शृगालोंने यह विचार किया कि 'इस हाथीको जो किसी प्रकारसे मार लिया जाय तो इसकी देहके मांससे चौमासेका भोजन भली भाँतिसे चलै।' इसके उपरान्त उनमेंसे एक वृद्ध शृगालने यह प्रतिज्ञा की कि–'मैं बुद्धिकी चतुरतासे इसको मारडालूंगा'। इसके उपरान्त वह धूर्त शृगाल कर्पूरतिलक हस्तीके निकट जाय उसको साष्टांग प्रणाम कर कहने लगा:–'महाराज! इस ओर एकवार कृपादृष्टि कीजिये'। हाथीने कहा;–'तुम कौन हो? कहांसे आये हो?'। उसने कहा,–'मैं शृगाल हूं वनके समस्त पशुगणोंने मिलकर हमको आपके निकट भेजा है। विना राजाके हमारा इस स्थानमें रहना उचित नहीं है, इसलिये आपको समस्त राजगुणोंसे विभूषित देखकर हमलोग आपकोही इस वनके राज्यपर अभिषिक्त करेंगे ऐसा हमने स्थिर किया है। क्योंकि—

यः कुलाभिजनाचारैरतिशुद्धः प्रतापवान्।
धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि २१३

लोकाचारमें, कुलाचारमें जो विशुद्ध निर्मल है, धार्मिक, प्रतापवान् और नीतिकुशल है, वह पृथ्वीपर राजा होनेके योग्य है॥ २१३॥

अपरं च पश्य-

राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम् २१४

औरभी देखो—पहले राजाको प्राप्त करे, फिर भार्याको, फिर धनको (क्योंकि) इस लोकमें राजाके न होनेसे कहां स्त्री है और कहां धन है ? ॥ २१४॥

अन्यच्च—पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ॥२१५॥

औरभी—राजा मेघकी समान लोगोंका आधार है (जो कि छाया देकर सन्तापके भयको दूर करता है और पानी वरसाकर जगत्की रक्षा करता है), मेघके न बरसनेसे जिया जाता है, परन्तु राजाके न होनेसे नहीं जिया जाता॥ २१५॥

नियतविषयवर्त्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति॥ २१६॥

सबही दण्ड पानेके भयसे धर्ममार्गपर चलते हैं (नहीं तो) इस परवश जगत्में समीचीन आचरण करनेवाला दुर्लभ है। कुलकी स्त्री दंडके भयसे दुर्बल, व्याकुल, रोगी अथवा निर्द्धन पतिको भी अंगीकार करती है॥ २१६॥

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वर-
मागम्यतां देवेन' इत्युक्त्वोत्थाय चालितः।
ततोऽसौ राज्यलोभाकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगाल-

दर्शितवर्त्मना धावन्महापङ्के निमग्नः । हस्तिनोक्तम्-'सखे शृगाल ! किमधुना विधेयम् । महापङ्के निपतितोऽहं म्रिये । परावृत्त्य पश्य' । शृगालेन विहस्योक्तम्-'देव ! मम पुच्छकाग्रावलम्बनं कृत्वोत्तिष्ठ । यन्मद्विधस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनुभूयतामशरणं दुःखम् । तथा चोक्तम्-

इसलिये अभिषेककी शुभ लग्न जबतक न निकल जाय तिससे पहलेही आप अतिशीघ्रतापूर्वक चले आवें ' । बस, यही कहकर वह चला । इसके उपरान्त कर्पूरतिलक राज्यके लोभसे खिंचकर शृगालके दिखायेहुए मार्गमें जैसेही दौडा कि वैसेही तरनेके अयोग्य कठिन कीचडमें फँसगया । हस्तीने कहा;-' सखे शृगाल ! अब क्या करूं ? बडी कीचडमें पडाहूं, मरा जाताहूं, एकबार फिरकर देख' । शृगालने हंसकर कहा-'स्वामिन् ! मेरी पूछका आगा धरके उठिये, आपने जो मुझ ऐसेकी बातका विश्वास किया था, यह उसकाही दुःखरूप फल भोगो । कहाभी है कि;-

यदा सत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि ।
तदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ २१७ ॥'

जब सत्संगसे रहित होगे, तब दुर्जनोंकी संगतिमें पडोगे ॥ २१७ ॥'

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः । अतोऽहं ब्रवीमि-'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि ॥ ततः कुट्टिन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं वणिक्पुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार । ततोऽसौ तेन सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः ।

तिसके पीछे शृगालोंने उस महाकीचडमें फँसे हुए हाथीको भक्षण करलिया इसीलिये मैं कहती हूं कि-' बुद्धिकी चतुरतासे जो कुछ होता है वह बलके प्रयोगसे नहीं होता ' । इसके पीछे उस राजपुत्रने दूतीके उपदेशसे चारुदत्तनामक उस

बनियेके पुत्रको अपना सेवक बनाया। धीरे २ उस राजपुत्रने उस बनियेके पुत्रको अपने समस्त विश्वासके कार्योंका भार दे दिया।

एकदा कुट्टिन्युपदेशेन तेन राजपुत्रेण स्नातानुलिप्तेन कनकरत्नालंकारधारिणा प्रोक्तम्–'चारुदत्त! मया मासमेकं गौरीव्रतं कर्तव्यम्। तदद्यारभ्य प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतीमानीय समर्पय, सा मया यथोचितेन विधिना पूजयितव्या।' ततः स चारुदत्तस्तथाविधां नवयुवतीमानीय समर्पयति। पश्चात्प्रच्छन्नः सन् किमयं करोतीति निरूपयति। स च तुङ्गबलस्तां युवतीमस्पृशन्नेव दूराद्वस्त्रालंकारगन्धचन्दनैः संपूज्य रक्षकं दत्त्वा तत्क्षणमेव प्रस्थापयति।

एक समय दूतीके उपदेशसे उस राजपुत्रने स्नान करके सब अंगोंमें चन्दनादि लगाय और रत्न सुवर्णके गहने धारण कर बनियेके पुत्रसे कहा;–' चारुदत्त! एक मास हमको गौरीव्रत * पालन करना होगा। इसालिये आजसे एक मासतक प्रत्येक रात्रिमें एक एक अच्छे कुलकी उत्पन्न हुई युवतीको यहां लाया करो। हम उनका शास्त्रानुसार यथोचित पूजा करके बिदा करेंगे।' इसके उपरान्त चारुदत्त एक एक श्रेष्ठ कुलवाली युवावस्थावली स्त्रीको राजपुत्रके पास लानेलगा। तिसके पीछे राजपुत्र इस युवतीको लेकर क्या करतेहैं, यह बनियेका पुत्र इसको गुप्तभावसे देखने लगा।

---

* गौरीव्रत–यह व्रत तृतीया कल्पमें आरम्भ होता है। शक्तिरूपा कुलांगनाकी पूजासे आदिशक्ति भगवती गौरीकी प्रसन्नता प्राप्त करनाही इस व्रतका उद्देश्य है। रूपयौवनसम्पन्ना शीलसौभाग्यशालिनी कुलनारीको इष्ट देवी समझकर भक्तिभाव और षोडशोपचारसे रात्रिके समय एकान्तमें पूजा करनी होती है। पूजा समाप्त होनेपर उसको भोजन कराके बडे २ मोलके वस्त्राभूषण इत्यादि देकर बिदा किया जाता है। साधक स्त्रीको आदिशक्ति भगवतीकी प्रतिनिधि करके पूजा करै, उनको–

राजपुत्र स्त्रीको स्पर्शभी न करके दूरसेही वस्त्र, आभूषण और पुष्प चन्दनादिसे उसकी पूजा करते और पूजा समाप्त होतेही उसके संगमें रक्षक देकर उसी क्षण उसको उसके गृहपर भिजवा देते हैं.

अथ तेन वणिक्पुत्रेण तद् दृष्ट्वोपजातविश्वासेन लोभाकृष्टमनसा स्ववधूर्लावण्यवती समानीय समर्पिता। स च तुङ्गबलस्तां हृदयप्रियां लावण्यवतीं विज्ञाय ससंभ्रममुत्थाय निर्भरमालिङ्ग्यानन्दनिमीलिताक्षः प्रहृष्टमना बहुविधामनङ्गक्रीडां विधाय पर्यङ्के तया सह सुष्वाप। तदालोक्य वणिक्पुत्रश्चित्रलिखित इवेतिकर्तव्यतामूढः परं विषादमुपगतः। अतोऽहं ब्रवीमि-'स्वयं वीक्ष्य' इत्यादि। तथा त्वयाऽपि भवितव्यम् इति।

पश्चात् यह देखकर उस राजपुत्रके ऊपर उस बनियेके पुत्रको सम्पूर्ण विश्वास होगया। वस्त्राभूषणके लोभसे खिंचकर एक रात इसने अपनी स्त्री लावण्यवतीको लायकर समपर्ण किया। वह राजकुमारभी उस हृदयप्रिया लावण्यवतीको पहँचान संभ्रमसे उसे भली भाँति लिपटाय आनन्दसे नेत्र बन्द कर लेताभया.और पुलकित हृदयसे अनेक प्रकारकी अनंगक्रीडा करके उसके साथ पलंगपर शयन किया। यह देखकर वह बनियेका पुत्र अपनी करतूतसे मूढ हो चित्रपुतलीकी समान खडा रहगया, और विषम पश्चात्तापमें भस्म होने लगा। इसीलिये मैं कहता हूं-' स्वयं वीक्ष्य ' इत्यादि, पीछेसे तुमलोगोंको वैसेही पछताना पडैगा।

तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव तं जलाशयमुत्सृज्य मन्थरश्चलितः। तेऽपि

—साक्षात् भगवतीही समझे और पूर्वापर उनके प्रति वैसीही भक्ति रक्खें। साधकके मनमें किंचित् विकार उत्पन्न होनेसेही व्रत खण्डित हो जाता है और उसको नरकगामी होना पडता है।

हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शङ्कमाना मन्थरमनुगच्छन्ति । ततः स्थले गच्छन् केनापि व्याधेन काननं पर्यटता स मन्थरः प्राप्तः । प्राप्य तं गृहीत्वोत्थाप्य धनुषि बद्ध्वा धन्योऽस्मीत्यभिधाय भ्रमन् क्लेशात क्षुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं चलितः । अथ तं मृगवायसमूषकाः परं विषादं गच्छन्तस्तमनुजग्मुः । ततो हिरण्यको विलपति–

परन्तु मन्थर उसके हितकारी वचन न सुनकर अत्यन्त भयके मारे हतज्ञान हो उस जलाशयको छोडकर गमन करने लगा । वे हिरण्यक आदि बन्धुगणभी स्नेहप्रयुक्त अनिष्टकी आशंका करते उसके पीछे २ चले । वह मन्थर स्थलमार्गमें जा रहाथा कि, इतनेमें एक व्याधने वनमें घूमते २ उसको देखा । उसने कछुएको पृथ्वीपरसे उठाय धनुषसे बांधकर कहा,–'अहो! मेरा परिश्रम सफल हुआ' यह कहकर भूंख प्यासके क्लेशसे व्याकुल भ्रमण करता वह अपने गृहकी ओर प्रस्थान करता भया । उसके उपरान्त वे मृग, काक और चूहा शोकसागरमें डूबकर उस व्याधके पीछे २ चले, तिसके पीछे हिरण्यक यह कहकर विलाप करने लगा,–

'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ २१८ ॥

'समुद्रके पारकी समान जबतक एक दुःखके अंतको नहीं पहुंचता तबतक मेरे लिये दूसरा कठिन दुःख उपस्थित होजाता है. क्योंकि छिद्रोंमें अनर्थ (हानि) बहुत होते हैं ॥ २१८ ॥

स्वाभाविकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते ।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ २१९ ॥

स्वाभाविक मित्र भाग्यसेही होता है, वह अकृत्रिम (असल) मित्रताको आपत्तिमें भी नहीं छोडता ॥ २१९ ॥

अपि च-न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे स्वभावजे २२०॥'

औरभी,-स्वाभाविक मित्रोंके ऊपर पुरुषोंका जैसा विश्वास होता है वैसा विश्वास माता, स्त्री और सगे भाई किसीमें भी नहीं होता ॥ २२० ॥'

इति मुहुर्विचिन्त्य ' अहो दुर्दैवम् । यतः-

इस प्रकार वारंवार विचारते विचारते सोच करके कहा;-' हाय ! मेरा कैसा कुभाग्य है ? कारण-

' स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि
कालान्तरावर्तिशुभाशुभानि ।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि
जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥ २२१ ॥

अपने कर्मके फैलावसे किये गये कालान्तरमें होनेवाले हैं शुभाशुभ जिनसे ऐसे दशान्तरोंको जन्मान्तरकी नाई मैंने यहीं अर्थात् इसी जन्ममें निश्चय करके देखा २२१

अथवेत्थमेवैतत्--

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ २२२ ॥ '

अथवा इस संसारकी यही गति है;-शरीर तो दुःखसे भरा है, संपत्ति आपत्तिका स्थान है, संयोग वियोगका साथ है, सब उत्पत्तिमान् वस्तु नाशवान् हैं॥२२२॥'

पुनर्विमृश्याह-

'शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ २२३ ॥

फिर विचारकर बोला,-'शोक और शत्रुभयसे रक्षा करनेवाला प्रेम व विश्वासका पात्र " मित्र " इन दो (अमृतमय) अक्षररत्नोंको किसने बनाया है ? ॥ २२३ ॥

किंच--मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तद्दुर्लभम् ।

ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्॥'

और भी–जो मित्र नेत्रोंकी प्रीतिरसका स्थान है, चित्तका आनन्द देनेवाला और सुख दुःखोंका पात्र है, उस मित्रका साथ हो सो दुर्लभ है। जो और मित्र हैं वह धनसंपत्तिके समयमें द्रव्यकी इच्छासे व्याकुल हो सब नगरोंमें मिलते हैं। उनकी यथार्थता जाननेके लिये विपत्तिही कसौटीरूप है॥ २२४॥'

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनका-वाह–'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति तावन्म-न्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्'। तावूचतुः-'सत्वरं यथाकार्यमुपदिश'। हिरण्यको ब्रूते-'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं निश्चेष्टं दर्श-यतु। काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु। नूनमनेन मृगमांसार्थिना लुब्धकेन तत्र कच्छपं परित्यज्य सत्वरं गन्तव्यम्। ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। संनि-हिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्'।

इस प्रकार हिरण्यक बहुत विलाप करके चित्राङ्ग और लघुपतनकसे बोला–'इस व्याधको वनसे न निकलते २ हीइसके हाथसे मन्थरके छुटानेका यत्न करो'। दोनों कहने लगे;–'शीघ्र उपदेश दो कि, क्या करना होगा?'। हिरण्यकने कहा–'चित्राङ्ग जलके निकट जायकर मृतकवत् निष्पन्दभावसे पडा रहै और काकभी उसके ऊपर बैठकर मानो चोंचसे शरीर कुरेद रहा है, इस प्रकारका भाव प्रकाश करै। ऐसा करनेसे निश्चयही यह व्याध मृगमांसके लोभसे कछुएको रखकर शीघ्र वहां जायगा। तिसके पीछे मैं मन्थरका बन्धन काटदूंगा। व्याधके निकट पहुंचतेही तुम दोनों जने भागजाना'।

अथ चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथा-ऽनुष्ठिते सति स व्याधः श्रान्तः पानीयं पीत्वा

तरोरधस्तादुपविष्टस्तथाविधं मृगमपश्यत् । ततः कच्छपं जलसमीपे निधाय कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं चलितः। अत्रान्तरे हिरण्यकेनागत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम् । स कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविवेश । स मृगः आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय द्रुतं पलायितः । प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत्तरुतलमायाति तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्-' उचितमेवैतन्ममासमीक्ष्यकारिणः । यतः-

इसके उपरान्त चित्रांग और लघुपतनक शीघ्र जायकर ठीक वैसाही करते भये । वह व्याध थककर जलपान करके वृक्षके नीचे बैठगया और मृगको इस प्रकारसे पडा हुआ देख, कछुएको जलके निकट रख, एक कटारी लेकर पुलकित चित्तसे मृगके निकट गमन करने लगा, इसी अवसरमें हिरण्यकने आनकर बन्धन काट दिया कि, जिससे कछुवा अतिशीघ्र जलमें प्रवेश करगया। इस ओर वे मृग काकभी व्याधको निकटवर्त्ती देख उठकर अतिशीघ्रतासे भागे । व्याधने वृक्षके तले फिर आनेके समय देखा कि; वह कछुआ भी उस स्थानमें नहीं; तब विचारने लगा; 'कि, यह मेरे विना विचार करनेका योग्यही फल मिला है । क्योंकि;-

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥२२५॥'

जो निश्चितको छोडकर अनिश्चितकी सेवा करता है, उसका निश्चित नष्ट होजाता है और अनिश्चित तो नष्ट हैही ॥ २२५ ॥'

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः । मन्थरादयः सर्वे मुक्तापदः स्वस्थानं गत्वा यथासुखमास्थिताः ॥

इसके पीछे वह व्याध अपने कर्मके दोषसे मनोरथरहित होकर अपने डेरेमें प्रवेश करता भया। और वे मन्थरादिकभी समस्त विपत्तिसे [illegible] सुखसे वास करने लगे।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्–'सर्वं श्रुतवन्तः सुखिनो वयम्। सिद्धं नः समीहितम्'। विष्णुशर्मोवाच–'एतावता भवतामभिलषितं संपन्नम्। अपरमपीदमस्तु–

इसके पीछे सब राजपुत्र आनंदसहित कहने लगे कि–' हम यह समस्त सुनकर परम सुखी हुए। हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ '। विष्णुशर्माने कहा,–' तुम लोगोंका मनोरथ सिद्ध होनेपरभी हम और यह प्राथना करते हैं कि;–

मित्रं प्राप्नुत सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः॥'

इति श्रीविष्णुशर्मसंगृहीते हितोपदेशे मित्रलाभो
नाम प्रथमः कथासंग्रहः समाप्तः।

शील सुजनगण मित्रन पावें। घर २ पैं नित श्रीजी आवें॥
रहैं धर्मपर सब भूपाला। करहिं प्रजापालन सब काला॥
नवविवाहिता नारि समाना। तुम चित नीति कराहिं असथाना॥
अर्धचन्द्रशेखर त्रिपुरारी। अब कल्याण कराहिं हितकारी॥

पद्यानुवाद–हे सज्जन! आप मित्रोंकी प्राप्ति करैं, देश भली भाँतिसे लक्ष्मीका अवलंबन करैं, अपने धर्ममें निरन्तर टिके रहकर राजा पृथ्वीका पालन करैं, आपके मनकी तुष्टिके लिये आपकी नीति आपको नई स्त्रीके समान हो। और मनुष्यका कल्याण चन्द्रार्द्धचूडामणि (जिनके माथेपर आधा चंद्रमा विराजता है) भगवान् महादेवजी करैं'। इति हितोपदेशमें मित्रलाभनामक प्रथम कथासंग्रह समाप्त हुआ॥

॥ शिवमस्तु ॥

सुहृद्भेदः ।

अथ राजपुत्रा ऊचुः-'आर्य ! मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः।इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः'। विष्णुशर्मोवाच-'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, यस्यायमाद्यः श्लोकः-

इसके उपरान्त राजपुत्रोंने कहा-' आर्य ! हमने " मित्रलाभ " श्रवण किया । इस समय सुहृद्भेद श्रवण करनेकी इच्छा करते हैं' । विष्णुशर्माने कहा-"सुहृद्भेद" श्रवण करो । जिसका यह प्रथम श्लोक है-

वर्द्धमानो महास्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने ।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः ॥१॥'

वनमें सिंह और बैलका बढा हुआ अत्यन्त स्नेह अतिलोभी चुगल गीदडने नष्ट किया ॥ १ ॥'

राजपुत्रैरुक्तम्-'कथमेतत् ?'। विष्णुशर्मा कथयति-

राजपुत्रोंने पूछा-' यह किस प्रकारसे हुआ ? ' । विष्णुशर्माने कहा-

अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्धमानो नाम महाधनः वणिङ्निवसति । तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान् बन्धूनतिसमृद्धान् समीक्ष्य पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्बभूव । यतः-

दक्षिणदेशमें सुवर्णवतीनामक एक नगरी है । वहांपर वर्द्धमाननामक एक अति धनवान् बनिया वास करता था । वह अत्यन्त धनवान् होनेपर भी अपने बन्धुओंको अधिक धनवान् निहार और भी अपनी सम्पत्ति बढानेकी इच्छा करता भया ।

' अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति ॥ २ ॥

कारण–'नीचेको देखते हुए किसकी महिमा नहीं बढती ? और ऊपरको देखनेवाले सबही दरिद्री होते हैं अर्थात् ज्यों ज्यों बडी अवस्था दृष्टिमें आवेगी त्यों त्यों नीची अवस्थावाला बडी अवस्थाओंको प्राप्त करेगा; परन्तु जिसने जाना कि, मैं बडा होगया और उन्नति करानेका यत्न नहीं किया वही दरिद्री होजाता है॥२॥

अपरं च–

ब्रह्महाऽपि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम् ।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्द्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥

और भी–ब्रह्महत्याका करनेवाला भी मनुष्य जिसके पास बहुत धन है (वह) सम्मान पाता है । और चन्द्रमाके समान वंशमेंभी उत्पन्न हुआ हो परन्तु निर्धन होनेपर उसकाभी तिरस्कार किया जाता है ॥ ३ ॥

अन्यच्च–

अव्यवसायिनमलसं दैवपरं साहसाच्च परिहीनम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

और भी–उद्योगहीन, आलसी, प्रारब्धहीको मुख्य जाननेवाले, साहसहीन मनुष्योंको लक्ष्मी नहीं चाहती, जैसे युवती वृद्ध पतिको आलिंगन करनेकी इच्छा नहीं करती ॥ ४ ॥

किंच–आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।
सन्तोषो भीरुत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य ॥ ५ ॥

औरभी–सदाही आलस्य, सदा स्त्रीको लिये पडे रहना, शरीरका रोग, जन्मभूमिमें प्रीति, सन्तोष और डर, महत्त्वके नाश करनेवाले ये छः दोष हैं ॥ ५ ॥

यतः–संपदा सुस्थिरम्मन्यो भवति स्वल्पयाऽपि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥६॥

कारण,–जो थोडेही धनसे अपनेको चरितार्थ माननेवाला होता है, मैं जानताहूं कि उसका भाग्य कृतकृत्य होकर उसकी उस संपत्तिको नहीं बढाता, अर्थात् जिसने संतोष करलिया उसका धन नहीं बढता ॥ ६ ॥

अपरं च-निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥ ७ ॥

औरभी;-उत्साहरहित, आनंदहीन, शत्रुके आनन्दको बढानेवाले ऐसे पुत्रको कभी कोई स्त्री उत्पन्न न करै ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्-
अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्द्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

और यह कहा भी है कि;-अलब्ध (धन) के प्राप्त करनेकी इच्छा करै, प्राप्त (धन) को क्षयसे रक्षा करै, रक्षितको भली भांतिसे बढावै और बढेहुए (धन) को तीर्थ करनेमें (अर्थात् सुकर्मोंमें) लगावै ॥ ८ ॥

यतो लब्धुमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः। अपि च-अवर्धमानश्चार्थः कालेन स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत् क्षयमेति। अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः ।

कारण कि, यदि अप्राप्त वस्तुके लाभमें यत्न किया जाय तो धन लगानेसे उसकी प्राप्ति होती है और जो प्राप्त धनकी रक्षामें यत्न न किया जाय तो अमोल निधिभी नष्ट होती है और प्राप्त हुआ धन न बढानेसे भी वह थोडेसेही व्ययमें अंजनके समान नष्ट होजाता है (थोडा २ अंजन लगानेसेभी पुडियाकी इति श्री होजाती है) और धनका भोग न करनेसेभी उसका रहना वृथाही है ।

तथा चोक्तम्-
अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च सञ्चयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ ९ ॥

कहाभी है कि;-क्रमसे अञ्जनका क्षय और बमईका संचय देखकर (जरा २ सी

मिट्टी इकट्ठी होनेसे कितनी ऊंची बमई बन जाती है) दिनको वृथा न जाने देकर दान, अध्ययन करै ॥ ९ ॥'

इति संचिन्त्य वर्द्धमानः नन्दकसञ्जीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य शकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा वाणिज्येन गतः काश्मीरं प्रति ।

वर्द्धमान मनहीमें इस प्रकारसे विचारके सञ्जीवक और नन्दकनामक दो बैलोंको छकडेमें जोतकर छकडाको अनेक प्रकारके वाणिज्य द्रव्योंसे पूर्ण कर व्यापार करनेके लिये काश्मीरको चला ।

यतः-कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ १०

कारण;-समर्थोंको कौनसा बडा भार है ? पुरुषार्थियोंको क्या दूर है ? विद्वानोंको क्या विदेश है ? और प्रिय बोलनेवालोंको कौन दूसरा है ? (अर्थात् प्रिय बोलनेवालोंको सबही सगे होजाते हैं) ॥ १० ॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये सञ्जीवको भग्नजानुर्निपतितः। एतदालोक्य वर्द्धमानोऽचिन्तयत्-

इसके उपरान्त चलते २ सुदुर्गनामक महावनमें संजीवककी जांघ टूट गई और वह गिरपडा । यह दुर्घटना देखकर वर्द्धमानने विचारा कि-

' करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।
फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ ११ ॥

' भलेही नीतिमान् इधर उधर व्यापार व पुरुषार्थ करता फिरै, परन्तु इसका फल वही है; जो विधाताके मनमें स्थित है । ' होनहार भावी बलवाना ' ॥ ११ ॥

किंतु-विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।
तस्माद्विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम् १२'

क्योंकि;-विस्मय सब प्रकारसे त्यागनेके योग्य है। (क्योंकि) यह सब कामोंका बाधक है, इस कारण विस्मय छोड सिद्ध करने योग्य वस्तुमें सिद्धि करै ॥ १२ ॥

इति संचिन्त्य संजीवकं तत्र परित्यज्य वर्धमानः पुनः स्वयं धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय धुरि नियोज्य चलितः। ततः संजीवकोऽपि कथंकथमपि खुरत्रये भारं कृत्वोत्थितः। यतः-

वह यह विचार सञ्जीवकको वहांही छोड धर्मपुरनामक नगरमें जाकर और एक बडा भारी वृषभ मोल ले आया और उस बैलको छकडेमें जोडकर उस स्थानसे चला गया। तब संजीवकभी किसी प्रकारसे तीन खुरपर भार देकर उठा। कारण,-

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च।
तक्षकेणापि दष्टस्य त्वायुर्मर्माणि[1] रक्षति ॥ १३ ॥

पर्वतसे गिरे हुएकी, समुद्रमें डूबे हुएकी, तक्षकसेभी काटे हुएकी आयु मर्म स्थानोंकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

अपरं च-नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १४ ॥

औरभी देखो,-सौ बाणोंसे बिंधा हुआ शरीरधारीभी अकालमें(जब उसके मरनेका समय न हो) नहीं मरता। और काल आनेपर तौ कुशाकी नोकसे छुआ भी नहीं जीता।

दोहा-"जाको राखै साइयां, मार सके नहिं कोय।
बाल न बंका कर सके, सब जग वैरी होय" ॥ १४ ॥

यतः-अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।

---

१ स्वायुर्मर्माणि इत्यपि पठयते।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ १५ ॥

कारण;—मनुष्योंसे न रक्षा कीहुई वस्तु, प्रारब्धसे रक्षा कीहुई स्थित रहती है; और मनुष्योंने चाहे रक्षाभी की हो परन्तु प्रारब्धने उसे मारा हो ऐसी वस्तु नष्ट होजाती है। अनाथ वनमें पडा हुआभी जीता है और यत्नपूर्वक घरमें रक्खा हुआ भी नहीं जीता ॥ १५ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारविहारं कृत्वाऽरण्ये भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद । तस्मिन् वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति । तथा चोक्तम्—

पीछे कुछ दिन बीतनेपर संजीवकभी उस महावनमें विचरण कर इच्छानुसार आहारादि पायकर हृष्टपुष्ट हो और अत्यन्त तेजीसे रंभाने लगा। उस वनमें पिंगलक-नामक एक सिंह था, वह अपने पराक्रमसे उस वनमें राजा होकर राजभोग करता हुआ महासुखसे वास करता था। कहाभी है कि;—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १६ ॥

पराक्रमसे राज्य प्राप्त करनेवाले सिंहका न मृग अभिषेक करते, न संस्कार करते हैं, पराक्रमसे उपार्जित राज्यकी प्रभुता सिंहको अपने आपही है ॥ १६ ॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत् । तेन च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वमकालघनगर्जितमिव संजीवकनार्दितमश्रावि । तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा सचकितं परावृत्य स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः । स च तथाविधः करटकदमनकाभ्या-

मस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां दृष्टः । तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह–'सखे करटक ! किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा सचकितो मन्दंमन्दमवातिष्ठते' । करटको ब्रूते–'मित्र दमनक ! अस्मन्मतेनाऽस्य सेवैव न क्रियेत । यदि तथा भवति तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम् । यतोऽनेन राज्ञा विनाऽपराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम् ।

वह शेर एक दिन प्यासा होकर जलपान करनेके लिये यमुनाके किनारे गया । उस सिंहने वहांपर पहले कभी न सुना हुआ ऐसा अकालके मेघकी समान उस संजीवकका हूंकना सुना । वह उसको सुनकर विनाही जल पिये भयभीत हो उस स्थानसे चला आया और अपने स्थानपर आकर यह क्या बात है ? यही विचारते विचारते चुपचाप होगया । इसके उपरान्त मंत्रीके बेटे करटक और दमनक नामक दो शृगालोंने उस सिंहकी वह अवस्था देखी, सिंहको उस प्रकारके देखकर दमनकने करटकसे कहा–' सखे करटक ! यह क्या स्वामी जल पीनेको जायकर विनाही जल पान किये चुपचुपाते आये ? ' । करटकने कहा–' मित्र दमनक ! हमारी मतिसे तो ऐसे स्वामीकी सेवा करनीही उचित नहीं, फिर इसके कार्यको खोजनेका क्या फल है ? क्योंकि इस राजाके हमारे प्रति विना दोषके बहुत दिनोंसे अनादर दिखलानेसे हम लोगोंने अत्यन्त दुःख पाता है ।

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ १७ ॥

राजामें धनकी इच्छा किये हुए सेवकोंने जो किया उसे देखो कि, जो शरीरकी स्वतंत्रता थी उसे भी मूर्खोंने गँवादिया ॥ १७ ॥

अपरं च–शीतवातातपक्लेशान्सहन्ते यान् पराश्रिताः ।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत ॥ १८ ॥

औरभी देखोः-शीत, वात, धूपके क्लेशोंको पराधीन होकर सहते हैं; उनका आधा क्लेशभी तपस्यामें देनेसे बुद्धिमान् सिद्धि पाकर सुखी होताहै ॥ १८ ॥

अन्यच्च-एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः ॥१९॥

औरभी;-पराधीनतासे आजीविका न होनाही जन्मकी सफलता है, जो पराधीनताको प्राप्त हुएभी जीते हैं तो मरे कौन हैं ? (अर्थात् पराधीन मरेही हैं) "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" ॥ १९ ॥

अपरं च-एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥२०॥

औरभी-आ, जा, बैठ, उठ, बोल, चुप रह इस प्रकार आशारूप ग्रहसे ग्रसे हुए याचक (मँगता) लोगोंके साथ धनवान् लोग क्रीडा कियाकरते हैं ॥ २० ॥

किंच-अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥२१ ॥

और-वेश्या जिस प्रकार धन पानेके लिये शृंगार कर २ के अपने शरीरसे पराया उपचार करती हैं, ऐसेही मूढलोगोंने धन प्राप्त करनेके लिये अपने शरीरं भलीभांतिसे संस्कार करके परायेही कार्यके निमित्त किये हैं ॥ २१ ॥

अन्यच्च-या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥२२॥

औरभी-जो दृष्टि स्वभावसेही चंचल अपवित्र परभी गिरती है, स्वामीकी उस दृष्टिको भी नौकर लोग बहुतही मानते हैं ॥ २२ ॥

अपरं च-मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
क्षान्त्वा भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २३ ॥

औरभी-जो सेवाधर्म अत्यन्त अगम है, यह योगी लोगोंकोभी अगम्य है, क्योंकि जो चुप चाप रहै तो उसको मूर्ख कहते, वचन बोलनेमें चतुर हो तो उसको पागल कहते, या बडा बोलनेवाला कहते, जो क्षमावान् हो तो उसको डरपोक कहते, जो सहनशील न हो तो अकुलीन (नीच) कहते, यदि निकटही बैठ जाय तो उसको असभ्य (बदतमीज) कहते, यदि दूरही खडा रहै तो उसको मीठा कहते हैं ॥

विशेषतश्च-

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयाति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥२४॥'

विशेष करके;-बडा होनेके लिये नवता है, पराये जीवनकी रक्षा करनेको प्राणतक छोड देता है, परको सुखी करनेके लिये आप दुःखीतक होता है, इसलिये नौकरसे अधिक मूर्ख और कौन है ॥ २४ ॥'

दमनको ब्रूते-'मित्र ! सर्वथा मनसाऽपि नैतत्कर्तव्यम् । यतः-

दमनकने कहा;-' हे मित्र ! तुम ऐसा मनमें मत लाओ । कारण;-

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २५ ॥

जो लोग प्रसन्न होकरँ अल्पकालमेंही मनकी कामना पूर्ण कर देते हैं ऐसे जो धनी लोग हैं वे किस कारण यत्नसहित सेवा करनेके योग्य नहीं हैं ? ॥ २५ ॥

अन्यच्च पश्य- कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसम्पदः ।
उद्दण्डधवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी ॥ २६ ॥'

सेवारहित लोगोंको चामर सहित बडी भारी सम्पत्ति कहां ? और दंड, श्वेत छत्र, गज और सेना कहां ? ॥ २६ ॥ '

करटको ब्रूते-' तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण ? यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः । पश्य-

करटकने कहा;–'तथापि पराये कार्यमें हम लोगोंको हाथ डालनेसे क्या फल? विना कारणके कोई कभी पराये कार्यमें हाथ देने न जाय। देखो;–

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति।
***स भूमौ निहतः शेते कीलोत्पाटीव वानरः २७॥'**

कीली उखाडकर एक वानर जिस प्रकार मृतक होगया था अनर्थक पराये कार्यमें हाथ डालनेसे उस वानरकीही नांई दुर्गति होती है॥ २७॥'

दमनकः पृच्छति–'कथमेतत्?'। करटकः कथयति–

दमनकने पूछा;–'यह किस प्रकार?'। करटकने कहा;–

कथा १.

मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन प्रासादः कर्तुमारब्धः। तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः। तत्र बलवान्वानरयूथः क्रीडन्नागतः। तेष्वेको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः। तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे प्रविष्टम्। अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान्। आकृष्टे च कीलके काष्ठाभ्यां चूर्णिताण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'अव्यापारेषु व्यापारम्' इत्यादि। दमनको ब्रूते–'तथाऽपि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनावश्यं

---

* स एव निधनं याति इत्यपि पाठः।

करणीयम्'। करटको ब्रूते-' सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री स करोतु। यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्तव्या। पश्य-

मगधदेशमें धर्मारण्यके निकट एक स्थानमें शुभदत्तनामक एक कायस्थ एक देवालय बनवा रहाथा। वहां आरेसे चीरे हुए एक लट्ठेमें बढईने एक कीली गाडी थी। वनसे उस स्थानमें एक वानरोंका झुण्ड खेलता कूदता आया। उनमेंसे एक वानरको कालने मानो ग्रहणही करलिया था, क्योंकि वह वानर उस चीरेहुए लट्ठेकी कील दोनों हाथसे धर बैठगया। उसके अंडकोष उस चीरे हुए लट्ठेकें बीचमें झूलपडे। इसके उपरान्त वह वानर अपनी स्वाभाविक चंचलताके वश प्राणपनसे यत्न करके उस कीलीको खेंचने लगा। उस वानरने जैसेही उस कीलिको उखाडलिया कि वैसेही लट्ठेके दोनों भागोंके चिपटनेसे उसके दोनों अंडकोष चूर २ होगये। वानर उसी समय मृतक होगया। इसीलिये मैंने कहाथा कि,-' अनर्थक पराये कार्यमें हाथ नहीं देना '। दमनकने कहा,-' तथापि स्वामीका कार्य निरूपण करना सेवकको अवश्य कर्तव्य है '। करटक बोला-' जिसके हाथमें समस्त कार्यका भार है, वह प्रधान मंत्रीही क्यों न करै ? क्योंकि सेवकको अनधिकार (जिसमें अधिकार नहीं) ऐसी चर्चा करना उचित नहीं है। देखो-

पराधिकारचर्चां यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया।
स विषीदति चीत्काराद्गर्दभस्ताडितो यथा॥ २८ ॥'

एक गधा चिल्लाकर जिस प्रकारसे मारा गयाथा, वैसेही जो पुरुष स्वामीका हित करनेकी इच्छासे जिसमें अधिकार नहीं है ऐसी चर्चा करता है, वहभी ऐसीही दुर्गति पाता है ॥ २८ ॥'

दमनकः पृच्छति-' कथमेतत् ? '। करटको ब्रूते-

दमनकने पूछा-' यह किस प्रकार ? '। करटक बोला-

कथा २.

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटो नाम रजकः, स चैकदा अभिनववयस्कया वध्वा सह चिरं

निधुवनं कृत्वा निर्भरमालिङ्ग्य प्रसुप्तः। तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः। तस्य प्राङ्गणे गर्दभो बद्धास्तिष्ठति, कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति। अथ गर्दभः श्वानमाह–'सखे! भवतस्तावदयं व्यापारः। तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि'। कुक्कुरो ब्रूते–'भद्र! मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्तव्या। त्वमेव किं न जानासि यथा तस्याहर्निशं गृहरक्षां करोमि यतोऽयं चिरान्निर्वृतो ममोपयोगं न जानाति। तेनाधुनापि ममाहारदाने मन्दादरः। विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दादरा भवन्ति'। गर्दभो ब्रूते–'शृणु रे बर्बर!

बनारसमें कर्पूरपटनामक एक धोबी रहता था। वह एक दिन नई युवा अवस्थावाली अपनी स्त्रीके संग क्रीडा कौतुक करके गाढी नींदमें सो रहा था। इतनेहीमें उसका धन आदि चुरानेकी इच्छासे एक चोरने उसके गृहमें प्रवेश किया, उसके आंगनमें एक गधा बँधा था, एक कुत्ताभी वहां बैठा था। उस चोरको देखकर गधा कुत्तेसे बोला;–'मित्र! यह कार्य तो तुम्हारा है, फिर तुम किस कारणसे चिल्लाकर स्वामीको नहीं जगा देते हो?'। कुत्ता बोला,–'हे श्रेष्ठ! हमारे कार्यके लिये तुम मत चिन्ता करो; तुम यह तो जानते हो कि, मैं इसके गृहकी जैसी रक्षा किया करताहूं, परंतु यह पुरुष बहुत दिनोंसे अपने सुखमें मग्न रहकर मुझसे जो उपकार पाता है, उसको एकवारभी विचारकर नहीं देखता और इसी कारणसे मुझको आहार देनेमेंभी इसका अयत्न है; क्योंकि भय देखे विना स्वामी अपने अधीनोंपर अनादर रखते हैं'। यह सुनकर गधेने कहा;–'सुन रे मूर्ख!

याचते कार्यकाले यः स किं भृत्यः स किं सुहृत्'।

कार्यके समय जो मांगे वह दास क्या ? और वह मित्रही क्या ?' (आज्ञा न प्राप्त होनेपरभी जो और कर्त्तव्य कार्य करै, वही मित्र है)।

कुक्कुरो ब्रूते-

कुत्तेने कहा;-

'यो न सम्भावयेद्भृत्यान् कार्यकाले स किं प्रभुः॥२९॥

'जो मौकेके पडनेपरभी भृत्योंका सम्मान न करै वह कैसा स्वामी ? ॥ २९ ॥

किंच-आश्रितानां भृतो स्वामिसेवायां धर्मसेवने ।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः ॥ ३० ॥'

क्योंकि;-आश्रित लोगोंके पोषणमें, स्वामीकी सेवा करनेमें, पुण्यके अनुष्ठानमें और सन्तान उत्पन्न करनेमें प्रतिनिधि नहीं होते ॥ ३० ॥'

ततो गर्दभः सकोपमाह-'अरे दुष्टमते! पापीयां-स्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्य उपेक्षां करोषि । भवतु तावत् । यथा स्वामी जागरिष्यति तन्मया कर्तव्यम् । यतः-

यह सुनकर गधेने क्रोधसहित कहा;-' रे पापी ! तैंने स्वामीके कार्यका निरादर किया । अच्छा, स्वामी जिससे जागजाय, मैं वही करताहूं । कारण,-

पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम् ।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया ॥ ३१ ॥'

पीठ देकर सूर्यकी सेवा करै, उदरसे अग्निकी सेवा करै, सब प्रकारसे प्रभुकी सेवा करै, माया-ममतारहित होकर परलोककी सेवा करै । " भानु पीठ सेइय उर आगी । स्वामी सेइय कपट छल त्यागी ॥ माया तजि सेइय परलोका " ॥३१॥'

इत्युक्त्वाऽतीव चीत्कारशब्दं कृतवान् । ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभङ्गकोपा-दुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास । ततस्तेन

ताडनेन गर्दभः पञ्चत्वमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि-'पराधिकारचर्चाम्' इत्यादि। पश्य-'पशूनामन्वेषणमेवास्मन्नियोगः । स्वनियोगचर्चा क्रियताम्; (विमृश्य) किंत्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम् । यतः आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति'। दमनकः सरोषमाह-' कथमाहारार्थी भवान्केवलं राजानं सेवते । एतदयुक्तमुक्तं त्वया । यतः-

गर्दभ यह कहकर अति जोरसे चिल्लाया, इसके उपरान्त धोबी उसके चिल्लानेसे जाग उठा और नींद टूटनेसे अत्यन्त क्रोधित हो गधेको लाठी मारी । उस लकडोंके प्रहारसे गधा मृतक होगया । इसीलिये कहताहूं; कि-' जो पुरुष अनधिकारकी चर्चा करता है उसकी दशा उस गधेकी नांई होती है ' । देखो' कहां कौन शिकारका पशु है इसकीही ढूंढभालके लिये हम नियुक्त हुए हैं, इसलिये जिस कार्यमें हमारा अधिकार है; उसकीही चिन्ता करनी है (चिन्ता करके) परन्तु आज पशुकी खोज करनेकी आवश्यकता नहीं है. कारण कि, हमारे भोजन करनेके लायक बहुत मांस रक्खा है'।यह सुनकर दमनकने क्रोधसहित कहा;-'क्या, केवलं अपनेही आहारके लिये तुम राजाकी सेवा करते हो ? तुमने यह अति अन्यायकी बात कही। क्योंकि,-

सुहृदामुपकारकारणाद्विषतामप्यपकारकारणात् ।
नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ३२

बन्धुलोगोंका उपकार करनेके लिये और शत्रुओंका अपकार करनेके अर्थ पंडितलोग राजाके आश्रयकी अभिलाषा करते हैं (नहीं तो) केवल अपना पेट कौन नहीं भरता है ? ॥ ३२ ॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः ।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति ॥ ३३ ॥

जिसके जीनेसे ब्राह्मण बन्धु बान्धव और मित्र जीते हैं, उसकाही जीवन सार्थक है, (नहीं तो) अपने लिये कौन नहीं जीता है ? ॥ ३३ ॥

अपि च-यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु ।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ३४॥

औरभी,-जिसके जीनेसे बहुत आश्रित लोग जीते रहते हैं उसका ही जीना सफल है। कौआ भी बहुत दिनतक जीवित रहकर पेट नहीं भरता है? परन्तु उसके जीनेसे क्या फल है? ॥ ३४ ॥

पश्य-पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।
कोऽपि लक्षैः कृती कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ३५॥

देखो;-कोई मनुष्य पांच पणसे दासत्व पाता है, कोई लाख पण लेकर दास होता है, और कोई लक्ष पण देकरभी नहीं पाया जाता ॥ ३५ ॥

यतः-मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।
प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवत्सु गण्यते ॥३६॥

कारण;-समान जो मनुष्यजाति है, उसमें सेवकता अति निन्दित है, उसमेंभी (सेवकतामें) जो प्रधान नहीं है, वह क्या जीते हुओंमें गिने जानेके योग्य है? ॥३६॥

तथा चोक्तम्-
वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम् ।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ ३७ ॥

वैसा कहाभी है कि,-घोडा हाथी और लोहा काठ, पत्थर और वस्त्र, स्त्री पुरुष और जलमें जो अन्तर है वह बहुत अन्तर है ॥ ३७ ॥

तथाहि-
स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तये ।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥

देखो—नाडी नस वसा और मांससे विरहित एक मैली हड्डी पानेपरभी कुत्तेको संतोष होता है, परन्तु उससे उसकी क्षुधाकीभी तृप्ति नहीं होती। और सिंहकी गोदमेंभी यदि शृगाल आजाय तो सिंह उसको त्यागकर हाथीका वध करता है। इसलिये कष्टमें पडकरभी सब अपनी २ योग्यताके अनुसार जीविका प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं॥ ३८॥

अपरं च—सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य—

और देखो! एक जन प्रधान और एक जन साधारण सेवकमें कितना अन्तर है—

लांगूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते॥ ३९॥

कुत्ता ग्रासही प्रमाण अन्न देनेवालेके निकट दुम हिलाता है, पैरोंमें गिरता है और पृथ्वीपर गिरकर मुख और पेट दिखलाता है और उत्तम हस्ती मंद मंद देखता और सैकडों खुशामदोंसे भोजन करता है॥ ३९॥

किंच—यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम्।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते॥४०॥

औरभी देखो;—* मनुष्योंमें प्रसिद्ध, विज्ञान पराक्रम और कीर्तिसे युक्त हो एक

---

* किसी २ पुस्तकमें यह श्लोक अधिक है। यथा--

यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे दीने दयां न कुरुते न च बन्धुवर्गे।
किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुंक्ते॥

जो अपने आत्मज व अपने उपदेशक और दासलोगोंपर दया नहीं करता, दरिद्र लोगोंपर दया नहीं करता, मित्रोंपर दया नहीं करता, मनुष्यलोकमें उसके जीवनका क्या फल है? यों तो काकभी बहुत समयतक जीता और बलि खाता है॥

क्षणभरभी जो जीता है, पंडितलोगोंने उसको ही जीता हुआ कहा है, नहीं तो काकभी चिरकाल जीता और बलिकाभी भोजन करता है ॥ ४० ॥

अपरमपि-अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य ।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ॥ ४१ ॥'

औरभी देखो;-जिसके अन्तःकरणमें भले बुरेका विचार न हो और अनेक पंडितोंकरके शास्त्रके विवादमें जिसका तिरस्कार किया गया हो, वह केवल उदरमात्र भरनेका अभिलाषी जो पुरुषपशु है, उसमें और वनके पशुमें भेद क्या है ? ॥४१॥'

करटको ब्रूते-'आवां तावदप्रधानौ । ततोप्यावयोः किमनया विचारणया ?' दमनको ब्रूते-'कियता कालेनामात्याः प्रधानतामप्रधानतां वा लभन्ते । यतः-

करटकने कहा,-' हम तो कुछ राजाके प्रधानमंत्री नहीं हैं तब फिर हमको इन सब विचाराविचारसे क्या प्रयोजन ?' दमनकने फिर कहा,-'कुछ दिन पीछेही तो एक मंत्री प्रधान मंत्रीका पद पाय सकता है, और नीची गतिकोभी पहुँच सकता है । कारण-

न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावाद्
भवत्युदारोऽभिमतः खलो वा ।
लोके गुरुत्वं विपरीततां वा
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ॥ ४२ ॥

स्वभावसेही कोई किसीका मनमाना नहीं होसकता, न खल जानाजासकता है. अपनी चेष्टासेही मनुष्यको बडाई या ओछाई मिलतीहै ॥ ४२ ॥

किंच-आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४३ ॥

और भी देखो--जिसप्रकार पर्वतपर अत्यन्त परिश्रम और यत्नसे पत्थर चढाया जाता है, परन्तु नीचे अति थोडे समय और सरलतासे गिरा दिया जाता है, इसी प्रकार गुण और दोषमें आत्मा है। (अपनी उन्नति अतियत्न और कठिनतासे होती है, परन्तु अवनति सहजही होजाती है) ॥ ४३ ॥

तद्भद्रम्, स्वयत्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य।

सो अच्छा, अपनी उन्नति प्राप्त करना सबके यत्नोंहीके ऊपर निर्भर है।

यात्यधोधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ॥
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः ॥ ४४॥'

कारण; कुंएका खोदनेवाला जिस प्रकार नीचेको जाता है और भीतका बनानेवाला जिस प्रकार ऊपरको जाता है, ऐसेही मनुष्य अपने कर्मोंसे बडाई या छोटाईको पाता है ॥ ४४ ॥'

करटको ब्रूते-' अथ भवान् किं ब्रवीति '। स आह-' अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः पानीयमपीत्वा कुतोऽपि भयात्सचकितः परावृत्योपविष्टः '। करटको ब्रूते-'किं तत्त्वं जानासि '। दमनको ब्रूते-'किं प्रज्ञावतामविदितमस्ति, उक्तं च-

करटकने कहा;-' तब तुम क्या कहते हो ? सो कहो'। दमनकने कहा;-' यह राजा पिंगलक जलपान न करके किसी भयसे एक घबडाया हुआ फिर आया है'। करटकने पूछा;-' तुम वह किस प्रकारसे समझे '। दमनक बोला-' जिनको ज्ञान है उन्हें कौनसी बात बिना जानी रहसकती है, कहाभी है कि,—

उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४५ ॥

कही बात पशुभी समझता है, आज्ञा प्राप्त होनेपर हाथी घोडे चढाले जाते हैं, पंडितलोग न कहे जानेपरभी पहचान लेते हैं, क्योंकि बुद्धि पराये इंगितको जानती है ॥ ४५ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४६ ॥

आकारसे, इंगितसे, गमनसे, चेष्टासे, कहनेसे, आंख और मुखके विकारसे अन्तःकरणकी बात जानी जाती है ॥ ४६ ॥

अत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि । यतः-

इसलिये, प्रभुके इस भयके प्रसंगसेही मैं बुद्धिके प्रभावसे इसको वश करलूंगा, कारण—

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः ४७॥'

प्रस्तावकी तुल्य वचन, सद्भावकी तुल्य प्रिय आचरण, अपनी शक्तिकी तुल्य क्रोध जो जानता है वह पंडित है ॥ ४७ ॥'

करटको ब्रूते-' सखे ! त्वं सेवानभिज्ञः । पश्य-

करटकने कहा,-' सखे ! तुम राजाकी सेवा नहीं जानते । देखो;—

अनाहूतो विशेद्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते ।
आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः ॥४८॥'

जो विना बुलाये निकट जाय, विना पूछे भी बहुत कहै और अपनेको राजाका प्यारा करके जाने वह सेवक निर्बोध है ॥ ४८ ॥'

दमनको ब्रूते-'भद्र ! कथमहं सेवानभिज्ञः ? पश्य-

दमनकने कहा-भाई ! क्यों मैं राजाकी सेवा करनी नहीं जानता ? देखो—

किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाप्यसुन्दरम् ।
यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ४९ ॥

स्वभावसे सुन्दर या निन्दित कौन है ? जिसमें जिसकी रुचि है वही उसको सुन्दर हैं ॥ ४९ ॥

यतः–यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५० ॥

जिस जिसके जो २ भाव हों, उन्हीं २ भावोंमें बुद्धिमान् मनुष्यको प्रवेश करके उस मनुष्यको अपने वशमें करलेना चाहिये ॥ ५० ॥

अन्यच्च–कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५१ ॥

औरभी–' यहांपर कौन है ?' यह पूंछे जानेपर ' मैं अमुक हूं ' यह कहै और ' आज्ञा कीजिये ' यह कहै, और सामर्थ्यके अनुसार राजाके आदेशको लंघन नहीं करै ॥ ५१ ॥

अपरं च–अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत् ॥५२॥'

औरभी–सदा थोडा चाहनेवाला, धीरजवान्, चतुर मनुष्य छायाकी समान सदा पीछे चलनेवाला रहे और आज्ञा पायकर आज्ञाका लंघन नहीं करै, वह मनुष्य राजाके स्थानमें वास करै ॥ ५२ ॥'

करटको ब्रूते–' कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते स्वामी ?'। स चाह–' अस्त्वेवम् , तथाप्यनुजीविना स्वामिसान्निध्यमवश्यं करणीयम्। यतः–

करटकने कहा–' कभी तुम समय विना स्वामीके सामने जाओ और वह यदि तुम्हारा अपमान करै ? '। दमनकने कहाः–' हां यह बात सत्य है; तथापि प्रभुके निकट सेवकका उपस्थित रहना आवश्य कर्त्तव्य है । कारण–

दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम् ।
कैरजीर्णभयाद्भ्रातर्भोजनं परिहीयते ॥ ५३ ॥

दोषके भयसे जो कार्यका आरम्भ नहीं करता है, वह कापुरुषका लक्षण है. हे भाई ! अजीर्णके भयसे कौन निकट रक्खे हुए भोजनको छोड देता है. ॥ ५३ ॥

पश्य-आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमपण्डितं वा ।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति ॥५४॥'

देखो-निर्गुण अकुलीन, अश्रेष्ठ ऐसे निकटवाले मनुष्यपर राजा अनुग्रह करता है. क्योंकि बहुधा राजालोग, स्त्रियें और लतायें ये सब उसीको घेरते हैं जो इनके निकट वास करता है ॥ ५४ ॥'

करटको ब्रूते-'अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान् ?'। स आह-'शृणु । किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति ज्ञास्यामि'। करटको ब्रूते-किं तज्ज्ञानलक्षणम् ?'। दमनको ब्रूते-'शृणु-

करटकने कहा;-'तुम उनके पास जायकर क्या कहोगे ? दमनक बोला-'सुन ! स्वामी हमारे ऊपर अनुरागी हैं, या विरागी हैं, पहले तो यह हम जानेंगे,। करटकने पूछा,-'क्या क्या लक्षण देखकर वह जाना जाता है?'। दमनकने कहा-'सुन-

दूरादेवेक्षणं हासः संप्रश्नेष्वादरो भृशम् ।
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ५५ ॥

दूरसेही देखनेपर हंसना, कुशलप्रश्न पूंछनेपर अतिशय आदर करना, पीछे मेंभी गुणकी प्रशंसा करना और उत्तम वस्तु देखनेसे उसका स्मरण करना ॥ ५५ ॥

असेवके चानुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम् ।
अनुरक्तस्य चिह्नानि दोषेऽपि गुणसंग्रहः ॥ ५६ ॥

सेवा न करनेपर भी उसमें अनुराग करना, प्रिय वचन कहकर दान देना और दोषमेंभी गुण ग्रहण करलेना, अनुरागी होनेके ये सब लक्षण हैं ॥ ५६ ॥

अन्यच्च–कालयापनमाशानां वर्धनं फलखण्डनम्।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः ॥ ५७ ॥

औरभी–समय टालना, आशा बढाना, फलका खंडन करना, बुद्धिमान् ये सब प्रतिकूल राजाके लक्षण जाने ॥ ५७ ॥

एतज्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति तथा करिष्यामि। यतः–

स्वामीके ये सब लक्षण जानकर, जिस प्रकारसे वह अपने वशमें हो जाय वैसाही करूंगा। क्योंकि–

अपायसन्दर्शनजां विपत्ति-
मुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम्।
मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ५८ ॥

अपायके देखनेसे उत्पन्न हुई विपत्ति और उपाय देखनेसे उत्पन्न हुई सम्पत्ति उसको बुद्धिमान् लोग आगेसेही प्रकाशमानकी समान देखते हैं * ॥ ५८ ॥

दोषा गुणा गुणा दोषा दोषा दोषा गुणा गुणाः।
रक्ते विरक्ते मध्यस्थे स्वामिनि त्रिविधा गुणाः ॥५९॥

औरभी–दोषोंको गुण समझना रक्त (प्रसन्न) स्वामीका काम है और गुणोंको दोष समझना विरक्त (अप्रसन्न) स्वामीका कार्य है और दोषोंको दोष और

---

* 'उपाय, अपाय'–'उपाय' अर्थात् इस उपायका अवलंबन करनेसे। 'अपाय' अर्थात् इस उपायके अवलंबन करनेसे स्वामीपर कोई भयका कारण आ पडनेसे बुद्धिमान् सेवक उसको नीतिकी चतुरतासे ऐसा समझावे कि, यदि आप हमारा बताया हुआ यह उपाय अवलंबन करेंगे तो आपका कार्य सिद्ध है और हाथोंहाथ सम्पत्तिं मिलजाती है। और यदि आप हमारा बताया यह उपाय नहीं ग्रहण करेंगे तो आपका कार्य बिगडकर नाश भी हाथोंहाथ है।

गुणोंको गुण मानना मध्यस्थ (उदासीन) स्वामीका काम है । इस प्रकार तीन प्रकारके स्वामी होते हैं ॥ ५९ ॥'

करटको ब्रूते-'तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि । यतः-

करटकने कहा;-तोभी विनाप्रसंग आये कहना योग्य नहीं है. कारण-

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम् ॥६०॥'

बृहस्पतिजीभी विना प्रसंगके वचन कहनेपर निर्बुद्धिता और बहुत कालतक व्यापनेवाला अपमान पाते हैं ॥ ६० ॥'

दमनको ब्रूते-'मित्र ! मा भैषीः । नाहमप्राप्ताव-सरं वचनं वदिष्यामि । यतः-

दमनकने कहा;-' मित्र ! तुम इसके लिये भय न करो; विना अवसर पाये हम कोईभी बात नहीं कहेंगे । कारण,-

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ६१ ॥

विपत् कालमें और मार्गत्याग करजानेके कालमें और कार्यकालके निकल जाने-पर पूछे न जाकरभी हितैषी दासोंको कहना चाहिये ॥ ६१ ॥

यदि च प्राप्तावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्य-स्तदा मन्त्रित्वमेव ममानुपपन्नम् । यतः-

और ऐसा सुअवसर पाकरभी यदि हम उसे परामर्श न दे तब तो हमारा मन्त्रीपनही वृथा है । कारण,-

कल्पयति येन वृत्तिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।
स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः संवर्धनीयश्च॥ ६२ ॥

जिस गुणसे जीविका होती है और जिस गुणसे पृथ्वीपर पंडितलोग प्रशंसा करते हैं, गुणी लोग उस गुणकी रक्षा अवश्य करैं और उसको बढावैं ॥ ६२ ॥

तद्भद्र ! अनुजानीहि माम्, पिङ्गलकसमीपं गच्छामि'। करटको ब्रूते–'शुभमस्तु। यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्।

इसलिये हे मित्र ! तुम आज्ञा दो, हम पिंगलकके समीप जांय'। करटकने कहा–'तुम्हारा मंगल हो, कार्य सिद्ध करके आओ।

गम्यतामर्थलाभाय क्षेमाय विजयाय च।
शत्रुपक्षविनाशाय पुनरागमनाय च॥ ६३॥'

जाओ। धन,कुशल और विजयको प्राप्त करो, शत्रुके पक्षका नाश करके फिर लौटो॥'

ततो दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः।

तिसके पीछे दमनक विस्मितभावसे पिंगलकके समीप गया।

अथ दूरादेव सादरं राज्ञा प्रवेशितः साष्टाङ्गं प्रणिपत्योपविष्टः। राजाऽऽह–'चिराद्दृष्टोऽसि'। दमनको ब्रूते–'यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किंचित् प्रयोजनमस्ति। तथापि प्राप्तकालमनुजीविना सान्निध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽस्मि। किंच–

राजाने उसको दूरसे देखकर प्रवेश करनेकी अनुमति दी, वह जायकर राजाको* साष्टांग प्रणाम करके बैठा। राजा पिंगलकने उससे कहा–'तुमको बहुत दिनोंके पीछे देखा'। दमनकने कहा–'यद्यपि मुझ सरीखे सेवकसे महाराजका कोईभी प्रयोजन नहीं निकलता, तथापि समयके आनेपर प्रभुके निकट सेवकका आना अवश्य कर्त्तव्य है; यही सोच विचार कर आया। कारणः–

दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन् !
कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि।

* 'साष्टांग प्रणाम' हाथ, पैर, जांघ, छाती, मस्तक, नेत्र, वाक्य और मन इन आठ अंगोंसे प्रणाम करना।

तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां
किमङ्गवाक्पाणिमता नरेण ॥ ६४ ॥

हे महाराज ! दांतोंके खुरचनेवाले, कानमें कुरेदनेवाले तिनकेसेभी जब राजाका कार्य होता है; तब अंग, वाणी, हाथ, पांव युक्त मनुष्यसे कार्य होगा, इसके कहनेकी आवश्यकताही नहीं ॥ ६४ ॥

यद्यपि चिरेणावधीरितस्य देवपादैर्मे बुद्धिनाशः शङ्क्यते, तदपि न शङ्कनीयम् । यतः--

स्वामी यदि ऐसी शंका करैं कि, मैं बहुत समयसे आपके निकट अनादर किया गया हूं, इससे मेरी बुद्धि लोप होगई है, सो ऐसी शंका करना भी आपको उचित नहीं है, कारण,-

मणिर्लुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते ।
क्रयविक्रयवेलायां काचः काचो मणिर्मणिः ॥६५॥

मणिको यदि कोई चरणसे मसल दे और कांचको यदि कोई मस्तकपर धारण करले, परन्तु मोल लेने और बेंचनेके समय कांच कांचही है और मणि मणिही है ६५

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते-
र्बुद्धेर्विनाशो न हि शङ्कनीयः ।
अधः कृतस्यापि तनूनपातो
नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥ ६६ ॥

और निरादर होनेपरभी, धीरज धारण करनेवालेकी बुद्धिका नाश होनेकी शंका नहीं, कारण कि अग्निके नीचे जानेपरभी उसकी लपट कभी नीचेको नहीं जाती॥६६॥

देव ! तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम् । यतः-

महाराज ! कौन कैसे गुणके लोग हैं ? आपको यह भली भांतिसे जानना चाहिये । कारण,-

निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते।
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ६७ ॥

जब कि, राजा विशेष ज्ञानसे रहित होकर सब प्राणियोंमें समान रूपसे वर्त्ताव करता है, तब समर्थोंका शत्रुपक्षके युद्धादिमें उद्योग नष्ट होजाताहै ॥ ६७ ॥

किंच-त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६८ ॥

औरभी-हे महाराज ! उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकारके पुरुष होते हैं तीन प्रकारके कर्मोंमें इन तीन पुरुषोंको लगावै ॥ ६८ ॥

यतः-स्थान एव हि योज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च।
न हि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा तथा॥६९॥

क्योंकि,-सेवक और गहनेको यथायोग्य स्थानमें ही लगावै; क्योंकि, पांवमें चूडामणि नहीं पहरी जाती तथा पांवटा मस्तकपर नहीं पहरा जाता ॥ ६९ ॥

अपि च-कनकभूषणसंग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते।
न स विरौति न चापि स शोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता॥ ७० ॥

औरभी देखिये,-सुवर्णके गहनेमें जडनेके लायक मणि जो शीशेमें जड दीजाय, तो वह मणि नहीं रोवेगी न शोभाही पावेगी, परन्तु जडनेवालेहीकी निन्दा होगी ॥७०

अन्यच्च-मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः।
न हि दोषो मणेरस्ति किं तु साधोरविज्ञता ॥ ७१॥

मुकुटमें जडे हुए कांच और पांवके गहनेमें जडी हुई मणिका इसमें कुछ दोष नहीं है; परन्तु जडनेवालेकी अज्ञानता है ॥ ७१ ॥

पश्य-बुद्धिमाननुरक्तोऽयमिहोभयगुणो जनः।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः ॥ ७२ ॥

औरभी देखिये,-यह सेवक बुद्धिमान् है, यह अनुरागी है, इसमें * दोनों गुण हैं, ऐसा सेवकोंके अच्छे बुरेका विचार करनेवाला राजा सेवकलोगोंसे परिपूर्ण होताहै॥ ७२

तथाहि-अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्ति योग्या अयोग्याश्च॥७३॥

देखो-यह पंडितलोगोंने कहा है कि-अश्व, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाक्य, पुरुष और स्त्री × ये समस्त मनुष्यविशेषको पायकर योग्य और अयोग्य होजाते हैं॥ ७३ ॥

अन्यच्च-किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ।
भक्तं शक्तं च मां राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७४ ॥

औरभी,-असमर्थ अनुरागी सेवकसे क्या प्रयोजन ? व अपकार करनेवाले समर्थसेभी क्या प्रयोजन है ? हे महाराज ! मुझ भक्त और समर्थका निरादर करना आपको उचित नहीं है ॥ ७४ ॥

यतः-अवज्ञानात्प्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजन-
स्ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥७५॥

कारण-हे महाराज ! विज्ञपरिवारके लोग अपमान पानेसे बुद्धिरहित होते हैं, इसके उपरान्त उसकी दृष्टिके निकट पंडितलोग नहीं रहते, पंडितलोगों करके त्याग किये जानेपर नीति गुणवती नहीं होती, नीतिके नष्ट होनेपर समस्त जगत् बिगड जाता है॥७५

अपरं च-देव !

जनं जनपदा नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम् ।
नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ७६ ॥

---

* 'दोनों गुण'-प्रभुभक्ति और बुद्धि अर्थात् एकसाथ जिसमें बुद्धि और प्रभुभक्ति ये दोनों गुण हों राजा उसकोही कार्यमें लगावैं ।

× वाणी वाक्य;-अश्व, शस्त्र, शास्त्र इत्यादि योग्य पुरुषके हाथमें पडनेसे श्रेष्ठ और अयोग्य पुरुषके हाथमें पडनेसे नीचपनको प्राप्त होते हैं ।

और देखिये महाराज ! राजाका अनुग्रह पायेहुए पुरुषका देशवासी सबही जन सम्मान करते हैं और राजा करके अपमान किया हुआ जो जन है वह सबसे अवमानित होता है ॥ ७६ ॥

किंच-बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ॥ ७७ ॥'

औरभी,-बालकसेभी न्यायके वचन पंडित लोगोंको ग्रहण करने चाहिये. क्योंकि जिस स्थानमें सूर्यका प्रकाश नहीं उस स्थानमें क्या दीपकका प्रकाश नहीं होता ? ॥'

पिङ्गलकोऽवदत्-'भद्र दमनक ! किमेतत् ?। त्वमस्मदीयप्रधानामात्यपुत्रः सुधीरियन्तं कालं यावत्कुतोऽपि खलवाक्यान्नागतोऽसि । इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि'। दमनको ब्रूते-'देव ! पृच्छामि किंचित् । उच्यताम्; उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा किमिति विस्मित इव तिष्ठति ?'। पिङ्गलकोऽवदत्-'भद्रमुक्तं त्वया । किं त्वेतद्रहस्यं वक्तुं काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति । त्वं तु तथाविधः, ततः शृणु। संप्रति वनमिदमपूर्वसत्वाधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम् । अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि । तथा च श्रुतस्त्वयाऽपि महानपूर्वः शब्दः। शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम्'।

पिंगलकने कहा,-'श्रेष्ठ ! दमनक ! यह क्या ? हमारे प्रधान मन्त्रीके पुत्र, परम सुबुद्धिवाले तुम किसी दुष्ट जनके वचनका विश्वास करके इतने दिन हमारे निकट नहीं आये। इस समय तुम्हारा क्या अभिलाष है सो कहो '। दमनकने कहा,-' देव ! कोई बात पूंछताहूं, सो कहिये कि, प्रभु जल पीनेके प्रार्थी होकरभी

विनाही जलपान किये विस्मित भावको प्राप्त हुएसे क्यों होरहे हैं ?' पिंगलकने कहा,–' अच्छा कहा, परन्तु यह गोपनीय वार्ता कही जाय, ऐसे विश्वासका पात्र कोईभी नहीं है, परन्तु तुम वैसेही विश्वासपात्र हो इसलिये कहताहूं, सुनो–आजकल एक अपूर्व जन्तुने आकर इस वनका अधिकार किया है, इस कारण यह स्थान हम लोगोंको त्याग करना ही उचित है और तुमनेभी उसका भयंकर शब्द सुना होगा। उसका शब्द जिस प्रकारका भयंकर है उसका बलभी वैसाही होगा।'

दमनको ब्रूते–'देव ! अस्ति तावदयं महान्भयहेतुः। स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्णितः । किं तु स किम्मन्त्री यः प्रथमं मन्त्राभावेन भूपतिं भूमित्यागं युद्धं चोपदिशति। देव ! अस्मिन्कार्यसंदेहे भृत्यानामुपयोग एव ज्ञातव्यः। यतः–

दमनकने कह,–' देव ! यह अतिभयका कारण तो है, परन्तु क्या उसको मन्त्री कहा जा सकता है जो प्रथम मंत्रणा बिना कियेही राजाको स्थानत्याग करने, अथवा रणभूमिकी तैयारी करनेकी सलाह दे? और देखिये महाराज! इस प्रकारका कार्य संकट उपस्थित होनेही पर तो सेवक लोगोंकी योग्यताकी परीक्षा करना उचित है। कारण,–

**बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥७८॥'**

मित्र और स्त्री, दासगण, बुद्धि, बल और शरीरके सारको विपत्तिरूप कसौटी पत्थरसे पुरुष जानले * ॥ ७८ ॥'

सिंहो ब्रूते–'भद्र ! महती शङ्का मां बाधते'। दमनकः पुनराह स्वगतम्–'अन्यथा राजसुखं

* कसौटीपर कसकर जिस प्रकार सुवर्णके गुण दोष समझ लिये जाते हैं, विपदके समय परीक्षा करनेसे वैसेही कौन अपना सगा है यह ज्ञात हो जायगा।

परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुं कथं मां संभाषसे'। प्रकाशं ब्रूते-'देव! यावदहं जीवामि तावद्भयं न कर्तव्यम्। किन्तु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्तां यस्मादापत्प्रतीकारकाले दुर्लभः पुरुषसमवायः'।

सिंहने कहा,-'श्रेष्ठ! विषम शंका हमको व्याकुल करती है'। दमनकने मनही मन कहा,-'ऐसा न होनेसे राज्यसुख छोडकर दूसरे स्थानमें जानेकी वार्ता हमसे क्यों कहते?'। प्रगटमें कहा,-'महाराज! जबतक मैं जीता हूं तबतक आप भय न करें। परन्तु करटक इत्यादिकोंकोभी धीरज दीजिये। क्योंकि, विपद्के प्रतिकारके अर्थ आत्मीय लोगोंका मिलना दुर्लभ हुआ करता है'।

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा महाप्रसादेन पूजितौ भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ। करटको गच्छन् दमनकमाह-'सखे! किं शक्यप्रतिकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमयं महाप्रसादो गृहीतः। यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः। पश्य-

इसके उपरान्त राजाने जब उन करटक और दमनकको बडे मोलका राज्य प्रसाद देकर सम्मानित किया; तब वे उस भयके दूर करनेकी प्रतिज्ञा करके चले। करटकने जाते २ दमनकसे कहा,-'मित्र! इस भयके कारणको दूर करनेमें हम समर्थ हैं या असमर्थ? इसको विनाही जाने तुमने किस प्रकार भयके शान्ति करनेकी प्रतिज्ञा की और यह बडे मोलका राजप्रसाद ग्रहण किया? कारण कि, जो पुरुष जिसका कोईभी उपकार नहीं करसकता उसको उसके पाससे किसी प्रकारका उपहार न लेना चाहिये; तिसपर राजाका उपहार! देखो-

यस्य प्रसादे पद्मास्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥ ७३॥

* जिसकी प्रसन्नतासे धनकी वृद्धि हो, पराक्रमसे जय हो और क्रोधसे मृत्यु हो इसलिये सर्वतेजःपुञ्जही उसको जानना चाहिये ॥ ७९ ॥

तथाहि-बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८० ॥'

औरभी;-बालक समझकर भी राजाको तुच्छ न समझे क्योंकि राजामें + सब देवता मनुष्यरूपसे विराजमान हैं ॥ ८० ॥'

दमनको विहस्याह-'मित्र ! तूष्णीमास्यताम् । ज्ञातं मया भयकारणम, बलीवर्दनर्दितं तत् । वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्याः । किं पुनः सिंहस्य?'। करटको ब्रूते-' यद्येवं तदा किं पुनः स्वामित्रासस्तत्रैव किमिति नापनीतः?'। दमनको ब्रूते-' यदि स्वामित्रासस्तत्रैव मुच्यते तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात् । अपरं च-

दमनकने हंसकर कहा-' मित्र ! तुम चुपके बैठे रहो । मैंने स्वामीके भयका कारण समझ लिया है । एक बैल रम्भाया था और बैल तो हमाराही भोजन है फिर वह सिंहकाभी भोजन है, इस बातका तो कहनाही क्या ? '। करटकने

---

* शास्त्रमें कहा है कि,-इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ लोकपालोंका सारांश लेकर ब्रह्माजीने राजाको बनाया, इस कारण राजा सर्वतेजमय अर्थात् इन समस्त देवताओंके तेजसे राजा सदाही तेजस्वी रहता है । (मनु० सप्तम अध्याय ४-५-६-७ श्लोक देखो)

+ सर्व देवता-अर्थात् प्रधान देवता । राजा आठ लोकपालोंके सारांशसे उत्पन्न है, इसीलिये राजाका उमरमें बालक होनेपरभी उसको नररूपी प्रधान देवता समझना चाहिये । देवताकी अभक्ति करना और राजाकी अभक्ति करना एकही बात है और दोनोंसे एकही प्रकारका अधर्म होता है ।

(मनु० सप्तम अध्यायमें ८ श्लोक देखो)

कहा,–'जो ऐसाही है तो स्वामीका भय उसी समय क्यों दूर नहीं किया? ।' दमनकने कहा,–' जो स्वामीका भय उसी समय दूर करता, तब क्या वह बडे मोलका राजप्रसाद हमको मिलता ? और कहाभी है कि,—

निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत् ॥८१॥'

सेवकलोग स्वामीको कभी प्रयोजनरहित नहीं करै, स्वामीको प्रयोजनरहित करनेसे सेवकको दधिकर्णकी समान होना पडता है + ॥ ८१ ॥'

करटकः पृच्छति–'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति–

करटकने पूछा,–' यह कैसे ?' । दमनकने कहा—

कथा ३.

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रमः सिंहः। तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्रं कश्चिन्मूषकः प्रत्यहं छिनत्ति। ततः स केसराग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो विवरान्तर्गतं मूषकमलभमानोऽचिन्तयत्–' किं विधेयमत्र भवति। एवं श्रूयते–

उत्तरमें अर्बुदशिखरनामक पर्वतपर दुर्दान्त नाम अति पराक्रमी सिंह वास करता है। वह जब पर्वतकी गुहामें शयन करके रहता, तब एक चूहा प्रतिदिन आयकर उसके केसरके अग्रभागको कतरता, चूहेसे अपने केसरके अग्रभागको कतरता जानकर सिंह कोपायमान हुआ किन्तु चूहेको भट्टकमें लुके रहनेसे उसको न पकड सकनेपर सिंहने विचारा,–'इस सम्बन्धमें क्या करना चाहिये?अच्छा, ऐसा सुना है कि,–

+ प्रभु यदि समझे कि, इस सेवकसे हमारा अब कुछ मतलब नहीं रहा तब वह सेवकको परवाह नहीं करता, इस कारण बुद्धिमान् सेवक प्रभुका स्वार्थ सम्बन्ध जैसेतैसे रक्खै, नहीं तो दधिकर्ण बिलावकी समान उसकी वृत्ति बन्द होजायगी ॥

क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते ।
तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः ॥ ८२ ॥'

जो छोटा शत्रु हो और पराक्रमसे नहीं पकडा जाय तो उसका नाश करनेके लिये उसकेही समान सैनिक रक्खै ॥ ८२ ॥'

इत्यालोच्य तेन ग्रामं गत्वा विश्वासं कृत्वा दधिकर्णनामा बिडालो यत्नेनानीय मांसाहारं दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापितः । अनन्तरं तद्भयान्मूषकोऽपि बिलान्न निःसरति । तेनासौ सिंहोऽक्षतकेसरः सुखं स्वपिति । मूषकशब्दं यदा यदा शृणोति तदा तदा मांसाहारदानेन तं बिडालं सविशेषं संवर्धयति ।

सिंह मनही मन इस प्रकारका विचार करके गांवमें जाय दधिकर्णनामक एक बिलावको मांसादि भोजनके दानसे संतुष्ट कर परम यत्नसे लाय अपनी गुफामें स्थापन करता भया । तबसे उस बिलावके भयके मारे चूहा बाहर नहीं निकलता और सिंहभी अक्षतकेसर हो सुखकी नींदसे सोता । सिंह जैसेही चूहेका शब्द सुनता, तैसेही मांसका भोजन देकर उस बिलावको अधिकतासे प्रसन्न करता ।

अथैकदा स मूषकः क्षुधापीडितो बहिः संचरन् बिडालेन प्राप्तो व्यापादितः खादितश्च। अनन्तरं स सिंहोऽनेककालं यावन्मूषकशब्दं न शुश्राव तदोपयोगाभावात्तस्य बिडालस्याहारदाने मन्दादरो बभूव । ततोऽसावाहारविरहाद्दुर्बलो दधिकर्णोऽवसन्नो बभूव । अतोऽहं ब्रवीमि ' निरपेक्षो न कर्तव्यः ' इत्यादि । ततो दमनककरटकौ

संजीवकसमीपं गतौ। तत्र करटकस्तरुतले साटोपमुपविष्टः।

इसके उपरान्त एकदिन वह चूहा भूंखके मारे बाहर निकला था कि, बिलावने देख पाकर उसका प्राणसंहार करके उसे भक्षण करलिया। इसके पीछे जब उस सिंहने देखा कि चूहेका शब्द अब कभीभी नहीं सुनाजाता, तब उसने बिलावसे और कोई उपकार न समझकर उसको भोजन देनेमें यत्न करना छोड दिया, तब भोजनके न मिलनेसे दुर्बल हो दधिकर्ण दुःखित हुआ। इसीलिये मैं कहताहूं कि– " स्वामीको प्रयोजनरहित कभी न करै " इत्यादि। इसके उपरान्त दमनक और करटक संजीवकके निकट गये। करटक वहां वृक्षके तले व्यवस्थासे बैठ गया।

दमनकः संजीवकसमीपं गत्वाऽब्रवीत्–' अरे वृषभ! एषोऽहं राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः। सेनापतिः करटकः समाज्ञापयाति– सत्वरमागच्छ। न चेदस्मदरण्याद्दूरमपसर। अन्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति। न जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति?'। तच्छ्रुत्वा संजीवकश्चायात्। यतः–

दमनकने संजीवकके निकट जायकर कहा;–' अरे बैल! महाराज पिंगलकने हमको वनकी रक्षामें नियत किया है। सेनापति करटक तुमको आज्ञा करते हैं कि जलदी आओ। यदि नहीं आते तो इस वनसे दूर होओ। नहीं तो तुम्हारे लिये विपरीत फल फलेगा। जानता नहीं कि, स्वामी क्रोधित होकर क्या करेंगे?'। यह सुनकर संजीवक करटकके निकट आया। कारण,–

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः।
पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः ॥८३॥

राजाकी आज्ञाका न पालन करना, ब्राह्मणोंका आदर न करना, स्त्रियोंके पलंगसे

अलग रहना, इन सबको करना विना अन्नके मारना + हत्या है अर्थात् ये सब नहीं करने चाहिये ॥ ८३ ॥

ततो देशव्यवहारानभिज्ञः संजीवकः सभयमुपसृत्य साष्टाङ्गपातं करटकं प्रणतवान् । तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त देशाचारका न जाननेवाला वह संजीवक डरसहित करटकके समीप हो इसको साष्टांग प्रणाम करता भया । वैसा कहाभी है कि,—

मतिरेव बलाद्गरीयसी
यदभावात्करिणामियं दशा ।
इति घोषयतीव डिण्डिमः
करिणो हस्तिपकाहतः क्वणन् ॥ ८४ ॥

बलसे बुद्धिही बडी है, जिसके न रहनेसे हाथीकी यह दुर्बल अवस्था है, महावतभी हाथीकी गरदनपर प्रहार करकें यही मानो, *डुगडुगीसे ढंढोरा फेरता है८४॥

अथ संजीवकः साशङ्कमाह-'सेनापते ! किं मया कर्तव्यम्, तदभिधीयताम्' । करटको ब्रूते- 'वृषभ ! अत्र कानने तिष्ठसि । अस्मद्देवपादारविन्दं प्रणम' । संजीवको ब्रूते-' तदभयवाचं मे

+ पुरुष शस्त्रादिकसेही हत्या किया करते हैं । हत्या करना महापाप है, राजाकी आज्ञाका लांघना, ब्राह्मणोंमें अश्रद्धा, पति स्त्रीके अलग २ सोना; यह सब करना विना अस्त्रके हत्या करना है, अर्थात् हत्याकी समान महापाप है ।

* डुगडुगी;—एक प्रकारका बाजा । इसको बजायकर सब जगह राजाकी आज्ञा फेर दी जाती है । एक महावत हाथीकी पीठपर बैठ डुगडुगी बजाता है. इसीलिये कविने कहा—कि, डुगडुगी मानो जगत्में यही ढंढोरा फेरती है कि—बलसे बुद्धि बडी है, देखो,—एक छोटासा मनुष्य बुद्धिकी चतुरतासे बडे भारी हाथीकी पीठपर बैठ उसको इच्छानुसार चलाता है ।

यच्छ गच्छामि'। करटको ब्रूते-'शृणु रे बली-
वर्द! अलमनया शङ्कया। यतः-

इसके उपरान्त संजीवकने डरसहित कहा,-'हे सेनापते! हमें क्या करना होगा? सो कहिये'। करटकने कहा;-'अरे बैल! जो तेरी इस वनमें वास करनेकी इच्छा हो तो जायकर महाराजके चरणकमलमें गिर'। संजीवकने कहा;-'तो मुझको अभय दीजिये; मैं जाताहूं'। करटकने कहा,-'सुन रे बैल! तुझको यह भय नहीं करना होगा, कारण,-

प्रतिवाचमदत्त केशवः
शपमानाय न चेदिभूभुजे।
अनु हुंकुरुते घनध्वनिं
न हि गोमायुरुतानि केसरी॥ ८५॥

कोसते हुए शिशुपालको श्रीकृष्णजीने उत्तर नहीं दिया, कारण कि,-मेघकी ध्वनिपर सिंह गर्जता है (कुछ) शृगालके शब्दपर शब्द नहीं करता *॥ ८५॥

अन्यच्च-तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान्महत्येव करोति विक्रमम्॥ ८६॥'

औरभी;-सब प्रकारसे नीचेको झुके हुए और कोमल तिनकेको पवन नहीं उखाडता, अति ऊंचे वृक्षोंकोही उखाडता है, क्योंकि बडा पुरुष बडेही पुरुषपर पराक्रम करता है॥ ८६॥'

---

* मूलश्लोक माघकविके बनाये शिशुपालवध काव्यके सोलहवें सर्गमें है. युधिष्ठिरकी राजसूय सभामें श्रीकृष्णजीको सबसे पहले अर्घ पाता हुआ देखकर, चेदिपति शिशुपालने क्रोधसे अन्धा हो श्रीकृष्णको अनेक दुर्वचन कहे। श्रीकृष्णजीने कोई उत्तर नहीं दिया; श्रीकृष्णजीने शिशुपालके दुर्वचनोंका उत्तर किस कारणसे नहीं दिया वही यहांपर सारथिने शिशुपालसे कहा है।

ततस्तौ सञ्जीवकं कियद्दूरे संस्थाप्य पिङ्गलक-समीपं गतौ । ततो राज्ञा सादरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ । राजाऽऽह-' त्वया स दृष्टः ?' । दमनको ब्रूते-' देव ! दृष्टः' किंतु यद्देवेन ज्ञातं तत्तथा । महानेवासौ देवं द्रष्टुमिच्छति । ततः सज्जीभूयोपविश्यताम् । शब्दमात्रादेव न भेतव्यम् । तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त वे दोनों संजीवकको थोडी दूर पर ठहराय पिंगलकके निकट गये । तिसके पीछे राजाने जब इनको आदरसहित देखा तब वे दोनों प्रणाम करके बैठ गये । पिंगलकने पूंछा,-' क्यों ? उसको देखा ? ' । दमनक बोला;-' महाराज ! उसको देखा है । महाराजने उसका शब्द सुनकर जैसा विचारा था, वह ठीक वैसाही है । वह अतिशय बलवान् महाराजके दर्शनकी इच्छा करता है । आप सजधजकर बैठ जाइये । परन्तु उसका शब्द सुनतेही आप डर न जाँय । ऐसा कहाभी है कि;—

शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम् ।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टिनी गौरवं गता ॥ ८७ ॥'

* भयका कारण न जानकर केवल शब्दसेही भय करना कर्त्तव्य नहीं है, शब्दका निमित्त जानकर कुटनीने आदर पाया था ॥ ८७ ॥'

राजाऽऽह-' कथमेतत् ?' । दमनकः कथयति-

राजाने पूछा,-' यह कैसे ? ' । दमनकने कहा;—

* ८७ संख्याके श्लोकसे पहले किसी २ पुस्तकमें एक श्लोक अधिक है । नीचे अनुवादके सहित वह श्लोक लिखताहूं;—

" अम्भसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः ।
पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो वाग्भिर्भिद्यते कातराः ॥ "

अर्थात् जलके प्रवेश करनेसे सेतु टूट जाताहै, मंत्र प्रकाश होनेपर नष्ट होजाताहै, खलतासे स्नेह टूट जाताहै और कायर वचनसेही मनोरथ हीन होजाताहै ॥

कथा ४.

अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम् । तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति जनप्रवादः श्रूयते । एकदा घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः । तत्पाणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता । वानरास्तां घण्टामनुक्षणं वादयन्ति । ततो नगरजनैः स मनुष्यः खादितो दृष्टः प्रतिक्षणं घण्टारवश्च श्रूयते । अनन्तरं घण्टाकर्णः कुपितो मनुष्यान् खादति घण्टां च वादयतीत्युक्त्वा सर्वे जनाः नगरात्पलायिताः ।

श्रीपर्वतके मध्यमें ब्रह्मपुरनाम एक नगर है । वहां पर्वतके शिखरपर घंटाकर्ण नामक एक राक्षस वास करताहै, सब लोग ऐसाही कहते हैं । एकसमय एक चोर घंटा चुराकरके भागता था; कि इतनेमें एक व्याघ्रने आयकर उसका प्राणसंहार किया । एक वानरने उसकें हाथमें स्थित हुए घंटेको देखा । वानरगण घंटा लेकर सब समय बजाते थे । इस ओर उस नगरके लोगोंने देखा कि एक मनुष्यको किसीने भक्षण कर लिया है और घंटेका शब्द सुना जाताहै । तब सबही कहने लगे,–घंटाकर्ण राक्षस क्रोधित होकर मनुष्य भक्षण करता और घंटा बजाता है। ऐसा कहकर समस्त लोग नगरसे भाग गये ।

ततः करालनाम्न्या कुट्टिन्या विमृश्यानवसरोऽयं घण्टावादः । तत्किं मर्कटा घण्टां वादयन्तीति स्वयं विज्ञाय राजा विज्ञापितः–'देव ! यदि कियद्धनोपक्षयः क्रियते, तदाऽहमेनं घण्टाकर्णं साधयामि ।' ततो राज्ञा तस्यै धनं दत्तम् ।

कुट्टिन्या च मण्डलं कृत्वा तत्र गणेशादिपूजा-गौरवं दर्शयित्वा स्वयं वानरप्रियफलान्यादाय वनं प्रविश्य फलान्याकीर्णानि । ततो घण्टां परित्यज्य वानराः फलासक्ता बभूवुः । कुट्टिनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता सर्वजनपूज्या-ऽभवत् । अतोऽहं ब्रवीमि-' शब्दमात्रान्न भेतव्यम् ' इत्यादि ॥

इसके उपरान्त करालनामक एक कुटनीने मनहीमन विचार किया-कुसमयमें इस प्रकारसे घंटा क्यों बजैगा ? तो वह समझी वानर लोगही ऐसा घंटा बजाते हैं । वह स्वयं उसका अनुसन्धान कर राजाके यहां जाय बोली,-' महाराज ! जो कुछ धन खर्च करैं तो मैंही घंटाकर्णका संहार कर सकती हूं ।' राजाने सन्तुष्ट होकर उसको धन दान किया । कुटनीभी मंडलरेखा रचना करके उसमें गणेशादि देवताकी पूजाका आडम्बर दिखाती * भयी । इसके उपरान्त वानरोंके लुभानेवाले कुछ फल अपने हाथमें ले, वनमें जाय फल वहां रखदिये । तिससे वानर लोग वह घंटा फेंक उन फलोंके खानेमें लगे । कुटनीभी उस सुयोगमें घंटा ले नगरमें आई । और समस्त लोग उसकी पूजा करने लगे, इसीलिये मैं कहता हूं कि, ' भयका कारण न जानकर शब्दमात्रसेही भय करना कर्तव्य नहीं है ' इत्यादि ।

ततः सञ्जीवक आनीय दर्शनं कारितः । पश्चा-त्तत्रैव परमप्रीत्या निवसति ।

इसके उपरान्त उन्होंने संजीवकको लेजायकर राजाके साथ उसका साक्षात् कराया । इसके पीछे, वह सिंह और वृषभ हिलमिलकर उस वनमें बहुत दिनोंतक वास करते रहे ।

---

* हरिद्राकी पांच वर्णके आटेसे मंडलाकार रेखा खैंचकर उसमें गणेशादि देवताका आवाहन करके पूजा की जाती है । धूर्त्त कुटनीने देवताके अनुग्रहसे राक्षसको मारेगी यह प्रगट करनेके लिये ऐसा छल किया ।

अथ कदाचित्तस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा सिंहः समागतः तस्यातिथ्यं कृत्वा समुपवेश्य पिङ्गलकस्तदाहाराय पशुं हन्तुं चलितः। अत्रान्तरे संजीवको वदति-'देव!अद्य हतमृगाणां मांसानि क्व ?' राजाह-'दमनककरटकौ जानीतः।' संजीवको ब्रूते-ज्ञायतां किमस्ति नास्ति वा'। सिंहो विमृश्याह-'नास्त्येव तत्'। संजीवको ब्रूते-कथमेतावन्मांसं ताभ्यां खादितम् ?'। राजाह-'खादितं व्ययितमवधीरितं च। प्रत्यहमेष क्रमः'। संजीवको ब्रूते-'कथं श्रीमद्देवपादानामगोचरेणैवं क्रियते ?'। राजाह-'मदीयागोचरेणैव क्रियते'। अथ संजीवको ब्रूते-'नैतदुचितम्। तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त एक दिन उस सिंहका भ्राता स्तब्धकर्णनामक एक सिंह वहां आया। पिंगलक उसकी पूजा करके और यथायोग्य आसनपर बैठाय उसके भोजनके अर्थ पशु मारनेको चला। इसी अवसरमें संजीवकने कहा;-'महाराज ! आपने आज जो समस्त पशु मारे थे उन सबका मांस कहां गया?।' राजाने कहा;-'ये दमनक और करटक कह सकते हैं'। संजीवक बोला;-'जान लीजिये, है अथवा नहीं ?'। सिंहने हंसकर कहा;-'वह निश्चय नहीं है'। संजीवकने कहा;-'इतना मांस उन्होंने किस प्रकारसे खाया ?'। राजाने कहा;-'खाया, उडाया, फेंकदिया। प्रतिदिन ऐसाही किया करते हैं'। संजीवकने पूछा-'वे लोग क्या श्रीमहाराजको न जानकर ऐसा करते हैं ?'। राजा बोला;-'हमारे विना जानेही ऐसा करते हैं'। संजीवकने कहा;-'ऐसा करना ठीक नहीं। कहाभी है कि-

नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किंचिदपि स्वयम्।
कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपतेः ॥ ८८ ॥

विपद्को दूर करनेके सिवाय स्वामीसे निवेदन न करके अपने आप कोई काम नहीं करना चाहिये ॥ ८८ ॥

अन्यच्च-कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो बहुग्रहः ।
नृपते ! किंक्षणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः ॥ ८९ ॥

औरभी,-जिस प्रकार कमंडलु मुखसे बहुत जल ग्रहण करता है और नालसे थोडा थोडा जल छोडता है, ऐसेही मन्त्री अनेक मुद्रादि बटोरै और थोडा व्यय करै, क्योंकि हे महाराज ! क्षणमात्र न पढनेसे क्या मूर्ख होगा ? यह मनमें समझकर आलस्य करता है वह पुरुष मूर्ख है, और एक कौडीको संचय करनेसे क्या होगा ? ऐसा विचारनेसे दरिद्र होता है ॥ ८९ ॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान्काकिणीं यः प्रवर्धयेत् ।
कोशः कोशवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः ९०॥

वही मन्त्री सदा अच्छा है जो कौडीको बढावै क्योंकि कोशाधिकारी (राजा) का कोश (खजाना) ही प्राण है, राजाका प्राण प्राण नहीं है ॥ ९० ॥

किं चान्यैर्न कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।
धनहीनः स्वपत्न्याऽपि त्यज्यते किं पुनः परैः ॥९१॥

औरभी,-कुलाचारसेभी पुरुष नहीं माना जाता, क्योंकि निर्द्धन होजानेपर अपनी स्त्रीभी त्याग करदेती है, परायेकी तो बात क्या ? ॥ ९१ ॥

एतच्च राज्ञः प्रधानं दूषणम् । पश्य-

राजाके लिये यह बडाही दोष है । देखो,-

अतिव्ययोऽनवेक्षा च तथाऽऽर्जनमधर्मतः ।
पोषणं दूरसंस्थानां कोशव्यसनमुच्यते ॥ ९२ ॥

धनादिकका अधिक व्यय, उसको (धनको) न देखना, अधर्मसे बटोरना, दूरवाले लोगोंका पोषण करना, यह सब भाण्डार (कोश) के* व्यसन कहलाते हैं ९२॥

* अर्थात् इन सब दोषोंसे राजाका धनागार अवश्यही नष्ट होजाता है ।

यतः–क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।
परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥ ९३ ॥'

कारण;–शीघ्र आमदनीको न देखकर अपनी इच्छानुसार खर्च करनेसे कुबेरकी समान धनवान्भी दरिद्री होता है ॥ ९३ ॥'

तदाकर्ण्य स्तब्धकर्णो ब्रूते–'शृणु भ्रातः ! चिराश्रितावेतौ दमनककरटकौ सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ । अपरं च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुतं तत्कथ्यते–

यह सुनकर स्तब्धकर्णने कहा;– सुन भाई ! तुम्हारे पुराने सेवक यह दमनक और करटक सन्धि और विग्रहके कार्यमें नियुक्त हैं, इनके ऊपर धनका भार देना उचित नहीं है। किस प्रकारके पुरुषको धनाधिकारपर नियुक्त करना चाहिये, इसके प्रसंगमें हमने जो कुछ सुना है वह कहताहूं, सुनो—

ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते ।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥९४॥

ब्राह्मण, क्षत्री और बान्धव ये अधिकारपर ठीक नहीं, ब्राह्मण सिद्ध हुआ धन कष्टसेभी नहीं देता ॥ ९४ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम् ।
सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९५ ॥

क्षत्री धनपर नियुक्त होजाकर अवश्य शस्त्र दिखाता है, बन्धु जातिपनसे पचायकर समस्त ग्रास कर लेता है ॥ ९५ ॥

अपराधेऽपि निश्शङ्को नियोगी चिरसेवकः ।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ ९६ ॥

बहुत समयका दास कार्यमें नियुक्त होकर अपराध करनेमेंभी शंकारहित होजाता है और वह प्रभुको तुच्छ करके इच्छानुसार आचरण करता है ॥ ९६ ॥

उपकर्ताऽधिकारस्थः स्वापराधं न मन्यते ।
उपकारं ध्वजीकृत्य सर्वमेवावलुम्पति ॥ ९७ ॥

उपकारी पुरुष अधिकारी होकर अपना अपराध नहीं मानता; उपकारकी ध्वजा करके समस्तही धन हरण करता है ॥ ९७ ॥

उपांशु क्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।
अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद् ध्रुवम् ॥ ९८ ॥

खेलका साथी मन्त्री आपही राजाकी समान आचरण करता है और वह सदाके परिचयसे निश्चय अवज्ञा (निरादर) करता है ॥ ९८ ॥

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।
शकुनिः शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते ! ॥ ९९ ॥

अन्तःकरणके दुष्ट और प्रत्यक्षमें क्षमावान् जो हैं सो निश्चय करके अनर्थ करनेवाले होते हैं । हे महाराज ! इसमें दृष्टान्त राजा दुर्योधनका मंत्री शकुनि और शूद्रक राजाका मन्त्री शकटार है * ॥ ९९ ॥

सदाऽमात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।
सिद्धानामयमादेश ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ॥ १०० ॥

मन्त्री सदा साध्य नहीं, कारण कि, सबही धनवान् होते हैं, क्योंकि सिद्ध लोगोंकी यह × आज्ञा है कि, धन चित्तको विकारी करदेता है ॥ १०० ॥

* शकुनि-कुरुराज दुर्योधनका मामा और मंत्री था । कपटी शकुनिका खोटा परामर्श सुनकर अन्तमें राजा दुर्योधनका नाश हुआ । शकटार-नन्दराजाका मन्त्री था । चाणक्यने जब क्रोधित होकर नन्दवंशके संहार करनेका संकल्प किया, तब कृतघ्न शकटारने पीछे २ चाणक्यके जालमें मिल अपने स्वामीका विनाश कराया ।

× "सिद्ध लोगोंकी यह आज्ञा" जो लोग तपस्यासे सिद्धिलाभ करके अलौकिक सामर्थ्यको प्राप्त होते हैं; जिनकी बात कभी मिथ्या नहीं होती; उनको सिद्ध कहते हैं । वे कहते हैं कि-हाथमें धन पातेही पुरुषका मन बिगड जाता है. फिर उसको ठीक मार्गपर नहीं रक्खा जाता है इस कारण जिस कर्मचारीके हाथमें राजाका खजाना रहै, राजा सदा सावधानीसे उसके कार्यकी देख भाल करता रहै ।

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम् ।
उपेक्षा बुद्धिहीनत्वं भोगोऽमात्यस्य दूषणम् ॥१०१॥

प्राप्त धनका ग्रहण करना, * द्रव्यका परिवर्तन, उपरोधन, उपेक्षा और निर्बुद्धित्व और भोग ये सब मन्त्रीके दोष हैं ॥ १०१ ॥

नियोगार्थग्रहोपायो राज्ञां नित्यपरीक्षणम् ।
प्रतिपत्तिप्रदानं च तथा कर्मविपर्ययः ॥ १०२ ॥

नियुक्त पुरुषके स्थानमें धन लेनेका उपाय और राजपुरुषोंकी प्रतिदिन परीक्षा, प्रतिपत्ति करना और अधिकारका बदलना यह उचित है + ॥ १०२ ॥

निपीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं महीपते ! ।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः॥ १०३ ॥

बुरा फोडा जिस प्रकार अतिशय पीडित होनेपर भीतरका सारतक खेंचलेता है, हे महाराज ! वैसेही अधिकारवाले लोग अतिशय पीडित होनेपर भीतरकी वस्तुको भी बाहर निकाल देते हैं × ॥ १०३ ॥

मुहुर्नियोगिनो बोध्या वसुधारा महीपते ! ।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद्द्रुतं पयः ॥१०४॥

---

* ' द्रव्यका परिवर्त्तन ' जो मन्त्री खजानेसे बडे मोलके द्रव्य पचाय उसके बदले घटिया मूल्यके वैसेही द्रव्य वहां रख देता है ।

+ किसी कर्मचारीकोभी एकही ओहदेपर और एकही स्थानपर सदा नहीं रक्खै । समय २ उस पदपर औरको नियुक्त करे और पहले कर्मचारीको दूसरे ओहदेपर रखना उचित है; ऐसा न करनेसे कर्मचारी लोगोंके अन्याय कर्म पकडे नहीं जाते ।

× जिस फोडेके भीतर पीप इकट्ठी रहती है, उसको बुरा फोडा कहते हैं । खूब जोर करके न दाबनेसे जिस प्रकार फोडेके भीतरसे पीप बाहर नहीं होसकती है; वैसेही विना पीडित किये कर्मचारीके पास राजाकी बाकीके रुपये अदा नहीं होते; वे कर्मचारी जराभी आल कस पायकर उनको पचा जानेकी चेष्टा करते हैं ।

हे महाराज ! नियुक्त लोगोंको बारंबार परखना चाहिये, एकबारहीके पीडन करनेसे क्या स्नानवस्त्र बहुत जल छोड देता है ? + ॥ १०४ ॥

एतत्सर्वं यथावसरं ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यम्' । सिंहो ब्रूते–'अस्ति तावदेवम् । किं त्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ ।' स्तब्धकर्णो ब्रूते–'एतत्सर्व-मनुचितं सर्वथा ।

यह सब विशेषरूपसे जानबूझकर राजा कर्मचारीलोगोंके ऊपर जब जैसा व्यवहार करना कर्तव्य हो वैसा करै '। पिंगलकने कहा–' हां ! यह सब सत्य है, परन्तु दमनक और करटक किसी प्रकारसे भी हमारी आज्ञाका पालन नहीं करते '। स्तब्धकर्णने कहा,–' यह बडेही दोषकी बात है ।

यतः–आज्ञाभङ्गकरान्राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि ।
विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च ॥१०५॥

कारण,–राजाको आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले अपने पुत्रगणोंको भी क्षमा नहीं करना चाहिये, नहीं तो इससे और चित्रित राजासे विशेष क्या है ? * ॥ १०५ ॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ १०६ ॥

+ स्नान करके कपडेको जितनी वार जोरसे निचोडा जायगा, उतनीही वार उससे जल निकलता रहेगा । इसी प्रकारसे राजा नियोगी अर्थात् कर्मचारीलोगोंको जितनाही पीडा देगा, उतनाही रुपया उनके निकट अदा होगा ।

*" चित्रित–राजा " तसवीरमें खिंचेहुए और जीवित राजामें कुछभी नीच ऊंच नहीं है । अर्थात् जो राजाकी आज्ञाही नहीं मानी गई तो अचेतन चित्रकी पुतलीके समान उसका रहना न रहना बराबर है ।

आलसीका यश नष्ट होजाता है, अश्रेष्ठ लोगोंकी मित्रता नष्ट होती है, अजितेन्द्रियका कुल नष्ट होता है, * व्यसनी की विद्या नष्ट होती है, कृपण जनका सुख नष्ट होता है और जिस राजाका मन्त्री मतवाला है उसका राज्य नष्ट होता है॥१०६

तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपवल्लभात्।
नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत्पितेव हि ॥ १०७॥

चोरसे, नियुक्त पुरुषसे, शत्रुसे, राजाके प्रियजनसे और अपने लोभसे प्रजागणोंकी राजा पिताकी समान रक्षा करै + ॥ १०७ ॥

भ्रातः! सर्वथाऽस्मद्वचनं क्रियताम्। व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव। अयं सञ्जीवकः सस्यभक्षकोऽर्थाधिकारे नियुज्यताम्'। एतद्वचनात्तथाऽनुष्ठिते सति तदारभ्य पिङ्गलकसंजीवकयोः सर्वबन्धुपरित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्तते। ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने शैथिल्यदर्शनाद्दमनककरटकावन्योन्यं चिन्तयतः। तदाऽऽह दमनकः करटकम्—'मित्र! किं कर्त्तव्यम्? आत्मकृतोऽयं दोषः। स्वयं कृतेऽपि दोषे परिदेवनमप्यनुचितम्। तथा चोक्तम्—

---

* "व्यसनी" अर्थात् किसी नशेके वश होना;—शराब पीना, जुआ खेलना, वेश्या गमन, दिनमें सोना इत्यादिको व्यसन कहते हैं।

+ 'नियुक्त पुरुषसे' इत्यादि—जो कर्मचारी राजकर लेते, या शांतिरक्षामें नियुक्त रह प्रजापीडन करतेहैं। वैदेशिक शत्रु इत्यादि राजाके प्रियपात्र कहलानेके साहससे जो लोगोंके ऊपर अत्याचार करते हैं। 'अपने लोभसे' अर्थात् राजा अपने निजके लोभसे, जो राजा स्वयं लोभी हुआ तो प्रजाके कष्टका ठिकाना नहीं रहता।

हे भ्रातः ! सब प्रकारसे हमारा वाक्य ग्रहण कर, हमनेभी व्यवहार किया है, और यह सञ्जीवक सस्यभक्षक है; अर्थाधिकारमें इसको नियत कर ।' स्तब्धकर्णके वचनसे वैसाही हुआ; तबसे पिंगलक और संजीवक समस्त बन्धुपरित्याग करके दोनों परम स्नेहसे समय बिताने लगे । इसके उपरान्त दासलोगोंके आहार देनेमेंभी शिथिलता देखनेके हेतु दमनक व करटक परस्पर विचार करते २ दमनकने करटकसे कहा,-' मित्र ! क्या करना चाहिये ? यह दोष तो हमाराही है अपनेही आप दोषकरके पछतानाभी अनुचित है । कहाभी है कि,-

स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा बद्ध्वाऽऽत्मानं च दूतिका ।
आदित्सुश्च मणिं साधुः स्वदोषाद्दुःखिता इमे १०८॥'

मैं स्वर्णरेखाको स्पर्श करके, दूती अपनेको बांधकर और साधू आप रत्न लेनेकी इच्छा करके अपने दोषसेही ये लोग दुःखित हुए हैं * ॥ १०८ ॥'

करटको ब्रूते-' कथमेतत् ? ' । दमनकः कथयति-

करटकने पूछा,-' यह किस प्रकार ?' । दमनक कहने लगा-

कथा ५.

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो राजा । तस्य धर्माधिकारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः कन्दर्पकेतुनाम्ना परिव्राजकेन साधुद्वितीयकेन नायं हन्तव्य इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः । राजपुरुषा ऊचुः-' किमिति नायं वध्यः ? ' । स आह-' श्रूयताम् ।' ' स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा ' इत्यादि पठति । ते आहुः-' कथमेतत ? ' ।

---

* एक चित्रपटपर विद्याधरीकी मूर्ति खिंचरही थी; उस चित्रित विद्याधरीका नाम ' स्वर्णरेखा ' था । ' साधु '-साध सौदागर, बनिया, शिल्पी । ' दूती ' कुटनी ।

काञ्चनपुरनामक नगरमें वीरविक्रमनामक एक राजा रहता था। उसका धर्माधिकारी (क) एक नापित (नाई) को वध्यभूमि (ख) में ले जा रहा था इसी समयमें कन्दर्पकेतु एक संन्यासी एक साधुके (ग) साथ वहां पहुंचकर कहने लगा,–'यह पुरुष अपराधी नहीं है, इसकी मत हत्या करो' यह कहकर उसने नाईके वस्त्रका अंचल पकड लिया। राजपुरुषोंने (घ) पूछा;–'यह पुरुष किसलिये वधके योग्य नहीं है?'। संन्यासीने कहा,–'श्रवण करो' यह कहकर उसने "मैं स्वर्णरेखाको स्पर्श करके" यह श्लोक फिरसे पढा। राजपुरुषोंने पूछा,–'यह किस प्रकार?'।

परिव्राजकः कथयति–अहं सिंहलद्वीपे भूपतेर्जीमूतकेतोः पुत्रः कन्दर्पकेतुर्नाम। एकदा केलिकाननावस्थितेन मया पोतवणिङ्मुखाच्छ्रुतं यदत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के स्थिता सर्वालङ्कारभूषिता लक्ष्मीरिव वीणां वादयन्ती कन्या काचिद् दृश्यत इति। ततो मया पोतवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गत्वा पर्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव साऽवलोकिता। ततस्तल्लावण्यगुणाकृष्टेन मयाऽपि तत्पश्चाज्झम्पो दत्तः।

(क) 'धर्माधिकारी'–राजाके विचारकार्यमें नियुक्त, जज् मजिष्ट्रेट् और पुलिसके दरोगा इत्यादि।

(ख) 'वध्यभूमि'–राजाकी आज्ञासे अपराधीको जिस स्थानमें प्राणदंड दिया जाता है।

(ग) 'परिव्राजक'–संन्यासी, अवधूत। 'साधु' सौदागर।

(घ) 'राजपुरुष'–राजकर्मचारी, पुलिस या अदालतका पुरुष।

संन्यासीने कहा—मैं सिंहलके राजा जीमूतकेतुका पुत्र हूं, मेरा नाम कन्दर्पकेतु है, मैं एक दिन केलिकाननमें (क) विराजमान था कि, इतनेमें एक पोतवणिक् (ख) ने आयकर कहा कि,—"चौदसके दिन इस समुद्रसे एक कल्पवृक्ष (ग) निकलता है; इस वृक्षके तले विविधमणियोंकी प्रभासे सुराञ्जित विचित्र पलंगके ऊपर बैठ, सब गहनोंसे भूषित साक्षात् लक्ष्मीकी समान एक कन्या वीणा बजाया करती है, ऐसा मैंने देखा है।" इसके उपरान्त मैं उस पोतवणिकको संग लेकर नावमें सवार हो वहांपर गया। वहां जायकर देखा, पोतवणिकने जिस प्रकार कहा था, यह नारी ठीक वैसीही है। मैं उस स्त्रीके रूपलावण्यसे मोहित हो समुद्रके जलमें कूदपडा और उस स्त्रीके संग दो ही जलमें डूबगया।

तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिराभिनवयौवनाभिरुपास्यमाना मयाऽऽलोकिता। तयाऽप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं संभाषितः। तत्सख्या च मया पृष्टया समाख्यातम्—' एषा कन्दर्पकेलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम प्रतिज्ञापिता विद्यते। यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषाऽऽगत्य पश्यति स एव पितुर्गोचरोऽपि मां परिणेष्यतीति मनसः संकल्पः। तदेनां गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान्'।

इसके उपरांत देखा कि एक सुवर्णमयी पुरीके बीचमें आय पहुंचाहूं। देखा कि—' सुवर्णकी अटारीमें वह कन्या वैसेही पलंगपर बैठी है और चारों ओर नव-

(क) 'केलिकानन'—बाग, कुञ्जवन, बैठक इत्यादि विहारके स्थान।
(ख) 'पोतवणिक्'—सौदागर जो समुद्रके मार्गसे वाणिज्य करता है।
(ग) 'कल्पवृक्ष'—सुरपति इन्द्रके नन्दनवनमें एक वृक्ष है। कल्पवृक्षके निकट जायकर जो इच्छा करो सो मिलता है!

युवातियें विद्याधरांगण उसकी सेवामें लगी हुई है। कन्याने भी दूरसे मुझको देखते ही सहेली भेज परम आदर सम्मानसे मेरा आगतस्वागत किया। जब मैंने उस सहेलीसे पूछा तब उसने कहा,–'यह कन्दर्पकेलिनामक * विद्याधरचक्रवर्तीकी कन्या है, इसका नाम रत्नमंजरी है। इसने एक प्रतिज्ञा की है कि–"जो पुरुष इस स्थानमें आयकर अपने नेत्रोंसे इस सुवर्णपुरीको देखेगा, उसकोही मैं वरमाला दूंगी" इसलिये आप इसके + गान्धर्वविवाह करलें।'

अथ तत्र वृत्ते गान्धर्वविवाहे तया सह रममाणस्तत्राहं तिष्ठामि। तत एकदा रहसि तयोक्तम्–'स्वामिन्! स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम्। किन्तु एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित्स्प्रष्टव्या'। पश्चादुपजातकौतुकेन (माता) स्वर्णरेखा स्वहस्तेन मया स्पृष्टा। तया चित्रगतयाऽप्यहं चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः।

इसके उपरान्त गांधर्वविधानसे विवाह होगया। मैंने वहां उसके साथ परमानन्दसे बहुत दिन बिताये। एक दिन विद्याधरकी पुत्रीने गुप्तभावसे कहा–'नाथ! आप इस स्थानकी समस्त वस्तुएँ इच्छानुसार भोग करें, केवल इस चित्रपटमें जो स्वर्णरेखानामक विद्याधरी चित्रित है, इसको आप कदापि न स्पर्श करें।' एक समय बहुतही कौतूहलके वश हो मैंने वह चित्रपट अपने हाथसे छुआ, जैसेही छुवा कि वैसेही उस चित्रित मूर्तिने मेरे ऐसी लात मारी कि मैं एकवारही अपने राज्यमें आनकर गिरपडा।

अथ दुःखार्तोऽहं परिव्राजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र चातिक्रान्ते दिवसे

---

* 'विद्याधरचक्रवर्त्ती'–विद्याधरजातीय राजमंडलका अधीश्वर। 'विद्याधर' देवयोनिविशेष। यक्ष और अप्सरासे इस जातिकी उत्पत्ति है।

× वर कन्या परस्पर प्रेमबंधनसे बँध, दूसरेको इच्छानुसार वरण करलेते हैं उसको गान्धर्वविवाह कहते हैं।

गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम् । प्रदोषसमये सुहृदां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत । ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुप्तः । ततोऽर्धरात्रे एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्याऽवदत्–' तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते ।

इसके उपरांत मैं उस विद्याधरकी पुत्रीके विरहशोकमें संसार छोड इस प्रकारसे संन्यासी हो घूमता फिरता हूं । पृथ्वीके अनेक स्थानोंमें घूमते २ मैं इस नगरीमें आय पहुंचा हूं । इस स्थानमें पिछले दिन एक गोपके गृहमें विश्राम करते २ मैंने देखा कि,–संध्याके समय सुहृदोंका पालन कर गृहपर आयकर गोपने देखा कि उसकी स्त्री एक दूतीके साथ कुछ सलाह कर रही है । यह देखकर उसने स्त्रीको मारा और उसको * स्तंभमें बांध रखकर आप जायकर शयन करता भया । इसके उपरान्त दो पहर रात गये पीछे नाईकी स्त्री वही दूती फिर उस गोपीके निकट आयकर बोली कि,–' × तुम्हारा नायक तुम्हारे विरहकी आगमें भस्म और काम बाणोंके प्रहारसे जर्जर होरहा है, उसके प्राण जाते हैं ।

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्तितुमागता । तदहमत्रात्मानं बद्ध्वा तिष्ठामि । त्वं तत्र गत्वा तं संतोष्य सत्वरमाग-

---

* " स्तम्भ "–घरका थंभ या खुंटी ।

× किसी २ पुस्तकमें नीचे लिखा श्लोक अधिक है यथा,–तथा चोक्तम्–

श्लोक–" रजनीकरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि ।
यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः ॥ "

अनुवाद । कहाभी है कि;–रात्रिमें चन्द्रमा करके अन्धकारका विनाश होनेपर कामदेव देख कर युवा लोगोंके मनको बींधता है ।

मिष्यासि ।' तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धो-ऽवदत्–' इदानीं त्वं जारान्तिकं कथं न यासि' । ततो यदाऽसौ न किंचिदपि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः 'दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासि' इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्त्रिकामादायास्या नासिका छिन्ना । तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः ।

मैं उसकी ऐसी अवस्था देख अत्यन्त दुःखी हो, तेरी विनय करने आई हूं, तुम शीघ्र जायकर उसको समझाय अति शीघ्र लौट आना, मैं तबतक इस स्तम्भमें अपनेकोही बांध रखती हूं ।' इसके उपरान्त ऐसाही होनेके पीछे उस गोपने जाग स्त्रीको पुकार कहा,–' क्यों अभीतक तू अपने यारके पास नहीं गई ? ' इस बात-पर जब उस दूतीने कोई उत्तर नहीं दिया तब गोपने क्रोधित होकर कहा;–'क्या तुझे इतना बडा गर्व है ?' यह कह क्रोधसे कटारी लाय उसकी नाक काट डाली । स्त्री समझ दूतीकी नाक काटकर गोप फिर सो रहा।

अथागत्य गोपी दूतीमपृच्छत्–'का वार्ता ?' । दूत्योक्तम्–' पश्य माम्, मुखमेव वार्तां कथयति' । अनन्तरं सा गोपी तथा कृत्वाऽऽत्मानं बद्ध्वा स्थिता । इयं च दूती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता । ततः प्रातरेवानेन नापितेन क्षुरभाण्डं याचिता सती सा तस्मै क्षुरभाण्डमदत्त्वा क्षुरमेकं प्रादात् । ततः समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान् । अथ कृतार्तरावेयं विनाऽपराधेन मे नासिकाऽनेन छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेन

मानीतवती । सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच-'अरे पाप! को मां महासतीं विरूपयितुं समर्थः । मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति । यतः-

इसके उपरान्त गोपीने आयकर दूतीसे पूछा;-' क्या वृत्तान्त है ? '। दूतीने कहा;-' मुझको देख, मुखही वृत्तान्त कह देता है '। इसके पीछे पहलेकी समान गोपी अपनेको थंभमें बांधकर रही; दूतीभी अपनी कटी हुई नाकको लेकर अपने गृहको चली गई । इसके उपरान्त नाईने जब अपनी स्त्रीसे क्षुरभाण्ड (किसवत) लानेको कहा, तब नाईकी स्त्री (उस दूती) ने समस्त क्षुरभाण्ड न देकर केवल एक उस्तरा दूरसे अपने स्वामीके निकट फेंकदिया । स्त्रीके इस व्यवहारसे नाईने क्रोधित होकर उस उस्तरेको ले दूरसे घरमें फेंक दिया । नायन उसी समय चिल्लाकर रो उठी और कहने लगी;-' देखो ! इसने विना अपराध मेरी नाक काटली' । उसने यह कह न्यायालय (कचहरी) में जाय स्वामीको विचारपतिके निकट उपस्थित किया । इस ओर उस गोपने फिर उठकर गोपीसे पूछा, गोपीने कहा,-' अरे पापी ! किसकी सामर्थ्य है जो मेरी समान परम सातीको शस्त्राघातसे अंगहीन करसके । मैं कितनी बडी सती हूं, इस बातके साक्षी (गवाह) आठों लोकपाल हैं । कारण,-

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ १०९ ॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, स्वर्ग, पृथ्वी, जल, हृदय,यम, दिन, रात, दोनों संध्या और धर्म यह सब मनुष्यके चरित्रको जानते हैं ॥ १०९ ॥

यद्यहं परमसती स्याम्, त्वां विहायान्यं न जाने, पुरुषान्तरं स्वप्नेऽपि न हि भजे, तेन धर्मेण छिन्ना-

ऽपि मम नासिकाऽच्छिन्नाऽस्तु। मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे। किंतु स्वामी त्वम्। लोकभयादुपेक्षे। पश्य मन्मुखम्।' ततो गोपो दीपं प्रज्वाल्य तन्मुखमवलोकते तावदुन्नसं मुखमवलोक्य तच्चरणयोः पतितः—'धन्योऽहं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी' इति। योऽयमास्ते साधुरेतद्वृत्तान्तमपि कथयामि—

इसलिये जो मैं यथार्थही सती हूं, तुमको छोडकर औरको नहीं जानतीहूं, और पुरुषको स्वप्नमेंभी नहीं भजती हूं तो इसी समय मेरी कटी नाक जुड जाय। मैं तुमको भस्म करसकती हूं किन्तु तू मेरा स्वामी है, इस लोकभयसे तुझको छोडती हूं, मेरा मुख देख।' इसके पीछे जब वह गोप दिया जलाकर ले आया, तब देखा कि, उसके मुखपर चोटका दाग तक नहीं है, तब वह अपनी स्त्रीके पैरोंपर गिरा और बोला-'मैं धन्य हूं जिसके यहां ऐसी पतिव्रता स्त्री है'। और मेरे संगमें जो इस साधुको देखते हो इसका वृत्तांतभी कहता हूं—

अयं स्वगृहान्निर्गतो द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र वेश्यागृहे सुप्तः। तस्याः कुट्टिन्या गृहद्वारि स्थापितकाष्ठघटितवेतालस्य मूर्धनि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते। तत्र लुब्धेनानेन साधुना रात्रावुत्थाय तत्र हस्तो दत्तः। तदा तेन वेतालेन सूत्रसंचारितबाहुभ्यां पीडितः सन्नार्तनादमयं चकार। पश्चादुत्थाय कुट्टिन्योक्तम्—'पुत्र! मलयोपकण्ठादागतोऽसि। तत्सर्वरत्नानि प्रयच्छास्मै। नो चेदनेन न त्यक्तव्योसि'। इत्थमेवायं चेटकः। ततोऽनेन सर्वरत्नानि

समर्पितानि, यथाऽयमपहृतसर्वस्वोऽस्मासु समागत्य मिलितः ।

यह बारह बरस हुए घरसे बाहर आय, इस समय मलयाचलके निकटसे इस नगरमें पहुंचा है । इसने इसी स्थानके एक वेश्यालयमें शयन किया था । कुटनीने उस घरके द्वारपर एक काठकी बनी वेतालकी मूर्तिके शिरमें एक श्रेष्ठ मणि रखदी है । उस मणिको देखकर यह लोभसे अन्धा हुआ और रातको उठ उसपर हाथ लगाया । वह मणि इस प्रकार कलमें बंध रहीथी कि, उसपर हाथ लगातेही उस मूर्तिने दोनों हाथ फैलाय इसको पकडा; उसकी बाहोंसे पीडित होकर यह आर्त्तनाद करनेलगा । तब कुटनीने उठकर कहा,-' वत्स ! तुम मलयाचलसे अनेक रत्न लाये हो,वह सब इसको देदो; नहीं तो यह किसी भांतिभी तुमको नहीं छोडेगा' । यह वेताल ऐसाही किया करता है । तिसके पीछे, इन्होंने अपना समस्त धन रत्न उसको सौंप दिया । इस समय यह भी सर्वस्व गवाँय मेरा संगी हुआ है ।

एतत्सर्वं श्रुत्वा राजपुरुषैर्न्याये धर्माधिकारी प्रवर्तितः । अनन्तरं तेन नापितवधूर्मुण्डिता, गोपी च शासिता,कुट्टिनी दण्डिता,साधोर्धनानि च प्रदत्तानि । अतोऽहं ब्रवीमि-'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि । अथ स्वयंकृतोऽयं दोषः अत्र विलपनं नोचितम् । (क्षणं विमृश्य) मित्र ! यथाऽनयोः सौहार्दं मया कारितं तथा मित्रभेदोऽपि मया कार्यः । यतः-

यह समस्त वृत्तान्त सुनकर राजपुरुषोंने विचारपतिसे सुविचार कराया; विचारमें नायनका शिर मुण्डा गया; गोपीको बहुत शासन हुआ और कुटनीने बडा दंड पाया और साधुने अपना समस्त धनरत्न फिर प्राप्त किया । इसीलिये तो मैं कहता हूं कि ' स्वर्णरेखाको छूकर मेरी दुर्दशा हुई ' इत्यादि । इसलिये यह हमारा निजका ही दोष है, इस बातमें पछतावा करना अनुचित है । इसके उपरान्त दमनकने

क्षणभर चिन्ता करके कहा,–' मैंने न समझकर स्वामीके साथ जैसे संजीवककी मित्रता कराई है, वैसेही अपनी बुद्धिकी चतुरतासे इन दोनोंमें सुहृद्भेदभी करा सकताहूं। कारण,–

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः ॥ ११० ॥

चित्रकार लोग जिस प्रकार समान स्थानकोभी ऊंचा नीचा दिखा देते हैं वैसेही अतिशय चतुर लोग मिथ्याको भी सत्य कर दिखाते हैं (१) ॥ ११० ॥

अपरं च–उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते।
स निस्तराति दुर्गाणि गोपी जारद्वयं यथा ॥१११॥'

औरभी–कार्य उपस्थित होनेपर जिसकी बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती वह विपदोंके पार हो जाता है। जैसे ग्वालिनी दो यारोंके साथ विपद्को तर गई थी ॥ १११ ॥'

करटकः पृच्छति–'कथमेतत्?'। दमनकः कथयति–

करटकने पूछा,–' यह कैसी कथा है ?'। दमनकने कहा—

कथा ६.

अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिद्गोपस्य वधूर्बन्धकी। सा ग्रामस्य दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च समं रमते। तथा चोक्तम्–

द्वारका पुरीमें किसी गोपकी एक भ्रष्ट स्त्री थी। वह उसी गांवके दंडनायक (२) और उसके पुत्र दोनोंकाही रति देती थी। कहाभी है कि,—

---

(१) चित्रपटके समतल होनेपरभी जिस प्रकार निपुण चित्रकार उसके ऊपर ऊंचे नीचे दिखाव अविकल खेंच दिखाते हैं, वैसेही चतुरलोग सत्यकाभी मिथ्याकरके समझा देते हैं। अर्थात् यह संजीवक यथार्थमें निर्दोष हैं, परन्तु यह दोनों स्वामीके निकट इसको विद्रोही प्रतिपन्न करेंगे।

(२) दंडनायक–मजिष्ट्रेट, सहरकोतवाल या प्रधान चौकीदार।

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः ॥११२॥

काठसे अग्नि तृप्त नहीं होती, नदीसे समुद्र तृप्त नहीं होता, समस्त प्राणियोंसे भी यम तृप्त नहीं होता और पुरुषोंसे स्त्रियोंकी तृप्ति नहीं होती (१) ॥ ११२ ॥

अन्यच्च-न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया ।
न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विषमाः स्त्रियः॥११३॥

औरभी,-स्त्रीजाति दानसे या सन्मानसे और सरलता व सेवासे संतुष्ट नहीं होती और शस्त्रसे, शास्त्रसेभी वश नहीं होती, समस्त स्त्रियां सदा विषम हैं ॥ ११३ ॥

यतः-गुणाश्रयं कीर्तियुतं च कान्तं
पतिं रतिज्ञं सधनं युवानम् ।
विहाय शीघ्रं वनिता व्रजन्ति
नरान्तरं शीलगुणादिहीनम् ॥ ११४ ॥

क्योंकि,-गुणका आधार, कीर्तिमान्, सुन्दर, रति करनेमें चतुर, धनवान् और जवान ऐसे पतिकोभी त्याग करके दूसरे निर्गुण, कुरूप और नीच जातिकेभी परपुरुषके पास स्त्रियां शीघ्र जाती हैं ॥ ११४ ॥

अपरं च-न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी
विचित्रशय्यशयिताऽपि कामम् ।
यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ
प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात् ॥ ११५ ॥

औरभी-स्त्री उत्तम पलँगपर शयन करकेभी वैसी प्रीतिको प्राप्त नहीं होती; जैसी दूब (घास) आदिसे युक्त पृथ्वीपर परपुरुषके संगसे यथेष्ट सुखको प्राप्त करती है ११५

अथ कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति । अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्रागतः ।

(१) यह श्लोक और परवर्ती श्लोक केवल भ्रष्ट स्त्रियोंकेही पक्षमें हैं ।

तमायान्तं दृष्ट्वा तत्पुत्रं कुसूले निक्षिप्य दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडति । अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोष्ठात् समागतः । तमालोक्य गोप्योक्तम्–'दण्डनायक! त्वं लगुडं गृहीत्वा कोपं दर्शयन् सत्वरं गच्छ'। तथा तेनानुष्ठिते गोपेन गृहमागत्य भार्या पृष्टा–'केन कार्येण दण्डनायकः समागत्यात्र स्थितः?'। सा ब्रूते–'अयं केनापि कार्येण पुत्रस्योपरि क्रुद्धः' स च पलायमानोऽप्यत्रागत्य प्रविष्टो मया कुसूले निक्षिप्य रक्षितः। तत्पित्रा चान्विष्यात्र न दृष्टः। अत एवायं दण्डनायकः क्रुद्ध एव गच्छति।' ततः सा तत्पुत्रं कुसूलाद्बहिष्कृत्य दर्शितवती। तथा चोक्तम्–

इसके उपरान्त एक दिन वह ग्वालनी दंडनायकके पुत्रके साथ विहार करनेमें लगरही थी कि, इसी समयमें दंडनायकभी आय पहुंचा। उसको आता हुआ देखकरही ग्वालनीने दंडनायकके पुत्रको धानकी कुठियामें घुसाय, आप दंडनायकके साथमें वैसाही विहार करने लगी। इसी अवसरमें उसका स्वामी गोप गोठसे गृहपर आया। स्वामीको आता हुआ देखकर गोपीने कहा–'दंडनायक! तुम लकडी लेकर क्रोध दिखाते हुए चले जावो'। दंडनायकके इस प्रकार करनेपर गोपने अपनी स्त्रीसे जायकर पूछा,–'दंडनायक किसलिये यहां आया था?'। ग्वालनीने कहा,–'वह किसी कारणसे अपने पुत्रके ऊपर क्रोधित हुए हैं। वह डरके मारे भागते २ इस गृहमें चला आया। मैंने उसको नाजकी कुठियाके भीतर डालकर छिपा रक्खा है। उसके पिताने उसको घरमें ढूंढकर नहीं देखपाया, इसी कारणसे ऐसा क्रोधमें भरकर चला जाता है'। इसके उपरान्त गोपकी स्त्रीने दंडनायकके पुत्रको कुठलेसे निकालकर स्वामीको दिखाया। कहा भी है कि,–

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥११६॥

स्त्रियोंमें पुरुषसे आहार दूना, बुद्धि चौगुनी, व्यवसाय छः गुना और काम आठगुण है॥

अतोऽहं ब्रवीमि-'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु' इत्यादि । करटको ब्रूते-'अस्त्वेवम् । किं त्वनयोर्महानन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः कथं भेदयितुं शक्यः?'। दमनको ब्रूते-'उपायः क्रियताम् । तथा चोक्तम्-

इसीलिये मैं कहता था कि,-' कार्यके उपास्थित होनेपर जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं होती ' इत्यादि । करटकने कहा;-' हां यह वात सत्य है; परन्तु इन लोगोंका अति निष्कपट प्रेम है । किस प्रकारसे भेद डलवाया जाय ? ' । दमनकने कहा;-' एक उपाय करना होगा । वैसा कहाभी है कि;-

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः ॥११७॥'

उपायसे जो किया जा सकता है, विक्रमसे वह नहीं किया जासकता, जिस प्रकारसे काकीने सुवर्णके तारसे काले सर्पको मारडाला था ॥ ११७॥'

करटकः पृच्छति-'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति-

करटकने पूछा-' यह किस प्रकारसे हुआ ? ' । दमनकने कहा-

कथा ७.

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदम्पती निवसतः। तयोश्चापत्यानि तत्कोटरावस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि। ततः पुनर्गर्भवती वायसी वायसमाह-'नाथ ! त्यज्यतामयं तरुः । अत्रावस्थितकृष्णसर्पेणावयोः सन्ततिः कदाचिदपि न भविष्यति । यतः-

एक वृक्षपर काग और कागली वास करते थे। उस वृक्षकी कोटरमें एक काला सर्प रहता था, वह उनके बच्चोंको खाय जाता था। इसके उपरान्त कागलीको फिर गर्भ रहा; उसने काकसे कहा,–' नाथ ! यह वृक्ष छोड दीजिये इस वृक्षमें जबतक काला सर्प रहैगा, तबतक हम लोगोंकी सन्तान कदापि नहीं बचेगी। कारण,–

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्याश्चोत्तरदायकाः।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥ ११८॥'

दुष्टा स्त्री, खल मित्र, जबाब देनेवाला (सामना करनेवाला) दास और सर्पके सहित वर्त्तमान गृहमें वास ये सब मृत्युके स्वरूप हैं, इसमें सन्देह नहीं॥ ११८॥'

वायसो ब्रूते–'प्रिये ! न भेतव्यम्। वारंवारं मयैतस्य महापराधः सोढः। इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः'। वायस्याह–'कथमेतेन बलवता सार्धं भवान् विग्रहीतुं समर्थः ?'। वायसो ब्रूते–' अलमनया शङ्कया। यतः–

कौएने कहा;–' प्रिये ! डर न कर, मैंने वारंवार इस सर्पका दारुण अत्याचार सहन किया है। और इस समय उसको क्षमा नहीं करूंगा'। यह सुनकर कागलीने कहा;–' तुम किस प्रकारसे इस दुरन्त कालसर्पसे विग्रह करनेमें समर्थ होगे?'। कौएने कहा–' इस बातकी कोई शंका न करो; क्योंकि;—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः॥ ११९॥'

जिसकी बुद्धि, उसकाही बल है, निर्बुद्धिको कहां बल है ? देख ! खरगोशकरके मतवाला सिंह विनाशको प्राप्त हुआ॥ ११९॥'

वायसी विहस्याह–'कथमेतत्?।' वायसः कथयति–

वायसीने हंसकर पूछा;–' यह कैसे ?'। कौएने कहा;–

कथा ८.

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः । स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते । ततः सर्वैः पशुभिर्मिलित्वा स सिंहो विज्ञप्तः–'मृगेन्द्र ! किमर्थमेकदा बहुपशुघातः क्रियते ? यदि प्रसादो भवति तदा वयमेव भवदाहारार्थं प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः'। ततः सिंहेनोक्तम्–'यद्येतदभिमतं भवतां तर्हि भवतु तत्'। ततःप्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं भक्षयन्नास्ते। अथ कदाचिद्वृद्धशशकस्य वारः समायातः । सोऽचिन्तयत्–

मन्दरपर्वतपर दुर्दांतनामक एक सिंह रहता था । वह सदाही पशुवध करता था। इसके उपरान्त समस्त पशुगणोंने मिलकर उस सिंहसे निवेदन किया,–' महाराज ! आप किस कारणसे समस्त पशुगणोंका संहार करते हैं ? जो प्रसन्नता हो तो हमलोग आपके भोजनार्थ प्रतिदिन एक पशु भेंट करेंगे' । सिंह बोला;–'यदि यही तुम लोगोंका अभिप्राय है, तो ऐसाही होगा'। तबसे सिंह एक एक पशु-भेंट पाय भोजन करता था। इसके पीछे एक समय एक बूढे खरगोशके जानेकी बारी आई । उसने विचारा,—

'त्रासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताशया ।
पञ्चत्वं चेद्गमिष्यामि किं सिंहानुनयेन मे ॥ १२० ॥

' जीनेकी आशाके हेतु त्राससे प्रयुक्त होकर विनय की जाती है, यदि मरण ही पाऊंगा तब सिंहकी अनुनयसे मुझको क्या प्रयोजन है ? ॥ १२० ॥

तन्मन्दं मन्दं गच्छामि'। ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपात्तमुवाच–'कुतस्त्वं विलम्ब्य समागतोऽसि?'। शशकोऽब्रवीत्–'देव ! नाहमपराधी।

आगच्छन्पथि सिंहान्तरेण बलाद्धृतः । तस्याग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितु-मत्रागतोऽस्मि'। सिंहः सकोपमाह–'सत्वरं गत्वा दुरात्मानं दर्शय, क्व स दुरात्मा तिष्ठति ?'। ततः शशकस्तं गृहीत्वा गभीरकूपं दर्शयितुं गतः । तत्रागत्य 'स्वयमेव पश्यतु स्वामी' इत्युक्त्वा तस्मिन् कूपजले तस्य सिंहस्यैव प्रतिबिम्बं दर्शितवान् । ततोऽसौ क्रोधाध्मातो दर्पात्तस्यो-पर्यात्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि–'बुद्धिर्यस्य' इत्यादि ।

इसलिये मैं विलम्ब करके गमन करूं।' इस ओर सिंहभी क्षुधासे अत्यन्त व्याकुल था, उसको देखतेही महाक्रोधसे कहने लगा,–'तू किसलिये इतनी देर करके आया ?'। खरगोशने कहा,–' महाराज ! मेरा कोईभी अपराध नहीं है । आते २ मार्गमें मुझको एक और सिंहने बलपूर्वक पकड रक्खा, मैं उसके निकट फिर आनेकी सौगन्ध करके,स्वामीको यह वृत्तान्त निवेदन करनेके लिये आयाहूं'। सिंहने क्रोधसहित कहा,–' वह दुरात्मा कहां है ? हमे शीघ्र दिखाओ'। इसके उपरान्त खरगोश सिंहको संग लेकर एक गहरे कुएँके निकट पहुंचा, वहां सिंहसे बोला,–' स्वामी ! यह आप अपनी आंखोंसे आयकर देखिये'। यह कहकर उसने उसी कुएँके जलमें उस सिंहकीही परछांई दिखा दी । उसको देखकर क्रोधसे फूल महादर्पसे जैसेही उस कुएँमें छलांग मारकर कूदपडा कि, वैसेही मृत्युको प्राप्त हुआ । इसीलिये मैं कहताहूं कि,–'जिसकी बुद्धि उसका ही बल है'' इत्यादि ।

वायस्याह–' श्रुतं मया सर्वम् । सम्प्रति यथा कर्तव्यं तद् ब्रूहि'। वायसोऽवदत्–'प्रिये ! अत्रा-सन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति । स्नानसमये तदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं

कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्यानीयास्मिन् कोटरे धारयिष्यसि ' । अथ कदाचित्कनकसूत्रं दृषदि संस्थाप्य स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम् । अथ कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तैः राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे निरूप्यमाणः कृष्णसर्पो दृष्टो व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि-' उपायेन हि यच्छक्यम् ' इत्यादि ॥ करटको ब्रूते-'यद्येवं तर्हि गच्छ । शिवास्ते सन्तु पन्थानः ' । ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रणम्योवाच- ' देव ! आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि । यतः-

कागलीने कहा,-' यह कथा तो मैंने सब सुनी, इस समय क्या कर्त्तव्य है? सो कहो ' । वायसने कहा,-' प्रिये ! इस निकटवाले सरोवरमें राजपुत्र प्रतिदिन आकर स्नान करता है, वह स्नान करनेके समय अंगसे सुवर्णका हार उतारकर घाटके पत्थरपर रख जैसेही जलमें कूदे, तू वैसेही उस हारको चोंचमें लेकर इस सांपकी कोटरमें रख देना ' इसके उपरान्त एक दिन राजकुमार जब पत्थरके ऊपर हार रखकर स्नान करनेको घुसा कि-कागलीने वह हार लेकर सांपके कोटरमें रख दिया । राजाके नौकरभी उस सुवर्णहारको खोजते खोजते उस वृक्षकी कोटरपर पहुँचे और ढूंढनेसे उन्होंने काले सांपको देख पायकर उसका प्राणसंहार किया । इसीलिये मैं कहताहूं कि-" उपायसे जो किया जासकै " इत्यादि । करटकने कहा,-' यदि यही करना स्थिर हो, तब तुम जाओ, तुम्हारा मार्ग विघ्नशून्य हो ' । इसके पीछे दमनकने पिंगलकके निकट जाय प्रणाम करके कहा,-' महाराज ! अत्यन्त महाभयकारी कार्य समझकर जतानेको आयाहूं । कारण,-

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः ॥ १३१ ॥

विपत्के समय, कुमार्गमें गमन करनेके समय और कार्यकालके बीत जानेमें हितैषी मनुष्य न पूछेजाकरभी मंगल वचन कहै ॥ १२१ ॥

अन्यच्च–भोगस्य भाजनं राजा मन्त्री कार्यस्य भाजनम्।
राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते ॥ १२२ ॥

औरभी–भोगका करनेवाला राजा और कार्यका करनेवाला मंत्री है। राजकार्यका नष्ट करनेवाला मंत्री दोषसे लिप्त होता है ॥ १२२ ॥

तथाहि पश्य, अमात्यानामेष क्रमः–

औरभी देखो, मंत्रियोंकी यही विधि है कि,–

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वाऽपि कर्तनम्।
न तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम् ॥१२३॥'

प्राणका छूटना भी भला, मस्तकका कट जाना भला, स्वामीके पदकी प्राप्तिरूपी पातकके चाहनेवालेकी उपेक्षा करना भला नहीं ॥ १२३ ॥'

पिङ्गलकः सादरमाह–' अथ भवान् किं वक्तुमिच्छति ?'। दमनको ब्रूते–' देव ! संजीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते। तथा चास्मत्संनिधाने श्रीमद्देवपादानां शक्तित्रयनिन्दां कृत्वा राज्यमेवाभिलषति '। एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभयं साश्चर्यं मत्वा तूष्णीं स्थितः। दमनकः पुनराह–' देव ! सर्वामात्यपरित्यागं कृत्वैक एवायं यत्त्वया सर्वाधिकारी कृतः स एव महान् दोषः। यतः–

पिंगलकने आदरसहित पूंछा,–' तुम क्या कहनेकी इच्छा करते हो ?'। दमनकने कहा,–'देखते हैं कि, इस संजीवकका आपके ऊपर अति विपरीत व्यवहार है,

क्योंकि यह हम लोगोंके निकट महाराजकी (१) तीन राजशक्तियोंकी निन्दा किया करता है और आपही राज्यका मालिक बननेकी अभिलाषा प्रकाश किया करता है '। यह सुनकर पिंगलक भय और विस्मयसे चुपचाप होरहा। दमनकने फिर कहा,-' महाराज ! सब मंत्रियोंको छोडकर आपनेही तो उसको समस्त कार्यके अधिकारमें नियुक्त कर रक्खा है। यह बडे दोषकी बात है। कारण,-

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः ।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १२४ ॥

राजा और मंत्रीके अति समृद्ध होनेपर सम्पत्ति दो पांवका आश्रय करके रहती है। वह सम्पत्ति स्त्रीस्वभाव है, इससे उनका भार न सहनकरके इन दोनोंके मध्यसे एकका त्याग करती है (२) ॥ १२४ ॥

अपरं च-

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदालस्येन निर्भिद्यते ।

(१) ' तीन राजशक्ति ' राजाकी तीन शक्ति हैं;-प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति और मंत्रशक्ति। राजाके निज प्रभावको ' प्रभुशक्ति ' कहते हैं; राजाके और कर्मचारियोंके अटल अध्यवसायको 'उत्साहशक्ति' कहते हैं; राजाकी व मंत्रियोंकी निपुण मंत्रणाको ' मंत्रशक्ति ' कहते हैं।

(२) जिस राजाका मंत्री अत्यन्त सामर्थ्यको प्राप्त होजाता है, राजलक्ष्मी उस राजा और उस मन्त्रीको बराबर आश्रय करती है। लक्ष्मीदेवी अबला-जाति है, अबलाजाति स्वभावसेही दुर्बल होती है; इस कारण दो जनोंका भार न सहन करके अन्तमें जिसकी सामर्थ्य अधिक होती है; लक्ष्मी सम्पूर्णरूपसे उसीके हाथमें चली जाती है। अर्थात् मन्त्री अधिक सामर्थ्य प्राप्त करनेपर पीछेसे राजा होजाता है।

निर्भिन्नस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुह्यति ॥

औरभी,-राजा जब कि, एक मंत्रीको राजकर्ममें प्रमाण करता है, तब मोह-प्रयुक्त अहंकार उसको आश्रय करता है, वही मंत्री अहंकारसे जन्मा हुआ जो आलस्य है, उससे बिगड जाता है, उस बिगडेहुए मंत्रीके अन्तःकरणमें स्वतंत्रताकी इच्छा वास करती है, तिसके उपरान्त स्वतंत्रता करनेकी इच्छाके हेतुसे वह मंत्री राजाके प्राण नष्ट करनेकी इच्छा करता है ॥ १२५ ॥

अन्यच्च-विषदिग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च ।
अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम् ॥१२६॥

औरभी;-विष मिले अन्न, हिलते दांत और दुष्ट मंत्री इन सबको जडसे उखाडनेमेंही सुख है ॥ १२६ ॥

किंच-यः कुर्यात्सचिवायत्तां श्रियं तद्व्यसने सति ।
सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्संचारकैर्विना ॥ १२७ ॥

औरभी-जो राजा सम्पत्तिको मंत्रीके अधीन करता है, तो उन मन्त्रीपर जब विपद् आ पडती है, तो वह राजा अन्धेके समान विना संचारकके नाशको प्राप्त होता है ॥ १२७ ॥

सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्तते तदत्र प्रमाणं स्वामी । एतच्चाहं जानामि-

और यह संजीवक सब कार्योंमेंही यथेच्छाचार करता है, बस ! इस विषयमें स्वामीही कर्ता है । और मैंभी यह अधिक करके जानताहूँ कि,-

न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।
परस्य युवतीं रम्यां साकांक्षं वीक्षते न कः ॥१२८॥'

पृथ्वीपर ऐसा पुरुष कोई नहीं है कि, जो पराई सम्पत्तिका अभिलाष नहीं करता और रमण करनेके योग्य पराई युवती स्त्रीको कौन पुरुष आकांक्षाके सहित नहीं देखता ? अर्थात् प्रायः सबही देखते हैं ॥ १२८ ॥'

सिंहो विमृश्याह-'भद्र! यद्यप्येवं तथापि संजीवकेन सह मम महान् स्नेहः। पश्य-

सिंहने चिंता करके कहा,-'भद्र ! संजीवकके सत्य २ ऐसे होनेपर भी हम उससे अत्यन्त स्नेह करते हैं। देखो,-

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः।
अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ॥१२९॥

जो प्यारा है वह कुप्यारा कार्य करनेपरभी प्याराही रहता है, अनेक दोषोंसे लिप्त होनेपरभी शरीर किसको प्रिय नहीं होता ? ॥ १२९ ॥

अन्यच्च-अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः ॥ १३० ॥'

औरभी-अत्यन्त प्यारा अप्रिय कार्य करके भी प्याराही रहता है, देखो,-उत्तम गृह जलानेपरभी अग्निमें किसका आदर नहीं है ? ॥ १३० ॥'

दमनकः पुनरेवाह-'देव ! स एवातिदोषः। यतः-

दमनकने कहा-' महाराज ! यही तो दोषकी बात है, क्योंकि,—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोहयति पार्थिवः।
सुतेऽमात्येऽप्युदासीने स लक्ष्म्याऽऽश्रियते जनः१३१

राजा जिस पुत्रपर वा मन्त्रीपर या (१) उदासीनपर दृष्टिको अधिक रखता है, वही सम्पत्तिका आश्रय होता है ॥ १३१ ॥

शृणु देव ! अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः।
वक्ता श्रोता च यत्रास्ते रमन्ते तत्र संपदः ॥१३२॥

महाराज ! सुनिये;-अप्रियभी (२) पथ्यका परिणाम सुखदायक होता है। जिसमें वक्ता और श्रोता रहता है, उसीमें सम्पत्तियें क्रीडा करती हैं ॥ १३२ ॥

(१) ' उदासीन ' अपरिचित या सम्पर्करहित पुरुष।

(२) ' पथ्य ' अर्थात् परिणाममें जो मंगलकारी है। उसको ' अप्रिय ' अर्थात् सब प्रकार अप्रीतिकर जानलेनेपर भी ग्रहण करना चाहिये।

त्वया च मूलभृत्यानपास्यायमागन्तुकः पुरस्कृतः ।
एतच्चानुचितं कृतम् । यतः-

आपने पुराने विश्वासी सेवकोंको त्याग करके इस आगन्तुक (१) का इतना विश्वास करके अन्याय किया है । कारण;-

मूलभृत्यान्परित्यज्य नागन्तून्प्रतिपालयेत् ।
नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः ॥ १३३ ॥'

पुराने सेवकोंको परित्याग करके आगन्तुकको प्रतिपालन नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे और बडा दोष नहीं है, कारण कि यह राज्यका नाशक है ॥१३३॥'

सिंहो ब्रूते-'महदाश्चर्यम्! मया यदभयवाचं दत्त्वा आनीतः संवर्धितश्च । तत्कथं मह्यं द्रुह्यति ? '।
दमनको ब्रूते-' देव !

सिंहने कहा,-' यह बडा आश्चर्य है ! मैं जब कि, अभय देकर उसको लायाहूं और यत्नसे प्रतिपालन करताहूँ, तब वह किस कारणसे हमारा विद्रोही होता है?'।
दमनकने कहा,-' महाराज !

दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।
स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम् ॥१३४॥

निरन्तर सेये जानेपरभी दुष्टजन सरलताको नहीं पाता, जिस प्रकार तपाने और तेल इत्यादिके मलनेसेभी कुत्तेकी पूंछ सीधी नहीं होती ॥ १३४ ॥

अपरं च-स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्टितः ।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ॥१३५॥

औरभी-कुत्तेकी पूंछ पसीना लाई गई, मलीगई, रस्सीसे बांधीगई हो, परन्तु बारह वर्षके बाद खुलनेपर फिरभी अपनेही स्वभावको प्राप्त होता है ॥ १३५ ॥

(१)' आगन्तुक ' जिसका कुल, शील कुछभी ज्ञात नहीं हो । अपरिचित पुरुष ॥

अन्यच्च—वर्धनं वाऽथ सम्मानं खलानां प्रीतये कुतः ।
फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः ॥१३६॥

औरभी--सन्मानको बढानेपरभी खलकी प्रसन्नताका हेतु कहां होताहै, ? जिस प्रकार विषवृक्ष अमृतसे सींचे जानेपरभी सुन्दर फल नहीं फलता ॥ १३६ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—

अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ।
एष एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥१३७॥

इसलिये मैं कहताहूं कि,--जिसके पराजयकी इच्छा न करे उसको विना पूंछेभी हितवचन कहै, उत्तम पुरुषोंका यही धर्म है, जिसके पराजयकी इच्छा करै उसके पूँछेजानेपरभी उन अधम लोगोंका हित नहीं करना चाहिये ॥ १३७ ॥

तथा चोक्तम्—

वैसा कहाभी है कि;-

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं सा स्त्री याऽनुविधायिनी स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते । सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥ १३८ ॥

जो पुरुष अमंगलसे रोके वही प्रणयी है, वही कर्म है जो निर्मल है, वही स्त्री है जो आज्ञाकारिणी है, वही बुद्धिमान् है जो पंडित करके सन्मानित होता है, वही ऐश्वर्य है जो मत्तता नहीं जन्माता, वही सुखी है जो तृष्णारहित है, वही मित्र है जो कपटरहित है और वही पुरुष है जिसको इंद्रियां खिन्न नहीं करतीं ॥ १३८ ॥

यदि संजीवकव्यसनार्दितो विज्ञापितोऽपि स्वामी न निवर्तते तदा भृत्यस्य न दोषः । तथा च—

और जो संजीवकसे इस विपद्की शंका आपको जतानेपरभी आप न सुनैं तब उसमें इस सेवकका कुछ अपराध नहीं । कारण,—

नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति मत्तो गज इव।
ततो मानाध्मातः स पतति यदा शोकगहने
तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति न निजं वेत्त्यविनयम्॥१३९॥'

राजा काममें आसक्त होकर कार्यको नहीं गिनता और हितभी नहीं गिनता, मत्त हाथीकी समान स्वतंत्र होकर इच्छानुसार गमन करता है, इसके उपरान्त अपमानित होकर वह जब शोकवनमें पडता है तब सेवकके ऊपर दोष डालता है और अपने अविनयको नहीं जानता॥ १३९ ॥'

पिङ्गलकः-स्वगतम्।
'न परस्यापराधेन परेषां दण्डमाचरेत।
आत्मनाऽवगतं कृत्वा बध्नीयात्पूजयेच्च वा॥१४०॥

पिंगलक मनही मन विचार करने लगा-'औरके अपराधसे औरको दंड न देना चाहिये, आप जान बूझकर वध या सन्मान करैं ॥ १४० ॥

तथा चोक्तम्-गुणदोषावनिश्चित्य विधिर्न ग्रहनिग्रहे।
स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुखे करः॥१४१॥'

वैसा कहा भी है कि,-अहंकारप्रयुक्त सर्पके मुखमें हाथ देना जिस प्रकार अपने नाशका निमित्त है वैसेही गुण दोषका निर्णय न करके अनुग्रह व निग्रह करना अपने नाशका हेतु है॥ १४१ ॥'

प्रकाशं ब्रूते-'तदा संजीवकः किं प्रत्यादिश्यताम्?'। दमनकः ससंभ्रममाह-'देव! मा मैवम्।
एतावता मन्त्रभेदो जायते। तथा ह्युक्तम्-

इसके उपरान्त प्रगट भावसे कहा,-'तब क्या संजीवकको इस स्थानसे निकाल दियाजाय?'। दमनकने घबडाकर कहा,-'ना, महाराज! ऐसा न कीजिये; इससे मन्त्र प्रकाशित होजायगा। ऐसा कहाभी है कि;-

मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं यथा तथा ।
मनागपि न भिद्येत तद्भिन्नं न प्ररोहति ॥१४२॥

जिस प्रकारसे तनकभी नहीं टूटै उस प्रकार इस मन्त्ररूपी बीजकी गुप्तभावसे रक्षा करै, क्योंकि, इस बीजके (१) टूट जानेसे फिर अंकुर नहीं होता ॥ १४२ ॥

किंच–आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥१४३॥

और भी–(२) लेना, दान करना ये जो कर्त्तव्य कर्म हैं उनको शीघ्र न करनेसे काल उनका रस पीता है ॥ १४३ ॥

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन संपादनीयम् । किंच–

इसीलिये प्रारम्भ किये कार्यको अतिशीघ्र करना चाहिये । कारण,—

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ १४४॥

(३) मूर्ख योधा सब अंग छिपे रहनेपरभी जिस प्रकार शत्रुसे भेदशंका

---

(१) जो बीज टूटा हुआ है अर्थात् अखण्ड नहीं है, उससे जिस प्रकार अंकुर नहीं जमता, वैसेही गुप्त मंत्रणाके टूटजाने अर्थात् प्रकाशित होजानेसे कोई फल उस मंत्रणासे नहीं होता, इस कारण बीजकी समान मंत्रणाकोभी अति सावधानीसे रखना चाहिये ।

(२) देना इत्यादि कर्त्तव्य कर्म, जितनी जलदी साफ होजाय, उतनाही उनसे लाभ होता है और जितनी देर इन कार्योंमें कीजाय, उतनाही लाभका अंश समयके हेरफेरसे उसमेंसे क्षय होजायगा और बराबर उसमें हानि होती रहैगी ।

(३) मूलश्लोक " शिशुपालवध " नामक काव्यके दूसरे सर्गमें है । इसका तात्पर्य यही है कि–एक डरपोक योधाके सब ' अंग ' अर्थात् हाथ, पैर, छाती, मस्तक इत्यादि अंग, ' गुप्त ' अर्थात् खड्ग, ढाल, तलवार इत्यादिसे सुरक्षित होनेपरभी वह जिस प्रकार शत्रुके अस्त्रसे विंधजानेकी शंका अर्थात् अपने शरीरके विदीर्ण होनेका भय करता है और इसी कारणसे वह डरपोक योधा रणक्षेत्रमें बहुत देरतक नहीं ठहर सकता वैसेही मंत्रणाभी सब अंगोंसे अर्थात् मंत्रणाके पांच अंग हैं यथा,–(१) सहाय, (२) साधनो–

प्रयुक्त हो बराबर संग्रामस्थलमें नहीं रह सकता, ऐसेही मन्त्र सब अंग ढकनेपर भी शत्रुसे भेदशंका प्रयुक्त हो सदा नहीं ठहर सकता है ॥ १४४ ॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य सन्धातव्यस्त-दतीवानुचितम् । यतः–

और सञ्जीवकका दोष स्पष्ट देखकर भी यदि उसको इस दोषसे कार्यसे रोककर पहलेकी समान उससे प्रीति रक्खी जाय तोभी अत्यन्त अनुचित है । कारण--

सकृद्दुष्टं तु यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युमेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १४५ ॥ '

एकबार दोष करनेसे दुष्ट मित्रसे फिर भी मिलाप करनेकी जो इच्छा करता है, वह मृत्युको ग्रहण करता है । अश्वतरी (१) जिस प्रकार मृत्युके निमित्त गर्भ धारण करती है ॥ १४५ ॥ '

सिंहो ब्रूते–'ज्ञायतां तावत्किमस्माकमसौ कर्तु समर्थः ' । दमनक आह–'देव !

सिंहने कहा;–' प्रथम यह जानना उचित है कि, हमारा बुरा करनेको उसकी कहांतक सामर्थ्य है ' । दमनकने कहा,–' महाराज !

अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा कथं सामर्थ्यनिर्णयः ।
पश्य टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः ॥१४६॥'

–पाय, (३) देशकालका विभाग, (४) विपत्तिका बल और (५) कार्य-सिद्धि ये पांच भलीभाँतिसे रक्षित होनेपरभी किसी दूसरेसे प्रकाश होजानेके डर बना रहताहै, इस कारण उस मंत्रणाके योग्य कार्योंमें विलम्ब होजानेसे वह मंत्रणा भी बहुत दिनतक स्थिर नहीं रहती अर्थात् कोई न कोई उसे प्रकाशित करही देताहै । और प्रकाशित होनेपर फिर वह सफल नहीं होती ।

(१) ' अश्वतरी' घोडीके गर्भमें गधेसे जो मादीन खिचडी जन्म लेती है उसको अश्वतरी कहते हैं. ऐसा कहावत है कि, खिचडीके जहां गर्भ रहा फिर वह नहीं जीता ।

अंगको और अंगीके (१) भावको जाने विना किस प्रकारसे शक्तिका निश्चय होगा ? देखो केवल एक टिटहरेने समुद्रको व्याकुल करदिया था ॥ १४६ ॥ '

सिंहः पृच्छति-'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति-

सिंहने पूछा;-' यह कैसे ? '। दमनकने कहा-

कथा ९.

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्टिभदम्पती निवसतः । तत्र चासन्नप्रसवा टिट्टिभी भर्तारमाह-'नाथ! प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसन्धीयताम् '। टिट्टिभोऽवदत्-' नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम् '। सा ब्रूते-'समुद्रवेलया व्याप्यते स्थानमेतत् '। टिट्टिभोऽवदत्-'किमहं निर्बलः ? यन्मम गृहावस्थितानि अण्डानि समुद्रेणापहर्तव्यानि '। टिट्टिभी विहस्याह-'स्वामिन् ! त्वया समुद्रस्य च महदन्तरम् । अथवा-

दक्षिणसमुद्रके किनारेपर टिटहरीका एक जोडा रहता था । उसके उपरान्त जब टिटहरीका प्रसवकाल आया तब उसने स्वामीसे कहा;-' नाथ ! हमारे प्रसव करनेके योग्य स्थान खोजिये '। टिटहरेने कहा;-' क्यों ? यह स्थानभी तो प्रसव करनेके योग्य है '। टिटहरीने कहा;-' समुद्रकी तरंगसे यह स्थान गीला हुआ करता है। ' टिटहरेने कहा;-' प्रिये ! मैं क्या इतना असमर्थ हूं कि-मेरे घरके अंडे समुद्र हरलेगा ? '।टिटहरीने हंसकर कहा;-' नाथ ! तुममें और समुद्रमें बडा भेद है । अथवा;-

पराभवं परिच्छेत्तुं योग्यायोग्यं च वेत्ति यः ।
अस्तीह यस्य विज्ञानं कृच्छ्रेणापि न सीदति॥१४७॥

---

(१) लोकबल, या अर्थबल ।

निश्चय करके अपने दुःखके परिच्छेद करनेके लिये जो योग्य अयोग्यको जानता है और जिसको यहां अर्थात् संसारमें ज्ञान है, वह विपत्तिमें नष्ट नहीं होता ॥१४७॥

अपि च-

अनुचितकार्यारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसा स्पर्धा।
प्रमदाजनविश्वासो मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि ॥ १४८ ॥'

औरभी;-अनुपयुक्त कार्यका आरम्भ, अन्तरंगोंके सहित विरोध, बलवानूके सहित स्पर्द्धा और स्त्रियोंका विश्वास करना येही चार मृत्युके द्वार हैं ॥ १४८ ॥'

ततः कृच्छ्रेण स्वामिवचनात्सा तत्रैव प्रसूता। एतत् सर्वं श्रुत्वा समुद्रेणापि तच्छक्तिज्ञानार्थं तदण्डान्यपहृतानि। ततष्टिट्टिभी शोकार्ता भर्तारमाह-'नाथ! कष्टमापतितम्। तान्यण्डानि मे नष्टानि'। टिट्टिभोऽवदत्-'प्रिये! मा भैषीः' इत्युक्त्वा पक्षिणां मेलकं कृत्वा पक्षिस्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः। तत्र गत्वा सकलवृत्तान्तं टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितम्-'देव! समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनाऽपराधेनैव निगृहीतः'। ततस्तद्वचनमाकर्ण्य गरुत्मता प्रभुर्भगवान्नारायणः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुर्विज्ञप्तः। स समुद्रमण्डदानायादिदेश। ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितानि। अतोऽहं ब्रवीमि-'अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा' इत्यादि॥

इसके पीछे स्वामीके वचन सुन टिटहरीने उसी स्थानमें प्रसव किया। समुद्रने भी यह वृत्तान्त जान उसकी शक्तिकी परीक्षा लेनेके लिये उसके अंडोंको हरण कर

लिया । तिससे टिटहरीने शोकसे व्याकुल होकर स्वामीसे कहा;–' नाथ ! देखो ! कैसा कष्ट आन पडा ! हमारे सब अण्डे नष्ट होगये ' । टिटहरेने कहा;–' प्रिये ! कुछ भय नहीं ' यह कहकर उसने सब अपने पक्षियोंको इकट्ठा कर पक्षिराज गरुडजीके निकट गमन किया और उसने अंडोंके हरजानेका वृत्तान्त निवेदन किया,– ' हे देव ! समुद्रने विनापराध घरसे हमारे अंडे हर लिये' । इसके पीछे जब गरुडजीने यह वृत्तांत श्रवण करके सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारी भगवान् नारायणजीसे यह वृत्तान्त कहा, तब नारायणजीने समुद्रको अंडे लौटादेनेकी आज्ञा दी । इसके उपरान्त समुद्रने नारायणकी आज्ञा शिरपर धारण कर वे सब अंडे टिटहरेको लौटा दिये । इसीलिये मैं कहता हूं कि,–' अंगअंगीके कामको विनजाने ' इत्यादि ॥

राजाऽऽह–' कथमसौ ज्ञातव्यो द्रोहबुद्धिरिति?' । दमनको ब्रूते–'यदाऽसौ सदर्पः शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखश्चकितमिवागच्छति तदा ज्ञास्यति स्वामी'। एवमुक्त्वा संजीवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन्विस्मितमिवात्मानमदर्शयत् । संजीवकेन सादरमुक्तम्–' भद्र ! कुशलं ते ?' । दमनको ब्रूते–' अनुजीविनां कुतः कुशलम् । यतः–

सिंहने पूंछा,–' हम किस प्रकारसे जाने कि, हमारा यह द्रोह करनेको तैयार है?'। दमनकने फिर कहा,–'संजीवक जब कि घवडाया हुआसा, सींग उठायकर प्रहार करनेके लिये सम्मुख आवेगा तवही प्रभु जान सकेंगे ' । दमनकने यह कहकर संजीवकके निकट गमन किया, और धीरे २ उसके सम्मुख जाय अत्यन्त विस्मय युक्त होरहा । संजीवकने आदरसहित उससे पूंछा,–' भाई दमनक ! तुम्हारी कुशलता है ?' । दमनकने कहा;–'जो लोग पराये आश्रय है उनका मंगल कहाँ ? कारण,–

संपत्तयः पराधीनाः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥ १४९ ॥

जो लोग राजाके आश्रित (राजसेवक) हैं उनकी सम्पत्ति पराये आधीन है अन्तःकरण सदा दुःखित है और अपने प्राणोंकाभी विश्वास नहीं ॥ १४९ ॥

अन्यच्च–

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदो-
ऽस्तं गताः स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः
को वाऽस्ति राज्ञां प्रियः । कः कालस्य भुजान्तरं
न च गतः कोऽर्थी गतो गौरवं को वा दुर्जन-
वागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १५० ॥ '

औरभी,–कौन पुरुष धनको पायकर गर्वित नहीं होता ? किस विषयीपर विपत्ति नहीं पडती ? पृथ्वीपर किसका मन स्त्रीकरके खंडित नहीं होता ? कौन राजाका प्रिय होता है ? (कोई नहीं) यमके दो हाथोंके बीचमें कौन नहीं जाता ? कौन याचक गौरव पाता है ? और कौन पुरुष दुर्जनके फंदमें फँसकर मंगल पाता है ? (अर्थात् कोई नहीं) ॥ १५० ॥ '

संजीवकेनोक्तम्–'सखे ! ब्रूहि किमेतत् ? ' । दम-
नक आह–'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः । पश्य–

संजीवकने पूंछा,–' मित्र ! कहो । क्या हुआ है ?'। दमनकने कहा,–'और क्या कहूं ? मैं बडाही अभागी हूं, देखो—

मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।
न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि संप्रति १५१॥

समुद्रमें डूबता हुआ सर्पको अवलंब पायकर (१) जिस प्रकार न त्यागही कर सके न पकडही सके, वैसेही मैं इस समय मुग्ध होरहाहूं ॥ १५१ ॥

यतः–एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः ।
किं करोमि क्व गच्छामि पतितो दुःखसागरे॥१५२॥'

---

(१) नदीमें डूबता हुआ जो एक सर्प अपने निकट देख पावे, तब यह उसको काटनेके डरसे पकडभी नहीं सकता और डूबनेके डरसे पकड कर छोडभी नहीं सकता ।

कारण,—एक ओर राजाका विश्वास नष्ट होता है, दूसरी ओर मित्र नष्ट होता है, इससे क्या करूं ? कहां जाऊं ? दुःखके समुद्रमें पडाहूं ॥ १५२ ॥'

इत्युक्त्वा दीर्घं निश्वस्योपविष्टः । सञ्जीवको ब्रूते—'मित्र ! तथापि साविस्तरं मनोगतमुच्यताम्'। दमनकः सुनिभृतमाह—'यद्यपि राजविश्वासो न कथनीयस्तथापि भवानस्मदीयप्रत्ययादागतः। मया परलोकार्थिनाऽवश्यं तव हितमाख्येयम्। शृणु । अयं स्वामी तवोपरि विकृतबुद्धी रहस्युक्तवान्—'संजीवकमेव हत्वा स्वपरिवारं तर्पयामि "। एतच्छ्रुत्वा सञ्जीवकः परं विषादमगमत् । दमनकः पुनराह—'अलं विषादेन । प्राप्तकालं कार्यमनुष्ठीयताम् ' । सञ्जीवकः क्षणं विमृश्याह—'सुष्ठु खल्विदमुच्यते । यतः—

यह कह लंबे श्वास लेता २ बैठ गया। संजीवकने कहा—' मित्र ! छिपानेके योग्य होनेपर भी तुम हमसे अपने मनकी वार्ता खोलकर कहो ' । दमनकने गुप्तभावसे कहा;—' राजाने जो विश्वास करके कहा है, वह यद्यपि किसीके निकट कहना उचित नहीं, तथापि जब तुम हमारे वचनोंका विश्वास करके यहां आये हो तब हम परलोककी ओर देखकर अवश्यही तुम्हारे हित कहेंगे, सुनो ! तुम्हारे ऊपर प्रभुके मनका भाव अति विगडा हुआ है। उन्होंने चुपचुपाते मुझसे यह बात कही कि—' संजीवकका प्राणसंहार करके अपने परिवारको तृप्त करूंगा " । यह सुनकर संजीवक अत्यंत विषादित हुआ। दमनकने फिर कहा,—' विषादसे कोई फल नहीं है । इस समय जो कर्त्तव्य है उसका ही अनुष्ठान करो'। क्षणभर चिन्ता करके संजीवकने कहा—'यह ठीक ही कहाजाता है कि—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा।
कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च१५३

स्त्रियें बहुधा दुष्टजनके पास जाती हैं, राजा भी बहुत करके अपात्रका पालनेवाला होता है, धन अकसर कृपण (कंजूस) का अनुरागी होता है और देवता प्रायः पर्वतपर और समुद्रमें वृष्टि करते हैं ॥ १५३ ॥

नीचमाश्रयते लक्ष्मीरकुलीनं सरस्वती।
अपात्रं भजते नारी गिरौ वर्षति वासवः ॥१५४॥'

औरभी-लक्ष्मी नीचका आश्रय लेती है, सरस्वती कुलहीनको, स्त्री कुपात्रको भजती है, इन्द्र (१) पर्वतोंपर वर्षा करता है ॥ १५४ ॥'

स्वगतम्-'किमिदमेतावद्विचेष्टितं न वा इति एतद्व्यवहारात निर्णेतुं न शक्यते । यतः-

इसके उपरान्त संजीवकने मनहीमन विचारा-'जानपडता है कि, यह दमनकही इस अनर्थका मूल है,परन्तु उसका व्यवहार देखकर तो कुछ समझमें नहीं आता। कारण-

कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः।
प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १५५ ॥

कोई असाधु आश्रयके सौन्दर्यके हेतुसे शोभा धारण करता है। जैसे मलिन काजल (२) कामिनीकी आंखको प्राप्त होकर शोभा धारण करता है ॥ १५५ ॥'

तत्र विचिन्त्योक्तम्-'कष्टं ! किमिदमापतितम् । ?

तब इस प्रकारसे चिन्ता करके कहा,-' हाय ! यह कैसा कष्ट आन पहुंचा ?

---

(१) इन्द्रजी नाजके खेतोंमें न वर्षायकर अधिक करके पहाडपर वृष्टि करते हैं.

(२) काजल अत्यन्त काला होनेपर भी सुन्दरीके नेत्रोंमें रहनेसे सुन्दर दिखाई देताहै, वैसेही अत्यन्त दुष्ट लोग भी ' सौन्दर्यके गुणसे ' अर्थात् बडे लोगोंके निकट रहनेसे श्रेष्ठ जनकी समान ज्ञात हुआ करते हैं।

यतः-आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्ना
न्न तोषमायाति किमत्र चित्रम् ।
अयं त्वपूर्वप्रतिमाविशेषो
यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १५६ ॥

कारण-अत्यन्त जतनसे सेवा कियाहुआ राजा सन्तोष नहीं पाता, यह क्या आश्चर्य है ? और अधिक करके चमत्कारकी मूर्त्ति है कि, आराधना किये जानेपर यह वैरी होता है (१) ॥ १५६ ॥

यदयमशक्यार्थः प्रमेयः । यतः-

और इस विषयमें कोई चेष्टा करनाभी विफल है, क्योंकि,-

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति ।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति ॥ १५७ ॥

जो कारण देखकर कोई क्रोध करता है, उस कारणके चले जानेपर वह पुरुष निश्चय प्रसन्न होजाता है और जिसका मन विनाही कारणके दोषी होजाता है, उसको कोई मनुष्य किस प्रकारसे प्रसन्न कर सकेगा ? ॥ १५७ ॥

किं मयाऽपकृतं राज्ञः । अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च भवन्ति राजानः ।' दमनको ब्रूते-' एवमेतत् । शृणु-

मैंने राजाका क्या बुरा किया ? । अथवा राजा लोग इस प्रकारसे अकारणही अपकार किया करते हैं ।' दमनकने कहा-'हां, तुम सत्यही बोलते हो । सुनो-

(१) काली, दुर्गा, शिवा इत्यादिकी आराधना करनेसे यह देवता प्रसन्न होजाते हैं; परन्तु राजाकी मूर्त्ति सृष्टिसे बाहरही है, क्योंकि पूजा किये जानेपर यह मूर्ति प्रसन्न नहीं होती बरन् अनिष्टही किया करती है ।

विज्ञैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतामेति कश्चित्
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति ।
चित्रंचित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १५८ ॥

विज्ञमित्र करके उपकार किये जानेपर भी कोई पुरुष शत्रुताचरण करता है और दूसरेसे साक्षात् अपकृत होनेपरभी प्रसन्न होता है, अनवस्थित चित्तका यह क्या अद्भुत चरित्र है ? सेवाधर्म अतिशय दुर्गम है, योगीलोग भी इसको नहीं जानते ॥

अन्यच्च-

कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु ।
वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम् १५९

औरभी-पापात्माके सामने शत पुण्य नष्ट हैं, मूर्खके आगे शत सुन्दर वचन कहे हुए नष्ट हैं, अनाज्ञाकारीके सामने शत वचन नष्ट हैं, अचेतनके सामने शत बुद्धियां नष्ट हैं ॥ १५९ ॥

किंच-

चन्दनतरुषु भुजङ्गा जलेषु कमलानि तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च भोगे खला न च सुखान्यविघ्नानि १६०॥

औरभी-विषयसे अति सुख पायकर खल लोग गुणघातक होते हैं, देखो ! चन्दनके वृक्षमें सर्प लिपटे रहते हैं और जलमें कमल होते हैं और उसमें ग्राह आदि जलजन्तु रहते हैं क्योंकि विना विघ्नोंके सुख नहीं होसकता ॥ १६० ॥

अन्यच्च-मूलं भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः
शाखाः प्लवङ्गैः शिखरं विहङ्गैः ।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य
यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः ॥ १६१ ॥

औरभी,-वृक्षकी जडको सर्प, पुष्पोंको भ्रमर, शाखाओंको वानर और अग्रभागको पक्षी, चन्दन वृक्षमें ऐसा स्थान नहीं है जो दुष्ट हिंसक जन्तुओंकरके आश्रित नहीं हुआ है ॥ १६१ ॥'

(दमनको ब्रूते-)'अयं तावत्स्वामी वाचि मधुरो विषहृदयो ज्ञातः। यतः-

(दमनकने कहा,-)' इस समय जाना कि, राजाके मुखमें अमृत परन्तु हृदयमें विष होता है। कारण,-

दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्धासनो गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः। अन्तर्भूतविषो बहिर्मधुमयश्चातीव मायापटुः को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः॥१६२॥

दूरसे हाथ उठाये, नेत्रोंमें जल भरे, अर्द्धासनदाता, निकटसे आलिंगन करनेमें तत्पर और प्रियवचन कुशल प्रश्नके पूछनेमें आदर किये, चित्तमें गुप्त विष और बाहरसे मधुमय, माया करनेमें अतिचतुर, यह क्या चमत्कार अभिनय (१) विधि है जो दुर्जन लोगोंने सीखी है ॥ १६२ ॥

तथा हि-

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः। इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धाताऽपि भग्नोद्यमः॥ १६३ ॥'

---

(१) नाटक करनेवाले जिस प्रकार राम, कृष्ण, बलदेव इत्यादिके रूप बनाय, उनकी अंगभंगी और भाव दिखाते हैं, परन्तु वास्तवमें वह राम, कृष्णादि हैं नहीं, ऐसेही दुष्टलोग बाहरसे लोगोंके निकट अनेक प्रकारकी सुजनता करते हैं, परन्तु वास्तवमें वे सुजन नहीं होते।

वैसाही–दुस्तर जल समुद्र तरनेके लिये नौका, अन्धकारके उपस्थित होनेपर प्रदीप, विना वायुके स्थानमें पंखा, मतवाले हाथीका गर्व नाश करनेके लिये अंकुश इस प्रकार पृथ्वीपर वह नहीं है कि जिसके उपायकी विधाताने चिन्ता नहीं की है; किन्तु यह मानते हैं कि, खलके अन्तःकरणका चरित्र हरण करनेके लिये ब्रह्माका उद्यम भी नष्ट है ॥ १६३ ॥'

संजीवकः-स्वगतं--' कष्टं भोः ! कथमहं सस्य-भक्षकः सिंहेन निपातयितव्यः । यतः–

संजीवकने मनहीमनमें विचारा,–' ओह ! क्या कष्ट है ! मैं बैल विचारा केवल अन्नका खानेवाला हूं, सिंह किस दोषसे हमको बध करेगा ? क्योंकि,–

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम् ।
तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित् १६४'

दोनोंका समान बल और समान धन होनेपर विवाद होता है, दुर्बलके सहित बलवान्का युद्ध कहां ? ॥ १६४ ॥'

पुनर्विचिन्त्य–' केनायं राजा ममोपरि विकारितः ? न जाने । भेदमुपगताद्राज्ञः सदा भेतव्यम् ।

फिर चिन्ता करके कहा,–' नहीं जानता, किसने मेरे ऊपर राजाका ऐसा मन पलटदिया ? और जो राजाका मन एकवार फिरजाय तो उससे सदा शंका करना उचित है । कारण,–

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।
वलयं स्फटिकस्येव को हि सन्धातुमीश्वरः ॥१६५॥

काचकी चूडीको जोडनेके लिये जिस प्रकार कोई समर्थ नहीं होता, वैसेही राजाका अन्तःकरण मन्त्रीकरके बिगडा हुआ होनेपर कोई उसके सुधारनेके समर्थ नहीं होता है ॥ १६५ ॥

अन्यच्च–वज्रं च राजतेजश्च द्वयमेवातिभीषणम् ।
एकमेकत्र पतितं पतत्यन्यत्समन्ततः ॥ १६६ ॥

औरभी-वज्र और राजाका क्रोध ये दोनों अत्यन्त भयानक हैं. इनमेंसे वज्र तो एक स्थानपर ही गिरता है और दूसरा जो राजक्रोध है वह सब जगह पडता है ॥

ततः संग्रामे मृत्युरेव वरम् । इदानीं तदाज्ञानुवर्तनमयुक्तम् ।

इसलिये इस समय युद्ध करकेही प्राणत्याग करूं, अब और उसकी आराधना करना उचित नहीं है ।

यतः-मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं शत्रुं हत्वा सुखानि वा ।
उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ १६७ ॥

कारण,-(१) मरनेपर स्वर्ग पाता है, या शत्रुके नष्ट करनेपर सुख पाता है । इसलिये वीरलोगोंको ये दोनोंही गुण दुर्लभ हैं ॥ १६७ ॥

युद्धकालश्चायम्-यत्रायुद्धे ध्रुवं मृत्युर्युद्धे जीवितसंशयः।
तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १६८ ॥

और यही प्रकृत युद्धका समय है । कारण,-जब कि युद्ध न करनेपर अवश्य मृत्यु है और युद्धमें प्राणसंशय है, पंडित लोग उसी कालको युद्धका समय कहते हैं १६८

यतः-अयुद्धे हि यदा पश्येन्न किञ्चिद्धितमात्मनः ।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १६९ ॥

कारण,-युद्ध न करनेपर यदि अपना मंगल न देखे तो पंडितजन युद्ध करके शत्रुके साथ मरे ॥ १६९ ॥

जये च लभते लक्ष्मीं मृतेनापि सुराङ्गनाः ।
क्षणविध्वंसिनः कायाः का चिन्ता मरणे रणे १७०॥'

---

(१) शास्त्रमें कहा है कि-युद्धमें प्राणत्याग करनेसे उसी समय स्वर्ग मिलता है; इस कारण वीरपुरुषोंके लिये युद्धमें प्राणत्याग करना, या जय प्राप्त करना ये दोनोंही परम मंगलकी बात हैं; क्योंकि-प्राणत्याग करनेसे उसी समय स्वर्ग मिलता और युद्धमें जय होनेपरभी धन, रत्न, राजपद इत्यादि प्राप्त होते हैं।

जय होनेपर राजलक्ष्मी पाता है, मरनेपर देवकन्या मिलती है, यह शरीर क्षणभरका स्थायी है, फिर युद्ध करके मरनेमें क्या चिन्ता है ? ॥ १७० ॥'

एतच्चिन्तयित्वा सञ्जीवक आह–'भो मित्र ! कथमसौ मां जिघांसुर्ज्ञातव्यः ?'। दमनको ब्रूते–'यदाऽसौ पिङ्गलकः समुन्नतलांगूलः उन्नतचरणो विवृतास्यस्त्वां पश्यति तदा त्वमेव स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि। यतः–

इस प्रकारसे विचार कर संजीवकने कहा,–' मित्र ! वे मेरा वध करना चाहते हैं, यह मैं कैसे जानूंगा ? '। दमनकने कहा,–' जब वह दोनों कान सकोडकरके पूंछ ऊपरको खडी करके, चरण उठाय मुँह फैलाय तुम्हारी ओर देखे, तब तुमभी अपने पराक्रमको प्रकाश करनेमें कसर न करना। कारण–

बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाभिभवास्पदम्।
निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मचये पदम्॥१७१॥

(१) निस्तेज लोग बलवान् होनेपर भी किसीकी पराजयके स्थान नहीं होते, देखो ! लोग शंकारहित होकर राखके ढेरपर पांव रखते हैं ॥ १७१ ॥

किं तु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यं नो चेन्न त्वं नाहम्' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः। करटकेनोक्तम्–'किं निष्पन्नम्?'। दमनकेनोक्तम्–'निष्पन्नोऽसावन्योन्यभेदः'। करटको ब्रूते–'कोऽत्र संदेहः। यतः–

---

(१) जिस प्रकार जलती हुई आगको कोई भी पैरसे नहीं ठुकरासकता, वैसेही तेजस्वी पुरुषका अपमान करनेको कोई साहस नहीं करसकता । अग्निकी छाई होनेपर जिस प्रकार सबहीं उसको पांवसे ठुकरा देते हैं; वैसेही तेजहीन पुरुषका सब अपमान किया करते हैं।

परन्तु, तुम ये समस्त बातें अति छिपायकर रखना, प्रगट होनेपर तुम्हारी भी रक्षा नहीं, मेरी भी रक्षा नहीं ' । तिसके पीछे दमनक करटकके निकट गया । करटकने पूंछा,–' क्यों ! कार्य सिद्ध होगया ? ' । दमनकने कहा,--' हां, उन दोनोंमें सुहृद्भेद करा दिया ' । करटकने कहा,–' इसमें क्या सन्देह है ? क्योंकि.—

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः ।
को न हृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः॥ १७२॥

दुर्जनका बन्धु कौन ? जांचा जानेपर कौन क्रुद्ध नहीं होता ? धनसे कौन अहंकारी नहीं होता ? निन्दित कर्म करनेमें कौन पंडित नहीं होता ? ॥ १७२ ॥

अन्यच्च–दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ॥१७३॥ '

औरभी–धूर्तलोग अपना हित करनेकी इच्छासे श्रेष्ठ पुरुषकोभी खोटे चरित्रवाला करदेते हैं, क्योंकि--अग्निकी समान खलका संसर्ग क्या नहीं करता ? ॥ १७३ ॥ '

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव ! समागतोऽसौ पापाशयः–'ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामास। संजीवकोऽप्यागत्य तथाविधं विकृताकारं सिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रमं चकार। ततस्तयोर्युद्धे संजीवकः सिंहेन व्यापादितः। अथ संजीवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव तिष्ठति ब्रूते च–'किं मया दारुणं कर्म कृतम्। यतः–

तिसके पीछे दमनकने सिंहके निकट जायकर कहा;--' देव ! वह पापात्मा आताहै, इसलिये सज्जित होकर रहिये ' । यह कहकर उसने सिंहको वैसेही सजा रक्खा । संजीवकने भी आयकर सिंहको वैसा विकटाकार देख यथासाध्य विक्रम प्रकाश किया । इसके उपरान्त दोनोंमें कठोर युद्ध होने लगा, संजीवक सिंहके

हाथसे मारा गया। पिंगलक, सेवक संजीवकको संहार, थकावट दूर कर, विषादितभावसे बैठा और कहने लगा;--' मैंने कैसा दारुण कार्य किया ?

परैः संभुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम्।
धर्मातिक्रमतो राजा सिंहो हस्तिवधादिव ॥१७४॥

कारण;--सिंह जिस प्रकार हस्तिवधसे पापका अपने आप भागी होता है, और मुक्तादि दूसरे भोगते हैं, ऐसेही राजा धर्मको उल्लंघन कर आप पापका आश्रय होता है, राज्य दूसरों करके भोगा जाता है ॥ १७४ ॥

अपरं च-भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य
भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशः।
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां
नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥ १७५ ॥'

औरभी,--उपजाऊ भूमिका नाश और बुद्धिमान् दासका नाश इन दोनोंमें सेवकका नाश राजाओंको मरणतुल्य है; क्योंकि भूमि नष्ट होनेपर फिर मिलजाती है; नष्ट हुए सेवकका पाना दुर्लभ है ॥ १७५ ॥ '

दमनको ब्रूते-'स्वामिन् ! कोऽयं नूतनो न्यायो यदरातिं हत्वा संतापः क्रियते। तथा चोक्तम्-

दमनकने कहा;--' स्वामिन् ! यह क्या अद्भुत बात है ? कि--आप शत्रुके वध करके शोक प्रकाश करते हैं। शास्त्रकार लोगोंने कहा है कि,—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो वा यदि वा सुहृत्।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता॥१७६॥

पिता, भ्राता, पुत्र या बन्धु लोग भी यदि जीवनविनाशकारक हों तो ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला जो राजा है, उस करके मारडालने योग्य हैं ॥ १७६ ॥

अपि च-धर्मार्थकामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत्।
न हि हस्तस्थमप्यन्नं क्षमावान्भक्षितुं क्षमः ॥१७७॥

औरभी--धर्म, अर्थ, कामके यथार्थ जाननेवाले पुरुषको अत्यन्त दयावान् नहीं होना चाहिये, क्योंकि क्षमायुक्त पुरुष हाथमें रक्खे हुए अन्नको भी भक्षण करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ १७७ ॥

किंच-क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ॥ १७८ ॥

औरभी,-शत्रुमें और मित्रमें यतिलोगोंकोही क्षमा भूषण है, राजाओंकी अपराधी लोगोंमें वह क्षमाही दोष है ॥ १७८ ॥

अपरं च-राज्यलोभादहङ्कारादिच्छतः स्वामिनः पदम् ।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम् ॥ १७९ ॥

औरभी,-राज्यलोभप्रयुक्त अहंकारसे स्वामीके पदकी जो इच्छा करता है, उसको प्राणत्याग करनाही एक प्रायश्चित्त है, दूसरा नहीं ॥ १७९ ॥

अन्यच्च-राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षः
स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः ।
प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी
त्याज्या इमे यश्च कृतं न वेत्ति ॥ १८० ॥

औरभी-घृणायुक्त राजा, सर्वभक्षक ब्राह्मण, वशमें न हुई स्त्री (भार्या), प्रतिकूल सेवक, दुष्टस्वभावका सहायक, अनाज्ञाकारी अभिमानी अधिकारी और जो किये कर्मको नहीं मानता, वे सात जन त्याग करनेके योग्य हैं ॥ १८० ॥

विशेषतश्च-सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ १८१ ॥'

विशेषकरके;-सत्य कहनेवाली, झूंठे कहनेवाली, निठुरभाषिणी और प्रिय कहनेवाली, मारनेवाली, दयालु, कृपण, दानशील, बहुत खर्च करनेवाली और बहुत रत्न व धनकी ग्रहण करनेवाली इस प्रकार वश्याकी समान अनेकरूपवाली राजाओंकी नीति होती है ॥ १८१ ॥'

इति कपटवचनेन दमनकेन सन्तोषितः पिङ्गलकः स्वां प्रकृतिमापन्नः सिंहासने समुपविष्टः । दमनकः प्रहृष्टमना भूत्वा राजानमाह–' विजयतां महाराजः । शुभमस्तु सर्वजगताम् ' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः ॥

दमनकके इस प्रकार कपट वार्ताके प्रवन्धसे मन संतोषित करनेपर पिंगलक सावधान होकर सिंहासनपर बैठा । दमनकने अत्यन्त आह्लादित होकर पशुराजसे कहा;–' महाराजकी सदा जय हो । समस्त जगत्का मंगल हो ' यह कहकर वह वहां परम सुखसे वास करने लगा ॥

विष्णुशर्मोवाच–' सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः'?। राजपुत्रा ऊचुः–'भवत्प्रसादाच्छ्रुतः । सुखिनो वयम् ' । विष्णुशर्माऽब्रवीत्–' अपरमपीदमस्तु–

विष्णुशर्माने कहा,–' सुहृद्भेदकी कथा तुमने सुनी ?' । राजकुमारोंने कहा– ' आपके प्रसादसे सुनकर सुखी हुए ' । विष्णुशर्माने कहा,–'औरभी हम यह आशीर्वाद करते हैं कि;–

सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये
खलः कालाकृष्टः प्रलयमुपसर्पत्वहरहः ।
जनो नित्यं भूयात्सकलसुखसंपत्तिवसतिः
कथारम्भे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम् १८२॥'

इति श्रीविष्णुशर्मकृते हितोपदेशे सुहृद्भेदो नाम
द्वितीयः कथासंग्रहः समाप्तः ।

आप लोगोंके शत्रुओंके गृहोंमें सुहृद्भेद हो, और कालसे खैंचे जाकर खल लोग सदा प्रलयको प्राप्त होवें, सब मनुष्य सुखजनकके ऐश्वर्यसे परिपूर्ण हों और इस रमणीय कथाके आरम्भ करनेमें सदा बालक भी रमते रहैं ॥ १८२ ॥ '

इति हितोपदेशमें सुहृद्भेदनामक द्वितीयकथासंग्रह समाप्त हुआ ॥

॥ शिवमस्तु ॥

विग्रहः ।



पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य! राजपुत्रा वयम्, तद्विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति'। विष्णुशर्मणोक्तम्—' यदेवं भवद्भ्यो रोचते कथयामि । विग्रहः श्रूयताम् । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

फिर कथाके आरंभकालमें राजकुमारोंने कहा,—' हे गुरो ! हम राजकुमार हैं, इसलिये युद्धके विषय श्रवण करनेको हमें कौतूहल हुआ है '। यह सुनकर विष्णुशर्माजीने कहा,—' तुम लोगोंकी जिसमें रुचि है; वही कहता हूं सुनो । उसका यह प्रथम श्लोक है,—

हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे ।
विश्वास्य वञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वाऽरिमन्दिरे १'

हंसोंके साहित युद्धमें मोरोंके तुल्य पराक्रमसेभी काक करके शत्रुगृहमें रहकर विश्वास उपजाय हंस ठगगये ॥ १ ॥'

राजपुत्रा ऊचुः—' कथमेतत ? '। विष्णुशर्मा कथयति—

राजकुमारोंने पूछा,—' वह किस प्रकार ? '। विष्णुशर्माने कहा;—

अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः। तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति। स च सर्वैर्जलचरपक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्येऽभिषिक्तः। यतः—

' कर्पूरद्वीपमें पद्मकेलिनाम एक सरोवर है । उस सरोवरमें हिरण्यगर्भ नामक एक राजहंस वास करताथा, समस्त जलचर पपियोंने मिलकर उस राजहंसको पक्षिराज्यमें अभिषिक्त किया । कारण—

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ २ ॥

सम्यक् प्रकारसे नायक राजा यदि न हो तो समुद्रमें कर्णधारहीन नौका जिस प्रकार डूबजाती है वैसेही प्रजा डूबती है (१) ॥ २ ॥

अपरं च-प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्धयति पार्थिवम् ।
वर्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत् ॥ ३ ॥

औरभी,-राजा प्रजाकी रक्षा करै है, प्रजा राजाको बढावै है, बढानेसे रक्षा करना मंगलदायक है, क्योंकि रक्षा न करनेसे विद्यमानभी अविद्यमान होता है॥ ३॥

एकदाऽसौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के सुखासीनः परिवारपरिवृतास्तिष्ठति । ततः कुतश्चिद्देशादागत्य दीर्घमुखो नाम बकः प्रणम्योपविष्टः । राजोवाच-' दीर्घमुख ! देशान्तरादागतोऽसि । वार्तां कथय' । स ब्रूते-' देव ! अस्ति महती वार्ता । तां वक्तुं सत्वरमागतोऽहम् । श्रूयताम्—

एक दिन वह राजहंस अपने परिवारसे वेष्टित हो बहुत बडे कमलके पलंगपर सुखसे बैठा था कि, इतनेमें दीर्घमुख नामक एक बगला किसी देशसे वहां आया राजाको प्रणाम कर बैठगया । राजहंसने उससे पूछा;-' अरे दीर्घमुख ! तुम विदेशसे आये, कहो क्या समाचार है ? उसने कहा,-' महाराज ! विशेष समाचार है, उसको कहनेके लिये मैं शीघ्र आया हूं, कहताहूं श्रवण कीजिये;-

अस्ति जम्बूद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः । तत्र चित्रवर्णो नाम मयूरः पक्षिराजो निवसति । तस्यानुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिरहं दग्धारण्यमध्ये

---

(१) ' कर्णधारहीन ' जिस नावपर मल्लाह नहीं । जिस प्रकार विना मल्लाहके नावकी दुर्गति होती है, राजाके न होनेपर लोकसमाजकी भी वह दुर्दशा होती है।

चरन्नवलोकितः पृष्टश्च-' कस्त्वम्, कुतः समागतोऽसि ? '। तदा मयोक्तम्-' कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्यानुचरोऽहम् । कौतुकाद्देशान्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि । '

जम्बूद्वीपमें विन्ध्यनाम एक पर्वत है, वहां चित्रवर्ण नामक एक पक्षिराज मोर वास करता है । मैं वहांके एक जले हुए वनमें घूमता था कि, इतनेमें उस राजाके कुछ एक नौकरोंने मुझे देखकर पूछा,-' तू कौन है ? कहांसे आया है ?'। तब मैंने कहा-' कर्पूरद्वीपके महाराज चक्रवर्ती राजहंस हिरण्यगर्भका मैं अनुचर हूं । कौतुकवश हो विदेश देखनेको आया हूं '।

एतच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्-'अनयोर्देशयोः को देशो भद्रतरो राजा च?'। मयोक्तम्-'आः किमेवमुच्यते । महदन्तरम् । यतः कर्पूरद्वीपः स्वर्ग एव । राजहंसश्च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं वर्णयितुं शक्यते । अत्र मरुस्थले पतिता यूयं किं कुरुथ?, आगच्छतास्मद्देशो गम्यताम् '।ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे सकोपा बभूवुः ।तथा चोक्तम्-

यह सुनकर उन लोगोंने कहा,-' तुम्हारा देश और हमारा देश इन दोनों देशोंमेंसे कौन देश भला है ? और राजा भी कौनसा अच्छा है ?'। तिससे मैंने कहा,-' आ, किसके साथ किसकी बात; बहुत भेद है. क्योंकि, हमारा कर्पूरद्वीप स्वर्ग और हमारा राजाभी राजहंस दूसरा स्वर्गका पति इन्द्र है । किसकी सामर्थ्य है जो वाणीसे उसका वर्णन कर सके । तुम लोग किसलिये इस मरुभूमीमें पडे हो ? आओ ! हमारे देशमें चलो '। हमारे ये वचन सुनकर वे सबही मेरे ऊपर क्रोधित हुए । कहाभी है कि,-

पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ॥४॥

जैसे सर्पोंको दूध पिलाना केवल विषका बढानेवाला होता है वैसेही मूढोंको उपदेश देना क्रोधकाही निमित्त होता है, शान्तिके निमित्त नहीं होता ॥ ४ ॥

अन्यच्च–विद्वानेवोपदेष्टव्यो नाविद्वांस्तु कदाचन।
वानरानुपदिश्याथ स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः ॥ ५ ॥'

पण्डितकोही उपदेश देना ठीक है, मूढको कदापि नहीं. मूढ वानरोंको उपदेश करके पक्षिगण स्थानभ्रष्ट हुए थे ॥ ५ ॥'

राजोवाच–'कथमेतत्?'। दीर्घमुखः कथयति–

राजाने पूछा–' वह किस प्रकार ? '। दीर्घमुखने कहा,–

कथा १.

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणो निवसन्ति सुखेन। अथैकदा वर्षासु नीलपटलैरावृते नभस्तले धारासारैर्महती वृष्टिर्बभूव। ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्छीताकुलान् कम्पमानानवलोक्य कृपया पक्षिभिरुक्तम्– 'भोभो वानराः! शृणुत–

नर्मदानदीके तीर एक पर्वतकी तलैटीमें एक बडा सेमलका पेड है, पक्षिगण उस वृक्षमें घोंसला बनायकर उसमें परम सुखसे वास करतेथे। इसके उपरान्त एकदिन वर्षाकालमें नीलपुञ्जकी समान बादलोंसे आकाशमंडल ढकजानेपर अतिघोर वर्षा होने लगी। उस वृक्षके पक्षियोंने देखा कि–एक वानरोंका दल वृक्षके तले बैठकर भीज रहाहै और शीतसे आर्त होकर काँप रहाहै। यह देख पक्षियोंने दया करके कहा;–' हे वानरगण ! सुनो,–

अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राहृतैस्तृणैः।
हस्तपादादिसंयुक्ता यूयं किमिति सीदथ? ॥ ६ ॥'

हम सबने चोंचमात्रसे लाये हुए तिनकोंकरके घोंसला बनायाहै, (फिर) हाथ-पांवयुक्त तुमलोग क्यों इस प्रकारसे दुःख उठाते हो ? ॥ ६ ॥'

तच्छ्रुत्वा वानरैर्जातामर्षैरालोचितम्-' अहो! निर्वातनीडगर्भावस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान्निन्दन्ति । भवतु तावद्वृष्टेरुपशमः ।' अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य सर्वे नीडा भग्नास्तेषामण्डानि चाधः पातितानि । अतोऽहं ब्रवीमि-'विद्वानेवोपदेष्टव्यः' इत्यादि ।

यह सुनकर क्रोधित हुए वानरोंने विचारा-' अहो ! इन पक्षियोंके घोंसलोंमें पवन जल प्रवेश नहीं करता, ये (पक्षी) इनमें सुखसे जो बैठे हैं इसी कारणसे ये हमलोगोंकी निन्दा करते हैं । अच्छा, वर्षाके एकवार थमतेही इसका प्रतिफल देंगे '। इसके उपरान्त वर्षा थमनेपर वानरोंने वृक्षोंपर चढकर समस्त पक्षियोंके घोंसले तोड डाले और उनके अंडे फेंकादिये । इसीलिये मैं कहता हूं कि-' पंडितकोही उपदेश करना ठीक है ' इत्यादि ।

राजोवाच-'ततस्तैः किं कृतम् ?' । बकः कथयति-'ततस्तैः पक्षिभिः कोपादुक्तम्-' केनासौ राजहंसो राजा कृतः ?' । ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्-'अयं युष्मदीयमयूरः केन राजा कृतः ?' । तच्छ्रुत्वा ते सर्वे मां हन्तुमुद्यताः । ततो मयाऽपि स्वविक्रमो दर्शितः । यतः-

राजाने पूछा,-' तिसके पीछे उन पक्षियोंने तुमसे क्या कहा ?' । दीर्घमुखने कहा,-'पक्षिगण क्रोधित होकर बोले-'तुम्हारे इस राजहंसको किसने राजा किया ?'। यह सुनकर मुझेभी क्रोध आया, मैंनेभी कहा,-' तुम्हारे इस मोरको किसने राजा बनाया ?'। यह सुनकर वे सब पक्षी मुझको मारनेके लिये तैयार हुए । तब मैंनेभी अपना पराक्रम प्रकाश किया, कारण—

अन्यदा भूषणं पुंसां क्षमा लज्जेव योषिताम्।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ ७॥'

स्त्रियोंमें जैसे लाज भूषण है ऐसेही और करके पराभव कालके सिवाय और सब समय क्षमाही पुरुषोंका भूषण है और रतिके समय स्त्रियोंकी जिस प्रकार निर्लज्जता भूषण है, ऐसेही और करके पराभवके समय पुरुषोंका पराक्रमही भूषण है (१) ॥७॥

राजा विहस्याह–

राजा राजहंसने हँसकर कहा,–

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाबलम्।
अन्तरं नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः ॥ ८ ॥

जो जन अपना और पराया बल देखकर अन्तर नहीं जानता, शत्रु उसका तिरस्कार करते हैं ॥ ८ ॥

अन्यच्च–सुचिरं हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान्।
द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो वाग्दोषाद्गर्दभो हतः ॥ ९ ॥'

व्याघ्रके चर्मसे ढका हुआ, बुद्धिरहित गधा खेतमें बहुत समयतक प्रतिदिन नाज खाता हुआ वाक्यके दोषसे मारा गया ॥ ९ ॥'

बकः पृच्छति–'कथमेतत्?'। राजा कथयति–

बकने पूछा,–' यह किस प्रकार?'। राजहंसने कहा,—

कथा २.

अस्ति हस्तिनापुरे विलासी नाम रजकः। तस्य गर्दभोऽतिवाहनाद्दुर्बलो मुमूर्षुरिवाभवत्। ततस्तेन रजकेनासौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्यारण्यसमीपे सस्यक्षेत्रे मोचितः। ततो दूरात्तमवलोक्य

(१) मूल संस्कृत श्लोक माघकविके बनाये शिशुपालवधकाव्यके दूसरे सर्गमें है।

व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः पलायन्ते । अथैकदा केनापि सस्यरक्षकेण धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन धनुष्काण्डं सज्जीकृत्यानतकायेनैकान्ते स्थितम्। तं च दूराद्दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो यथेष्टसस्यभक्षण-जातबलो गर्दभोऽयमिति मत्वोच्चैः शब्दं कुर्वाण-स्तदभिमुखं धावितः । ततस्तेन सस्यरक्ष-केण चीत्कारशब्दान्निश्चित्य गर्दभोऽयमिति लीलयैव व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि-'सुचिरं हि चरन्नित्यम्' इत्यादि ।

हस्तिनापुरमें विलासीनामक एक धोबी है; उसका गधा बहुत भार उठाते २ धीरे २ दुर्बल और मरतेंगियासा होगया । इसके उपरान्त उस धोबीने गधेको बाघका चमडा चढायकर वनके निकट एक नाजके खेतमें छोड दिया । खेतके स्वामी दूरसे उसको देख मनमें बाघ समझकर अतिवेगसे भाग जाते थे । इसके पीछे एक नाजका रखानेवाला किसान धौले रंगके कम्बलसे देह ढक धनुषबाण सजायकर एकांतस्थानमें झुककर ठहरा । वह बाघके चमडेसे ढका हुआ गधा स्वच्छन्द नाज खायकर बहुत बलवान् और हृष्टपुष्ट हुआ था । वह दूरसे इस किसानको देख उसको अपनी जातिवाला जान ऊंचे स्वरसे रेंकता २ उसके सम्मुख दौडा, तब नाजके रखानेवालेने उसको गधा जानकर अनायाससे उसको मारडाला । इसीलिये मैं कहताहूं कि;-'भलीभांतिसे प्रतिदिन चरता' इत्यादि ।

दीर्घमुखो ब्रूते-ततः पक्षिभिरुक्तम्-'अरे पाप ! दुष्ट ! बक! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिन-मधिक्षिपसि ? तन्न क्षन्तव्यमिदानीम्' इत्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुभिर्हत्वा सकोपा ऊचुः-' पश्य रे मूर्ख ! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः । तस्य राज्याधिकारो नास्ति। यत एकान्तमृदुः कर-

तलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षमः। स कथं पृथिवीं शास्ति ? राज्यं वा तस्य किम् ? किं तु त्वं च कूपमण्डूकः। तेन तदाश्रयमुपदिशसि। शृणु–

दीर्घमुखने कहा;–तिसके पीछे वे सब पक्षी बोले–' अरे पापी ! दुष्ट ! बगले ! तू हमारी ही भूमिपर विचरण करके हमारेही महाराजको गाली देता है ? यह हम कभीभी नहीं सहेंगे '। यह कह सबहीने चोंचसे मेरे ऊपर प्रहार करके क्रोधसे कहा;–'देख रे मूर्ख ! तेरा राजा वह राजहंस अत्यन्त निस्तेज है, इसलिये उसका राज्यपदपर ही अधिकार नहीं। कारण कि,–अत्यन्त निस्तेज पुरुष लक्ष्मी हाथमें पानेपर भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। इसलिये ऐसा पुरुष किस प्रकारसे पृथ्वीका पालन करैगा ? और उसका राज्यही क्या ? तू क्या कूपमण्डूक है (१), जो उसके आश्रय ग्रहण करनेका उपदेश देता है। श्रवण कर,—

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात्फलं नास्ति छाया केन निवार्यते॥ १०॥

फल और छायासे युक्त वृक्ष सेवा करनेके योग्य है, क्योंकि,–दैवसे जो फल न रहैं, तो छायाको कौन रोक सकता है ? ॥ १० ॥

अन्यच्च--हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते वारुणीत्यभिधीयते॥ ११ ॥

औरभी,–ओछेकी सेवा करना कर्तव्य नहीं, बडेका आश्रय लेनाही कर्तव्य है। कलालिनी (२) के हाथमें रक्खे हुए दूधकोभी लोग मदिरा कहते हैं ॥ ११ ॥

---

(१) ' कूपमण्डूक ' जो मण्डूक अर्थात् मेंढक कुएमेंही सदा वास करै और उसने कभी कोई भला तालाब नहीं देखा और अपने उस छोटे कुएकोही श्रेष्ठ जलाशय समझै, उस मेंढकको ' कूपमण्डूक ' कहते हैं इसी भाँति जो पुरुष सब विषयोंसे अनजान है वे केवल अपनेही साधारण देश या साधारण ज्ञानको सर्वश्रेष्ठ मानता है, उसको भी लोग हँसीसे 'कूपमंडूक' कहा करते हैं ॥

(२) कलालिनीके हाथमें दूध होनेपर जैसे लोग उसको शराब समझते हैं, वैसे–

अजा सिंहप्रसादेन वने चरति निर्भयम् ।
राममासाद्य लङ्कायां लेभे राज्यं विभीषणः ॥ १२ ॥

बकरी भी सिंहके प्रसादसे वनमें निर्भय चरै, श्रीरामचंद्रजीका श्रेष्ठ आश्रय ग्रहण करके विभीषणने लंकाका राज्य पाया ॥ १२ ॥

अन्यच्च-महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।
आधाराधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे ॥ १३ ॥

औरभी-(१) आश्रयकाभी आश्रय देनेवाला सम्बन्धयुक्त हस्तिश्रेष्ठभी जिस प्रकार दर्पणमें क्षुद्रताको पाता है, वैसेही गुणवान् महान् पुरुषभी ओछेके आश्रयसे लघुताको पाता है ॥ १३ ॥

विशेषतश्च-व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।
शशिनो व्यपदेशेन शशकाः सुखमासते ॥ १४ ॥'

विशेष करके,-अतिसमर्थ राजामें भी छलके कार्य सिद्ध होता है. क्योंकि, चंद्र सम्बन्धि छलोक्तिसे खरगोश सुखसे रहते हैं ॥ १४ ॥'

मयोक्तम्-'कथमेतत् ?' । पक्षिणः कथयन्ति-

मैंने पूछा,-' वह किस प्रकार ? ' । पक्षियोंने कहा—

कथा ३.

कदाचिद् वर्षासु वृष्टेरभावात्तृषार्तो गजयूथो यूथपतिमाह-'नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय ? नास्ति क्षुद्रजन्तूनां निमज्जनस्थानम् । वयं च

-ही नीच मनुष्यके साथ रहनेसे भले आदमीको भी लोग नीच समझते हैं कारण भले मानुषोंको किसी भाँति नीचोंकी संगतिमें न रहना चाहिये ॥

(१) हाथीका आकार बडा भारी होनेपर भी जिस प्रकार छोटे दर्पणमें उसकी छाया पडनेपर वह छोटा दिखाई देताहै; वैसेही ओछे मनुष्यके आश्रय रहनेसे महान् पुरुष भी ओछे स्वभावको प्राप्त होते हैं । अर्थात् आश्रयके दोष या गुणके अनुसार वस्तु वा पुरुष दोष गुणको प्राप्त होता है ॥

निमज्जनस्थानाभावान्मृताहा इव । किं कुर्मः क्व यामः ?' । ततो हस्तिराजो नातिदूरे गत्वा निर्मलं ह्रदं दर्शितवान् । ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरस्थिता गजपादाहतिभिश्चूर्णिताः क्षुद्र-शशकाः ।

एक समय वर्षाकालमें वृष्टि न होनेपर हाथियोंने प्याससे आतुर हो यूथपतिसे निवेदन किया,–' प्रभो ! हमारी प्राणरक्षा होनेका क्या उपाय है ? छोटे जन्तुओंके स्नानकाभी स्थान नहीं है, हम स्नानस्थानके अभावसे पीडाके मारे मृतकसे होगये हैं, कहां जाँय ? क्या करें ?'। इसके उपरान्त गजराजने बहुतही थोडी दूर उनको लेजायकर एक निर्मल सरोवर दिखा दिया । दिन २ उस गजयूथके चरणप्रहारसे उस सरोवरके तटपर रहनेवाले छोटे २ खरगोश चूर्ण होने लगे ।

अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयन्नाह-'अनेन गजयूथेन पिपासाकुलितेन प्रत्यहमत्रा-गन्तव्यम् । अतो विनश्यत्यस्मत्कुलम् '। ततो विजयो नाम वृद्धशशोऽवदत्–' मा विषीदत । मयाऽत्र प्रतीकारः कर्तव्यः'। ततोऽसौ प्रतिज्ञाय चलितः । गच्छता च तेनालोचितम्–'कथं गज-यूथसमीपे स्थित्वा वक्तव्यम् ?। यतः–

इसके पीछे शिलीमुखनामक एक खरगोशने मनही मन सोचा;–' यह प्यासका मारा हाथियोंका दल प्रतिदिन यहां आवेगा । इसलिये देखते हैं कि, हमलोग वंश सहित नष्ट हुए ' । फिर विजयनामक एक बूढा खरगोश उससे बोला,–"तुम निराश न होओ, मैं इसका उपाय करूंगा ' वह इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके चला गया । उसने जाते २ विचार किया;–' मैं किस प्रकारसे गजयूथपतिके पास जाय बोलूंगा ? कारण;—

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः ।
पलायन्नपि भूपालः प्रहसन्नपि दुर्जनः ॥ १५ ॥

हाथी छूतेही मार डालता है, सांप सूंघतेही मारडालता है, राजा भागतेही मार डालता है और दुर्ज्जन जन हँसते हुए मार डालता है (१) ॥ १५ ॥

अतोऽहं पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथं संवादयामि'। तथाऽनुष्ठिते यूथनाथ उवाच-'कस्त्वम् ? कुतः समायातः ?'। स ब्रूते-'शशकोऽहम् । भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः'। यूथपतिराह-'कार्यमुच्यताम् ।' विजयो ब्रूते-

इसलिये मैं पर्वतके शिखरपर चढकर यूथनाथसे संवाद करूंगा '। उसने जब ऐसाही किया तब यूथनाथने कहा;-' तुम कौन ? कहांसे आये हो ? '। खरगोशने कहा;-' मैं दूत हूं; भगवान् चन्द्रमाने मुझको आपके निकट भेजा है '। यूथपतिने कहा;-' किस कार्यको आया है ? कह । ' खरगोशने कहा,—

'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ।
सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः ॥ १६ ॥

' शस्त्र उठाये जानेपर भी दूत मिथ्या नहीं कहता. क्योंकि, दूत अवध्य भावसे सदाही यथार्थ कहनेवाला है ॥ १६ ॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि । शृणु । यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशकास्त्वया निःसारितास्तदनुचितं कृतम् । यतो रक्षकास्ते शशका मदीयाः । अत एव मे शशाङ्क इति प्रसिद्धिः'। एवमुक्तवति दूते

(१) हाथी, सांप, राजा और दुष्टजन, यह चाहै जितना प्रतिभाव प्रकाश करै इनका विश्वासही न करै । क्योंकि ये सब अचानक भयंकर भाव धारण करके मनुष्योंका प्राणनाश करते हैं ॥

यूथपतिर्भयादिदमाह–'प्रणिधेहि। इदमज्ञानतः कृतम्। पुनर्न गमिष्यामि'। दूत उवाच–'यद्येवं तदत्र सरसि कोपात्कम्पमानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य प्रसाद्य गच्छ'। ततो रात्रौ यूथपतिं नीत्वा जले चञ्चलं चन्द्रबिम्बं दर्शयित्वा यूथपतिः प्रणामं कारितः। उक्तं च तेन–'देव! अज्ञानादनेनापराधः कृतः। ततः क्षम्यताम्। नैवं वारान्तरं विधास्यते' इत्युक्त्वा तेन शशकेन स यूथपतिः प्रस्थापितः। अतो वयं ब्रूमः–'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्' इति।

इसलिये मैं उनकी दी आज्ञा आपको सूचित करताहूं, सुनिये–' इस चन्द्रसरोवरके रक्षक खरगोशोंका नाश करके तुम भला कार्य नहीं करतेहो। कारण कि, सरोवरके रक्षक ये सब खरगोश हमारेही परिजन हैं, इसी कारणसे मैं 'शशाङ्क' इस नामसे जगत्में विख्यात हूं'। दूतके मुखसे वचन सुन यूथपतिने डरकर कहा;–'देव! हमने अनजानमेंही यह कार्य कियाहै अब कभी इस स्थानमें नहीं आवेंगे'। दूतने कहा;–'भगवान् चन्द्रमाजी क्रोधके मारे कम्पायमानशरीर हो इस सरोवरमेंही विराजमान हैं; आप उनको प्रणाम कर व प्रसन्न कर चले जाइये'। इसके उपरान्त उसे रात्रिकालमें सरोवरके जलमें चंचल चन्द्रमाकी परछाईं दिखाई और उनको प्रणाम कराकर कहा,–'देव! इसने अनजानमें अपराध कियाहै, इसलिये इसको क्षमा कीजिये, फिर ऐसा नहीं करेगा'। खरगोशने यह कहकर उस यूथपतिको बिदा किया। इसीलिये हम कहते थे कि–'अति समर्थ राजामें' इत्यादि।

ततो मयोक्तम्–'स एवास्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिसमर्थः। त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्व तत्र युज्यते किं पुना राज्यम्' इति। तदाऽहं तैः पक्षिभिः–'दुष्ट! कथमस्मद्भूमौ चरसि' इत्यभि-

धाय राज्ञश्चित्रवर्णस्य समीपं नीतः । ततो राज्ञः पुरो मां प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम्–'देव ! वध्यतामेष दुष्टो बको यदस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति'। राजाऽऽह–'कोऽयं कुतः समायातः?'। त ऊचुः–'हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्यानुचरः कर्पूरद्वीपादागतः' । अथाहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः– 'कस्तत्र मुख्यो मन्त्री ?' इति । मयोक्तम्–'सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः' । गृध्रो ब्रूते–'युज्यते । स्वदेशजोऽसौ । यतः–

यह सुनकर मैंने कहा,–' हमारे महाराज वह हंसही प्रबलप्रताप और अत्यन्त उपयुक्त पात्र है, साधारण राज्यकी तो बात ही नहीं, वह तो त्रिलोकीके स्वामी होने योग्य हैं '। तब उन पक्षियोंने कहा,–' अरे दुष्ट ! तू किसकी आज्ञासे हमारे अधिकारमें घूमता फिरता है ? ' यह कह मुझको चित्रवर्ण राजाके निकट लेगये । इसके उपरान्त राजाके सम्मुख मुझे पहुंचायकर राजाको प्रणाम कर कहा,–'देव ! देखिये, यह दुष्ट बगला हमारेही देशमें घूमता है और महाराजकीही निन्दा करताहै'। राजाने कहा,–'यह कौन है ? कहांसे आयाहै ? '। उन्होंने कहा–' यह हिरण्यगर्भनामक राजहंसका सेवक कर्पूरद्वीपसे आयाहै '। फिर गिद्धमंत्रीने मुझसे पूंछा,– ' तुम्हारे राजाका प्रधानमंत्री कौन है ? '। मैंने कहा,–' शास्त्रार्थका जाननेवाला सर्वज्ञनामक चक्रवाक '। गिद्धने कहा,–'हां वह पुरुष जो राजाका स्वदेशीय है, तो मंत्रीपदके योग्यही है । कारण,–

स्वदेशजं कुलाचारविशुद्धमथवा शुचिम् ।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥

अपने देशका उत्पन्न हुआ, कुलाचारका जाननेवाला, रिशवत न लेनेवाला, पवित्र, मंत्रका जाननेवाला, व्यसनसे रहित, व्यभिचारदोषसे हीन ॥ १७ ॥

अधीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं विपश्चितम् ।
अर्थस्योत्पादकं चैव विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः ॥१८॥'

व्यवहारका जाननेवाला, उत्तमकुलमें उत्पन्न हुआ, विख्यात, पंडित, धनका पैदा करनेवाला ऐसे पुरुषको राजा मंत्री बनावै ॥ १८ ॥ '

अत्रान्तरे शुकेनोक्तम्–' देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बूद्वीपान्तर्गताः। तत्रापि देवपादाना-मेवाधिपत्यम् '। ततो राज्ञाप्युक्तम्–'एवमेव, यतः–

इसी अवसरमें तोतेने राजासे कहा,–' देव ! कर्पूरद्वीप इत्यादि समस्त छोटे २ द्वीप इस जम्बूद्वीपके अन्तर्गत हैं, इन सब द्वीपोंमें भी महाराजका अधिकार है । ' तब राजाने कहा;–' हां सत्यही कहा है। कारण,–

राजा मत्तः शिशुश्चैव प्रमदा धनगर्विताः ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत् १९॥'

(१) राजा, मतवाला, बालक, स्त्री, धनगर्वित होकर प्राप्त न होनेके योग्य वस्तुका भी अभिलाषा करते हैं और जो पानेके योग्य है उनकी तो बातही क्या? १९'

ततो मयोक्तम्–'यदि वचनमात्रेणैव देवपादाना-माधिपत्यं सिद्ध्यति तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्म-त्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति '। शुको ब्रूते– 'कथमत्र निर्णयः ?' । मयोक्तम्–' संग्राम एव '। राज्ञा विहस्योक्तम्–' स्वस्वामिनं गत्वा सज्जी-कुरु '। तदा मयोक्तम्–' स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्य-ताम् '। राजोवाच–' कः प्रयास्यति दौत्येन ? यत एवंभूतो दूतः कार्यः ।

---

(१) राजा, उन्मत्त, बालक और स्त्री ये चारों दुर्लभ चीजके पानेकी भी कामना करते हैं, इसलिये जब मैं राजा हूं तब अनायाससे कर्पूरद्वीपके पानेकी वासना करूंगा तो इसमें आश्चर्य क्या है ? ।

यह सुनकर मैंने कहा,–'जो केवल मुखके वचनसेही उस स्थानमें भी महाराजकी प्रभुता सिद्ध हो तो यह जम्बूद्वीप भी हमारे स्वामी हिरण्यगर्भके अधिकारमें है'। तोतेने कहा,--'इस बातका किस प्रकार निर्णय हो?'। मैंने कहा,–'युद्धसेही इसका निर्णय होसकता है'। राजाने हँसकर कहा,--'तो तुम जायकर अपने राजासे रणकी तैयारी करनेको कहो'। तब मैंने कहा,--'तो आपभी अपने दूतको भेजिये'। राजाने कहा,--'दूतता करनेको कौन जायगा? कारण कि दूतमें ये सब गुण होने चाहिये,–

भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।
ब्राह्मणः परमर्मज्ञो दूतः स्यात्प्रतिभाववान् ॥२०॥'

अनुरागी, गुणवान्, पवित्र, निपुण, वक्ता, व्यसनरहित, क्षमायुक्त, ब्राह्मण, पराये मर्मको जाननेवाला, अनुभवसे कार्यको समझनेवाला ऐसा पुरुष दूत होता है (१)॥ २० ॥'

गृध्रो वदति–'सन्त्येव दूता बहवः । किं तु ब्राह्मण एव कर्तव्यः । यतः–

गिद्धने कहा,–'ऐसे गुणसम्पन्न दूत बहुत हैं, परन्तु ब्राह्मणको ही दूत करना ठीक है। कारण,–

प्रसादं कुरुते पत्युः संपत्तिं नाभिवाञ्छति ।
कालिमा कालकूटस्य नापैतीश्वरसङ्गमात् ॥ २१ ॥'

(२) स्वामीकी प्रसन्नताहीको करता है, सम्पत्तिका अभिलाष नहीं करता,

---

(१) 'व्यसन' शराब पीना, जुआ खेलना व नशे इत्यादि। 'पराये मर्म' जानना, दूसरेके मनका भाव समझना।

(२) जो पवित्र ब्राह्मणवंशमें उत्पन्न है, वही राजाका दूत होनेके योग्य है। कारण कि, ब्राह्मणसन्तान स्वभावसेही लोभरहित होते हैं, वे राजकार्यमें लगे रहकर भी राजाकी सम्पत्ति हरण नहीं करते, वे राजकार्य सिद्ध करके स्वामीके सन्तुष्ट करनेका ही यत्न करते हैं और अपने आप जैसे दरिद्र होते हैं, वैसेही दरिद्र सदा रहते हैं। इसका दृष्टांत कालकूट विष है। देखो! कालकूट विष समुद्रमथनेके-

जिस प्रकार शिवके कण्ठमें लगी कालकूट (विष) की श्यामता नहीं जाती अर्थात् स्वामीका शुक्लवर्ण सुन्दरताई ग्रहण नहीं करता ॥ २१ ॥'

राजाऽऽह–' ततः शुक एव व्रजतु । शुक ! त्वमेवानेन सह गत्वाऽस्मदभिलषितं ब्रूहि'। शुको ब्रूते-'यथाज्ञापयति देवः, किन्तु अयं दुर्जनो बकः, तदनेन सह न गच्छामि । तथा चोक्तम्–

राजाने कहा–' तो तोताही जावै (१) शुक ! तुमही इसके साथ उस स्थानमें जायकर हमारा अभिप्राय कहो '। शुक बोला–' जो आज्ञा महाराज! परन्तु यह बगला अतिदुष्ट है; मैं दुर्जनके संग कहीं नहीं जाऊंगा । कहाभी है कि;—

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु ।
दशाननोऽहरत्सीतां बन्धनं स्यान्महोदधेः ॥ २२ ॥

खल दुष्कर्म करता है, वह साधुओंपर निश्चय करके फलता है, रावणने सीताका हरण किया और समुद्र बांधा गया ॥ २२ ॥

अपरं च-न स्थातव्यं न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।
काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्तकः ॥२३॥'

औरभी–दुष्टके संग नहीं रहै, कहीं गमन भी नहीं करै. क्योंकि, कौएके साथमें रहनेसे हंस और गमन करनेसे बटेर मारा गया ॥ २३ ॥'

राजोवाच–' कथमेतत् ? '। शुकः कथयति–

राजाने पूछा,–' वह किस प्रकार ? ' तोतेने कहा–

–समय पवित्र सुधासागरसे उत्पन्न हुआ। इसलिये वह अच्छे वंशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणकी समान है । यह कृष्णवर्ण कालकूट सदा सर्वेश्वर महादेवजीके कंठको शोभायमान तो करता है, परन्तु उसके चांदीके पर्वतकी समान अति उजले श्वेतवर्णको हरण नहीं करता अपने आप जैसा काला था, वैसाही काला अब भी है।

(१) मनुष्यजातिमें जैसे ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है, पक्षियोंमें तोताभी वैसेही सबसे श्रेष्ठ है। इसलिये यहांपर तोताही दूत हुआ।

कथा ४.

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे महान् प्लक्षतरुः। तत्र हंसकाकौ निवसतः। कदाचिद्ग्रीष्मसमये परिश्रान्तः कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुष्काण्डं संनिधाय सुप्तः। तत्र क्षणान्तरे तन्मुखाद् वृक्षच्छायाऽपगता। ततः सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य तद्वृक्षस्थितेन हंसेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे छाया कृता। ततो निर्भरनिद्रासुखिना पथि श्रमेणाकुलेन परिश्रान्तेन पान्थेन मुखव्यादानं कृतम्। अथ परसुखमसहिष्णुः स्वभावदौर्जन्येन स काकस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः। ततो यावदसौ पान्थ उत्थायोर्ध्वं निरीक्षते तावत्तेनावलोकितो हंसः काण्डेन हतः। अतोऽहं ब्रवीमि-'न स्थातव्यम्' इत्यादि। तथाहि-

उज्जयिनीके मार्गकी बगलमें एक बडा भारी पाकरका पेड है, उस वृक्षपर एक राजहंस और एक काक वास करता था। एक यात्री एक दिन ग्रीष्मके समय थकित हो उस वृक्षके नीचे धनुष बाण रख छायामें लेट, नींद लेने लगा। इसके उपरान्त उसके मुखपर धूप लगती देखकर, उस वृक्षके रहनेवाले पुण्यात्मा राजहंसने दयायुक्त चित्तसे अपने दोनों पंख फैलाय फिर उसके मुखपर छाया करली। मार्ग चलनेसे पथिक बहुत थकगया था; इसलिये परम सुखसे गाढी नींदमें सोते २ उसने मुंह फैलाया। मुसाफिरके मुख फैलातेही परसुखद्वेषी वह दुःशील कौआ उसके मुखमें बीट करके भाग गया। तिससे जब उस यात्रीकी नींद टूटी तो उसने उस राजहंसको वहां देख बाणोंसे उसका प्राणसंहार किया. इसीलिये मैं कहताहूं कि, 'दुर्जनका संग नहीं करना चाहिये'। कहाभी है कि,-

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मरन्नित्यमनित्यताम् ॥ २४ ॥

दुर्जनका संग छोडके साधुका संग कर, सदा संसारकी अनित्यताको याद करता हुआ रात दिन पुण्य कर ॥ २४ ॥

कथा ५.

देव! वर्तककथामपि कथयामि। एकः काको वृक्षशाखायां स्वपिति। वर्तकश्चाधस्ताद्भूमौ निवसति।

महाराज! बटेरकी कथाभी कहताहूं सुनिये। एक कौआ वृक्षकी शाखापर वास करता था और एक बटेर वृक्षके तले वास करता था।

एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरं गताः। ततः काकेन सह वर्तकश्चलितः। अथ गच्छतो गोपालस्य मस्तकस्थितदधिभाण्डात् वारंवारं तेन काकेन दधि खाद्यते। ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते तावत्तेन काकवर्तकौ दृष्टौ। ततस्तेन खेदितः काकः पलायितः। वर्तकः स्वभावनिरपराधो मन्दगतिस्तेन प्राप्तो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'न स्थातव्यं न गन्तव्यम्' इत्यादि। ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक! किमेवं ब्रवीषि। मां प्रति यथा श्रीमद्देवस्तथा भवानपि'। शुकेनोक्तम्—'अस्त्वेवम्। किन्तु—

एक दिन समस्त पक्षी भगवान् गरुडजीकी यात्रामहोत्सवके प्रसंगसे (१) समुद्रके तीरपर गये। बटेरभी उस कौएके साथ वहांपर चला। एक गोप माथेपर धर दहीका बर्तन लिये जाता था। कौआ बारम्बार उसके शिरपर रक्खे हुए दहीके बर्तनसे दही खाने लगा। इसके पीछे जब उस गोपने दहीके बरतनको भूमिपर रखके ऊपरको देखा तो उस कौए और बटेरको देखपाया उसके ताडना देतेही कौआ भाग गया। बटेर स्वभावसे निरपराधी और धीरे २ गमन करती हुई उस गोपकरके पकडी जाकर मारी गई। इसलिये मैं कहताहूं कि,–' दुर्जनके संग कहीं न रहे न जाय '। फिर मैंने कहा,–' भाई शुक ! आप हमारे सम्बन्धमें ऐसी शंका क्यों करते हैं? हमारे निकट जैसेही महाराज, वैसेही आप '। तोतेने कहा,– ' हां! यह तो सत्य है, परन्तु,—

दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि प्रियाण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि॥ २५॥

दुर्जन करके कहे हुए वचन सम्मत होनेपर भी अकाल कुसुमकी समान भय ही उपजानेवाले हैं (२)॥ २५॥

दुर्जनत्वं च भवतो वाक्यादेव ज्ञातं यदनयोर्भूपालयोर्विग्रहे भवद्वचनमेव निदानम्। पश्य–

---

(१) श्रीकृष्णजीकी डोलयात्रा और रथयात्रा इत्यादिमें जिस प्रकार सब मनुष्य मिलकर महोत्सव किया करते हैं, ऐसेही पक्षिगणभी पक्षिराज गरुडकी यात्राके प्रसंगमें आनन्द उत्सव मनाय समुद्रके तीरपर जाते होंगे।

(२) ' अकालकुसुम ' असमयमें फूल खिलना देशको और गृहस्थलोगोंको बुरा है शास्त्रमें कहा है कि;—

" अद्भुतानि प्रसूयन्ते तत्र देशस्य विद्रवः। अकाले फलपुष्पाणि देशविद्रवकारणम् "।

(मत्स्यपुराण)

कुसमयका फूल देखनेमें मनोहर होनेपरभी जिस प्रकार उससे घोर अमंगलही हुआ करता है। दुर्जनके हास्यसहित वचनभी पहले प्रसन्नताके देनेवाले होकर परिणाममें घोर अमंगल करते हैं॥

और तुम्हारा दुर्जन होना तो तुम्हारे वचनसेही प्रमाणित हुआ है। क्योंकि, केवल तुम्हारे वचनके लियेही इन दोनों राजाओंके बीचमें अकारण विरोध होता है। देख!–

प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति।
रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाऽकरोत्॥२६॥'

साक्षात् अपराध करनेपर भी मूर्ख समझावे बुझानेसे सन्तुष्ट होजाता है, क्योंकि–उपपति (यार) के सहित अपनी स्त्रीको रथकारने मस्तकपर धारण किया था॥'

राज्ञोक्तम्–'कथमेतत्?'। शुकः कथयति–

राजाने कहा,–'यह कैसे हुआ?'। तोतेने कहा—

कथा ६.

अस्ति श्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः। स च स्वभार्यां बन्धकीं जानाति। किन्तु जारेण समं स्वचक्षुषा नैकस्थाने पश्यति। ततोऽसौ रथकारः 'अहमन्यं ग्रामं गच्छामि' इत्युक्त्वा चलितः। कियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य पर्यङ्क-तले स्वगृहे निभृतं स्थितः। अथ रथकारो ग्रामान्तरं गत इत्युपजातविश्वासया तद्वध्वा स जारः सन्ध्याकाल एवाहूतः। पश्चात्तेन समं तस्मिन् पर्यङ्के क्रीडमाना पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किञ्चिदङ्गस्पर्शात्स्वामिनं मायाविनमिति विज्ञाय विषण्णाऽभवत्।

श्रीनगरमें मन्दमतिनाम एक रथकार वास करताथा। वह अपनी स्त्रीको व्यभि-चारिणी जानता, परन्तु उसने कभीभी अपनी आंखोंसे उसको यारके साथ नहीं देखी। एक दिन वह रथकार स्त्रीसे बोला कि,–'मैं आज दूसरे गांवको जाता हूं'

वह यह कहकर गृहसे चला गया । परन्तु कुछही दूर जाय; छिपकर फिर स्थानमें लौटकर आय शयनगृहमें खाटके नीचे दुबक रहा । उसकी स्त्रीके मनमें दृढ विश्वास था कि,- पति दूसरे गांवको गया है । इसलिये उस दिन उसने अपने यारसे सन्ध्याहीके समय आनेको कहा । इसके उपरान्त वह जब खाटके ऊपर यारको लेकर रतिक्रीडामें मत्त हुई, तब खाटके नीचे पतिके अंगसे अपना अंग कुछ छूजानेसे वह समझी कि, स्वामी कपटता करके छिपा हुआ है । तिससे वह स्त्री अत्यन्त विषादित हुई ।

ततो जारेणोक्तम्-' किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे ? विस्मितेव प्रतिभासि मे त्वम्'। तयोक्तम्-'अनभिज्ञोऽसि ? मम प्राणेश्वरो येन ममाकौमारं सख्यं सोऽद्य ग्रामान्तरं गतः । तेन विना सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवद्भाति । किं भावि ? तत्र परस्थाने किं खादितवान् ? कथं वा प्रसुप्तः? इत्यस्मद्धृदयं विदीर्यते । 'जारो ब्रूते-'तव किमेवं स्नेहभूमिः स ते भर्ता कलहकारः?'। बन्धक्यवदत-'रे बर्बर ! किं वदसि ? शृणु-

उसके बाद उपपतिने पूछा,-' आज तुम हमारे साथ निर्भय होकर विहार क्यों नहीं करती हो ? और ऐसी विस्मित क्यों होरही हो ? ' । इसके पीछे उस स्त्रीने उत्तर दिया,-' तुम नहीं जानते ? बालापनसे जिनके साथ मेरा प्रेम है, हमारे वही प्राणेश्वर पति आज दूसरे गांवमें गये हैं; यह गांव समस्त लोकजनोंसे परिपूरित रहनेपरभी, आज उनके विना मुझको वनकी समान जान पडताहै । अहो ! वह परस्थानमें हैं, वहां उनका क्या हुआ ? क्या आहार किया ? कहां शयन किया ? इन्हीं सब दुर्भावनाओंसे मेरा हृदय फटा जाताहै' । यारने कहा;-'तो क्या स्वामीके ऊपर तुम्हारा इतना बडा स्नेह है ? वह तो तुम्हारे साथ कलेश न किया करताहै?'। कुलटाने कहा;-' अरे क्षुद्र ! यह क्या कहता है ? सुनो—

परुषाण्यपि या प्रोक्ता दृष्टा या क्रोधचक्षुषा ।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुः सा नारी धर्मभागिनी ॥ ३७ ॥

स्वामी करके जो स्त्री निष्ठुर वचन भी कही जावै और कोपदृष्टिसे देखी जाय वही प्रसन्नमुखी स्वामीके धर्मकी भाजन है ॥ २७ ॥

अपरं च–नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुचिः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः२८

और भी–नगरमें रहता हो, वनमें वसता हो, अपवित्र हो, या पवित्र हो, जो स्वामी ही जिन स्त्रियोंको प्यारा होता है, उन स्त्रियोंको उत्तम स्वर्गही होता है॥२८

अन्यच्च–भर्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणैर्विना।
एषा विरहिता तेन शोभनाऽपि न शोभना ॥२९॥

औरभी,–स्त्रीको विना गहनेके भी स्वामी ही उसका उत्तम गहना है, स्वामी करके विरहिता जो नारी है वह शोभित होकरभी नहीं शोभित होती ॥ २९ ॥

त्वं जारः पापमतिः मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशः कदाचित्सेव्यसे। स च स्वामी मां विक्रेतुं देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्योऽपि दातुमीश्वरः। किं बहुना? तस्मिञ्जीवति जीवामि तन्मरणे चानुमरणं करिष्यामीति प्रतिज्ञा वर्तते। यतः–

तू पापी तो केवल यार ही है, केवल मनकी चञ्चलताके वशसेही फूल और पानकी समान तुझे कभी २ भोगती हूं वेही हमारे प्राणपति हमको बेचभी सकते हैं, देवता और ब्राह्मणको दानभी करसकते हैं, अधिक क्या कहूं? उनके जीवित रहनेपर मैं जीवित रहूंगी और उनके मरनेपरभी उनके साथ मरकर प्राण छोडूंगी; यही मेरा दृढ संकल्प है। कारण,—

तिस्रः कोटचोऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति ॥ ३० ॥

मनुष्यके शरीरमें साढे तीन करोड रुएं हैं, जो स्त्री स्वामीके साथ मरजाती है, वह स्त्री उतनेही कालतक (साढेतीन कोटिवर्षतक) स्वर्गमें वास करती है (१) ॥३०॥

(१) यहांपर साढेतीन करोड रोम तो प्रसंगमात्रसे हैं, इनसे अनन्तकाल जाना जाताहै; अर्थात् साथ मरनेवाली पतिव्रता स्त्री अनन्तकालतक स्वर्गमें रहती है।

अन्यच्च-व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात् ।
तद्वद्भर्तारमादाय स्वर्गलोके महीयते ॥ ३१ ॥

और भी-सपेरा जिस प्रकार साँपको बलपूर्वक बिलसे निकाल लेता है वैसेही स्वामीको उद्धार करके स्त्री उसके साथ स्वर्गमें आनन्द करती है (१) ॥ ३१ ॥

अपरञ्च-चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं
प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।
कृत्वाऽपि पापं शतसङ्ख्यमप्यसौ
पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ ३२ ॥

और भी-जो प्यारी स्त्री चितापर मृतक स्वामीको आलिंगन करके देह त्याग करै वह कोटि कोटि पापोंसे छूट स्वामीको ग्रहण करके सुरपुरको सिधारती है ॥ ३२ ॥

यतः-यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥३३॥'

कारण,-जिसका पिताने या पिताकी आज्ञासे सहोदरने दान करादिया स्त्रीको सदा यत्नसहित उसकी सेवा करनी चाहिये और कभी उसको लंघन न करे ॥ ३३ ॥'

एतत्सर्वं श्रुत्वा मन्दमती रथकारोऽवदत्-'धन्योऽहं यस्येदृशी प्रियवादिनी स्वामिवत्सला भार्या' इति मनसि निधाय तां खट्वां स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि कृत्वा सानन्दं ननर्त । अतोऽहं ब्रवीमि-'प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे' इत्यादि ॥

स्त्रीकी ये सब बातें सुनकर उस रथकारने मनमें विचारा कि;-'अहा! मेरी स्त्री एसी प्रणयिनी और प्रियवादिनी है मेरा कैसा सौभाग्य है?'। वह मन्दबुद्धि इस

---

(१) सपेरा जिस प्रकार भट्टक (भाठ) से सांपको यत्नपूर्वक निकाल उसके साथ खेल करताहै, सती स्त्रीभी कुमार्ग या विपदसे प्राण पण दे यत्न करके स्वामीका उद्धार कर, उसके साथ धर्म अर्थ और काम ... ॥

प्रकार विचार स्त्रीपुरुषसहित उस खाटको शिरपर उठायकर परमानन्दसे नाचने लगा। इसीलिये मैं कहताहूं कि–'साक्षात् अपराध करनेसेभी' इत्यादि।

ततोऽहं तेन राज्ञा यथाव्यवहारं संपूज्य प्रस्थापितः। शुकोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते। एतत्सर्वं परिज्ञाय यथाकर्तव्यमनुसन्धीयताम्। चक्रवाको विहस्याह–'देव! बकेन तावद्देशान्तरमपि गत्वा यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितम्। किं तु देव! स्वभाव एव मूर्खाणाम्। यतः–

इसके उपरान्त उस राजाने मेरा यथोचित आदर सत्कार करके मुझको बिदा दी, तोताभी मेरे पीछे इस स्थानमें आया है। इसलिये यह समस्त जानकर इस समय जो कर्त्तव्य हो उसको निश्चय कीजिये। चक्रवाकने हँसकर कहा;–'महाराज! बगलेने विदेशमें जायकर बहुत राजकार्य सिद्ध किया है। अथवा मूर्खका स्वभावही यह है। क्योंकि—

शतं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य लक्षणम्।
विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्॥ ३४॥'

सौ देवे और विवाद न करे यह पंडितोंका लक्षण है, विना कारणके युद्ध करना यह मूर्खोंका लक्षण है॥ ३४॥'

राजाऽऽह–'किमतीतोपालम्भनेन? प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्'। चक्रवाको ब्रूते–'देव! विजने ब्रवीमि। यतः–

राजाने कहा,–'जो होगया है, उसके लिये अब उलाहने देनेसे क्या फल है? इस समय जो कर्त्तव्य है, वह स्थिर करो'। चकवेने कहा,–'महाराज! एकान्तमें कहूंगा। कारण,—

वर्णाकारप्रतिध्वानैर्नेत्रवक्त्रविकारतः।
अप्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत॥३५॥'

वर्णद्वारा, आकारद्वारा, प्रतिध्वनिद्वारा, नेत्रविकारद्वारा, मुखविकारद्वारा पंडित-लोग मनकी बात जान लेते हैं, इसीकारण एकान्तमें मंत्रणा करनी ठीक है॥ ३५॥'

राजा मन्त्री च तत्र स्थितौ । अन्येऽन्यत्र गताः । चक्रवाको ब्रूते-'देव! अहमेवं जानामि । कस्याप्यस्मन्नियोगिनः प्रेरणया बकेनेदमनुष्ठितम् । यतः-

इसके उपरान्त केवल राजा और मंत्री वहां रहे और सबही उस स्थानसे उठ-गये । तब चक्रवाक मंत्रीने राजासे कहा-' महाराज ! मैं जानता हूं कि; हमारेही किसी कर्मचारीकी मंत्रणासे बगलेने यह झगडा कराया है । कारण-

वैद्यानामातुरः श्रेयान् व्यसनी यो नियोगिनाम् ।
विदुषां जीवनं मूर्खः सद्वन्द्वो नृपतेर्जनः ॥ ३६ ॥'

(१) वैद्योंको रोगी मंगल है, अधिकारियोंको राजा व्यसनी होनाही मंगल है, पंडितोंको मूर्खही जीविका है, मनुष्योंके झगडोंसे ही राजाका मंगल है ॥ ३६ ॥'

राजाऽब्रवीत्-'भवतु । कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम् । संप्रति यत्कर्तव्यं तन्निरूप्यताम् ' । चक्रवाको ब्रूते-'देव ! प्रणिधिस्तावत्प्रहीयताम् । ततस्तदनुष्ठानं बलाबलं च जानीमः । तथा हि-

राजाने कहा,-'जो कुछभी हो, इसका कारण पीछे निरूपण किया जायगा,

(१) ' रोगी मंगल है ' इत्यादि;-अर्थात् रोगियोंके मिलनेसेही वैद्योंकी जीविका चलती है; स्वामीके कुक्रियामें आसक्त या विपद्में पडनेसेही कर्मचारियोंको धनके पैदा करनेमें बहुत सुभीता होता है । पंडितोंकी जीविका मूर्खोंसेही चलती है । प्रजाओंके परस्पर विवाद मामले मुकद्दमोंकेही होनेसे राजाको बहुत धनकी प्राप्ति होती है, इसलिये हमाराही कोई दुष्ट कर्मचारी महाराजके सहित मोरराजाका यह झगडा कराय उस सुयोगमें आप अर्थके बटोरनेका उपाय करता है ॥

इस समय क्या करना चाहिये ? वह कहो'। चक्रवाकने कहा,-'महाराज ! पहले वहां दूत जाय, उससेही शत्रुके सब कार्य और बलाबल जाना जायगा। कारण,-

भवेत्स्वपरराष्ट्राणां कार्याकार्यावलोकने।
चारचक्षुर्महीभर्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ ३७ ॥

अपने देशके और पराये देशके कार्य अकार्यके देखनेको पृथ्वीपतिका दूतही नेत्र होताहै, जिसके यह नहीं वह अन्धा है (१) ॥ ३७ ॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु। तेनासौ स्वयं तत्रावस्थाय द्वितीयं तत्रत्यमन्त्र-कार्यं सुनिभृतं निश्चित्य निगद्य प्रस्थापयति। तथा चोक्तम्-

वह गूढचर भी हमारे और एक विश्वासी पुरुषको अपने संग लेजाय। वह स्वयं वहां गूढभावसे रहकर शत्रुके मंत्रणाकार्यको जान वह (गुप्तमन्त्रणाकार्यका वृत्तान्त) विश्वासी पुरुषके द्वारा इस स्थानमें भेजदे। कहाभी है कि-

तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना।
तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवदेत् ॥ ३८ ॥

तीर्थस्थानमें और देवस्थानमें शास्त्र जाननेके हेतु तपस्विचिह्नसे चिंहित अपने दूतसे समस्त जानलेना चाहिये ॥ ३८ ॥

गूढचारश्च यो जले स्थले च चरति, ततोऽसावेवं बको नियुज्यताम्। एतादृश एव कश्चिद्बको द्वितीयत्वेन प्रयातु, तद्गृहलोकाश्च राजद्वारे तिष्ठन्तु। किंतु देव! एतदपि सुगुप्तमनुष्ठा-तव्यम्। यतः-

---

(१) दूतही राजाका नेत्र है; क्योंकि दूतके न रहनेसे राजा अपने और पराये देशका गूढ वृत्तान्त जाननेमें सम्पूर्णतः अन्धा रहता है ॥

और जिसकी जल थल सबमें गति विधि हो उसको ही गूढचर करना उचित है। इसलिये इस बगलेकोही इस कार्यमें नियुक्त कीजिये और ऐसाही विश्वासपात्र और एक बगला इसके संग जाय और उस बगलेके गृहके सब परिवारको राजभवनमें लायकर रखिये (१) परन्तु महाराज ! इस कार्यकाभी अतिगुप्तभावसे अनुष्ठान करना होगा। कारण,-

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्तया।
इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता॥ ३९॥

मंत्रणा छः कानमें पडनेसे टूटजाती है और वैसेही वार्ताभी भिन्न हो जाती है। इसलिये राजा एक तो आप और दूसरे किसी मंत्रीके साथ मंत्रणा करै॥ ३९॥

मन्त्रभेदेऽपि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः।
न शक्यास्ते समाधातुमिति नीतिविदां मतम्॥४०॥'

कारण कि,-राजाका मंत्र भिन्न होजानेसे जो दोष होते हैं, वे सुधारे नहीं जासकते, ऐसा नीति जाननेवालोंका मत है॥ ४०॥'

राजा विमृश्योवाच-'प्राप्तस्तावन्मयोत्तमः प्रणिधिः'।मन्त्री ब्रूते-'तदा संग्रामविजयोऽपि प्राप्तः'।

राजा चिन्ता करके बोला;-'हमने एक अति श्रेष्ठ गूढ दूत पाया है'। मंत्रीने कहा,-'महाराज ! तो आपका युद्धमें जयी होना भी निश्चय है'।

अत्रान्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच-'देव ! जम्बूद्वीपादागतो द्वारि शुकस्तिष्ठति'। राजा चक्रवाकमालोकते। चक्रवाकेणोक्तम्-'तावद् गत्वाऽऽवासे तिष्ठतु, पश्चादानीय द्रष्टव्यः'। प्रतीहारस्तमावासस्थानं नीत्वा गतः। राजाह-'विग्रह-

---

(१) अर्थात् उसके स्त्री पुत्रको अटक रखनेसे वह भयके मारे विश्वासघातकता नहीं करेगा।

स्तावत्समुपस्थितः'। चक्रवाको ब्रूते-'देव! सहसा प्रागेव विग्रहो न विधिः। यतः-

इसी समय प्रतिहारी (१) ने आय प्रणाम कर कहा;-'महाराज! जम्बूद्वीपसे तोता आयकर द्वारपर ठहरा हुआ है'। राजाने चक्रवाककी ओरको देखा। तब चक्रवाकने कहा,-'इस समय उसको यथोचित वासस्थानमें लेजाओ, पीछे उसको सभामें बुलायकर देखेंगे'। 'जो आज्ञा महाराज!' यह कह प्रतिहारी शुकको लेकर चलागया। राजाने कहा;-'तो युद्धही निश्चय हुआ'। चक्रवाकने कहा;-'महाराज! तथापि सहसा प्रथम युद्ध करना ठीक नहीं। कारण,-

स किं भृत्यः स किं मन्त्री य आदावेव भूपतिम्।
युद्धोद्योगं स्वभूत्यागं निर्दिशत्यविचारितम्॥४१॥

वह कैसा दास है? और वह कैसा मंत्री है? जो आगेसे ही राजाको विनाविचारे रणकी तैयारी करने और अपना स्थान छोड देनेकी सम्मति दे॥४१॥

अपरं च-विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन।
अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः॥४२॥

औरभी-विपक्षको जीतनेके लिये शमादिद्वारा यत्न करै, संग्रामसे कभी नहीं करै. क्योंकि, युद्ध करते हुए दो जनोंके बीचमें किसकी जय होगी यह निश्चय नहीं जानाजाता॥४२॥

अन्यच्च-साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
साधितुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन॥४३॥

औरभी-साम, दान, भेद इनमेंसे एक एक या सबसे शत्रुओंके समाधान करनेके यत्न करै, युद्धसे कदापि नहीं (२)॥४३॥

---

(१) 'प्रतिहारी' द्वारपाल, दरवान।

(२) 'साम, दान, भेद' इत्यादि--साम, दान, भेद और विग्रह, राजाके ये चारहो उपाय हैं। 'साम' मीठे वचनादिद्वारा शत्रुका क्रोध शान्त करना। भूमि, धन इत्यादि दान करके शत्रुके साथ हुए झगडेको-

अपरं च-सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः ।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्नहि ॥ ४४ ॥

औरभी,-युद्धमें नहीं गये हुए सबही लोग वीर हैं, क्योंकि,-पराई शक्ति विन देखे कौन गर्वित नहीं होता ? ॥ ४४ ॥

किंच-न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा ।
अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत् ॥ ४५ ॥

औरभी देखो,-मनुष्यकरके जिस प्रकार पत्थर नहीं उठता, जैसा कि काठसे उठता है, थोडेही उपायसे बडी सिद्धि होती है, यह मंत्रणाका बडा फल है ॥४५॥

किंतु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवह्रियताम्। यतः-

परन्तु युद्ध उपस्थित विचार करही अबहीसे उसका उद्योग कीजिये ।

यथाकालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत् ।
तद्वन्नीतिरियं देव चिरात्फलति रक्षणात् ॥४६॥

कारण,-हे महाराज ! समयानुसार उद्योग करनेसेही जिस प्रकार खेती फलती है, वैसेही यहां नीति चिरकालमें फलती है, क्षणभरमें नहीं फलती ॥ ४६ ॥

अपरं च-महतो दूरभीरुत्वमासन्ने शूरता गुणः ।
विपत्तौ च महाँल्लोके धीरतामनुगच्छति ॥ ४७ ॥

औरभी-न आयेहुए कार्यमें बडेको भीरुता गुण है, कार्यके आनेपर शूरताही गुण है और श्रेष्ठ पुरुष विपत्तिमें धैर्यकाही अवलंबन करते हैं ॥ ४७ ॥

-निबटाना, इसको 'दान' कहते हैं। शत्रुके घरमें फूट डलवाकर अपने कार्यको साधलेना, इसको 'भेद' कहते हैं। 'विग्रह' अर्थात् युद्ध । इन चारोंमें जहांतक बने वहांतक राजा कदापि युद्धरूप उपायका अवलम्बन न करै। साम, दान, भेद ये अलग २ अथवा एकही साथ तीनोंका प्रयोग करै अर्थात् साम, दान और भेद ये तीन उपाय एक एक करके समयानुसार प्रयोग करै अथवा आवश्यकता पडनेपर तीनोंका एकही कालमें प्रयोग करके शत्रुका दमन करै ॥

अन्यच्च-प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल।
अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतम्॥४८॥

औरभी;-प्रथमतः उत्ताप निश्चयही सब कार्योंकी विघ्न है; क्योंकि अत्यन्त शीतल जल क्या पर्वतको नहीं भेदता है? (१) ॥ ४८ ॥

विशेषतश्च महाबलोऽसौ चित्रवर्णो राजा। यतः-

विशेषकरके महाराज! यह राजा चित्रवर्ण अतिप्रबल प्रतापी है। इसलिये,

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।
तद्युद्धं हस्तिना सार्धं नराणां मृत्युमावहेत्॥ ४९ ॥

बलवान्‌के सहित युद्ध करना यह निदर्शन नहीं, क्योंकि-हाथीके साथ मनुष्यके युद्ध करनेमें मनुष्यकी मृत्युही निश्चित है ॥ ४९ ॥

अन्यच्च-स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्तरि वर्तते।
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्गमो यथा ॥ ५० ॥

औरभी,-(२) समयको न पायकर जो बलवान् अपकार करनेवालेपर चलता है वह मूर्ख है. क्योंकि, जैसे चैंटियांके पँखोंकी उत्पत्ति है ऐसेही बलवान्‌के साथ कलह करना है ॥ ५० ॥

किंच-कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत्।
प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत् ॥ ५१ ॥

---

(१) 'उत्ताप' भय, क्रोध था अभिमान इत्यादिसे मनकी उत्तेजना है। जैसे मही अत्यन्त गरम होनेपर ठंढा पानी डालनेसे फटजाती है, वैसेही मन अत्यन्त गरम होजानेसे साधारण कारणहीको पाय छिन्नभिन्न होजाता है। इसकारण अत्यन्त तेजीमें आनकर कोई कार्य नहीं करै स्थिर और धीरभावसे सोच विचारकर सब काम करै।

(२) चैंटीके पंख निकलनेसे उसकी मौतका लक्षण है, प्रबलके साथ दुर्बलका युद्ध करनाभी वैसेही दुर्बलकी मौतका लक्षण है। 'समयको न पायकर' अर्थात् अपने बलाबलको न विचारकर ॥

औरभी—नीति जाननेवाला पुरुष कछुएके शरीरकी समान सिकुडकर प्रहारकोभी सहन करै, परन्तु समय पातेही खल सर्प्पकी समान उठै (१) ॥ ५१ ॥

महत्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ।
समुन्मूलयितुं वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः ॥ ५२ ॥

सुनिये, महाराज ! उपायका जाननेवाला पुरुष बडे छोटे विषयपर समानही समर्थ होता है, जिस प्रकार नदीका वेग जैसे तिनकोंको उखाडता है, वैसेही वृक्षों-कोभी उखाड डालता है ॥ ५२ ॥

अतस्तद्दूतोऽप्याश्वास्य तावद् ध्रियतां यावद् दुर्गः सज्जीक्रियते ।

इसलिये जबतक हम लोगोंका दुर्ग युद्धके लिये न सजजाय, तबतक शत्रुके दूत इस शुकको मीठे वचनोंसे भुलायकर इस स्थानमें रक्खाजाय ।

यतः—एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं शतसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विशिष्यते ॥ ५३ ॥

कारण,—प्राकारपर टिकाहुआ धनुषधारी एक पुरुष सौ पुरुषोंके साथ युद्ध कर सकता है; सौ पुरुष लाख पुरुषके संग युद्ध करसकते हैं, इस कारण दुर्गही श्रेष्ठ है ॥ ५३

किंच—अदुर्गो विषयः कस्य नारेः परिभवास्पदम् ।
अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत् ॥ ५४ ॥

औरभी,—दुर्गहीन देश किस वैरी करके पराभवका स्थान नहीं होता है ? नौकासे गिरे मनुष्यकी समान दुर्गहीन राजाको आश्रयहीन कहाजाता है ॥ ५४ ॥

दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम् ।
सयन्त्रं सजलं शैलसरिन्मरुवनाश्रयम् ॥ ५५ ॥

(१) कछुआ जैसे अपना मस्तक और पांव इत्यादि अंग शरीरमेंही छिपा रखता है, वैसेही नीति जाननेवाला राजा जबतक सुअवसर न समझे तबतक शत्रुके अनंत अत्याचार सहकरभी क्रोधको मनमें दाब रक्खै फिर समय पातेही भयंकर सर्पकी समान क्रोध प्रगटकर अपना वैर लेले॥

पर्वत, नदी, मरुभूमि व अरण्यके आश्रयमें ऊंचे प्राकारसे युक्त, अत्यन्त गहरी खाई, सयंत्र और सजल दुर्ग करे (१) ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णताऽतिवैषम्यं रसधान्येध्मसंग्रहः ।
प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसंपदः ॥ ५६ ॥'

(२) विस्तार, अतिविषम, रस, धान्य और ईंधन इनका संग्रह और प्रवेश निकास येही सात दुर्गकी सम्पत्तिं हैं ॥ ५६ ॥ '

राजाह-'दुर्गानुसंधाने को नियुज्यताम्?'।चक्रवाको ब्रूते-

राजाने कहा,–' दुर्गके अनुसन्धानमें किसको नियत किया जावे ? ' । चक्रवाकने कहा;–

'यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत् ।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति ॥ ५७ ॥

' जो जिस कर्ममें चतुर है उसको उसी कर्ममें नियत करना चाहिये ' जो कर्मोंमें कार्य नहीं देखेहुए हैं वह शास्त्रज्ञ होनेपरभी घबडाय जाता है ॥ ५७ ॥

तदाहूयतां सारसः'।तथाऽनुष्ठिते सत्यागतं सार-समालोक्य राजोवाच–'भोः सारस ! त्वं सत्वरं दुर्गमनुसन्धेहि'। सारसः प्रणम्योवाच–' देव ! दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपितमास्ते मह त्सरः । किंत्वत्र मध्यवर्तिद्वीपे भक्ष्यद्रव्यसंग्रहः क्रियताम् । यतः–

---

(१) ' प्राकार ' कोटकी भीत, ' परिखा ' गढकी खाई, ' युद्धयंत्र ' अस्त्र-शस्त्र, ' जलका आधार ' जलाशय । जो किला चारों ओर पर्वत, नदी, मरुभूमि या वनसे घिरा हुआ हो यह अति सुदृढ होता है, अर्थात् शत्रुगण सरलतासे उसपर चढाई नहीं कर सकते हैं ।

(२) ' दुर्ग, आयतन ' दुर्गका परिसर । ' रस ' गुण, चीनी, घी, तेल, नमक इत्यादि भक्ष्यसामग्री ।

बस इस कार्यके लिये सारसको पुकारिये'। इसके उपरान्त राजाके बुलानेपर सारस आया तो राजाने उससे कहा,-'सारस! तुम अति शीघ्र जाय दुर्गका अनुसन्धान करो'। सारसने प्रणाम कर कहा,-'महाराज! यह बडा भारी सरोवरही तो हमारा बहुत समयका देखा भाला किला है। परन्तु इस सरोवरके मध्यमें टिकेहुए द्वीपमें खाद्य द्रव्यका संग्रह कर रखना होगा। कारण;-

धान्यानां संग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसंग्रहात्।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणाम्॥ ५८॥

हे महाराज! सब संग्रहसे धान्यका संग्रह उत्तम है क्योंकि, मुखमें डालाहुआ रत्न प्राणकी रक्षा नहीं करेगा॥ ५८॥

ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः।
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते॥ ५९॥'

(१) सब रसोंके बीचमें लवणरस उत्तमरूपसे ख्यात है, उसके बिना व्यञ्जन गोबरकी तुल्य होता है॥ ५९॥'

राजाह-'सत्वरं गत्वा सर्वमनुतिष्ठ'। पुनः प्रविश्य प्रतिहारो ब्रूते-'देव! सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः सपरिवारो द्वारि तिष्ठति। देवपादं द्रष्टुमिच्छति'। राजाह-'काकाः पुनः सर्वज्ञा बहुद्रष्टारश्च, तद्भवति संग्राह्य इत्यनुवर्तते'। चक्रो ब्रूते-'देव! अस्त्येवम्। किं तु अस्मद्विपक्षः काकः स्थलचरः तेनास्मद्विपक्षे नियुक्तः कथं संग्राह्यः। तथा चोक्तम्-

राजाने कहा,-'तो तुम शीघ्र जायकर सब सामान कर रक्खो'। प्रतिहारीने फिर आयकर कहा,-'महाराज! मेघवर्णनामक एक काक सिंहलद्वीपसे सपरिवार

(१) नमक न डालनेसे शाक इत्यादि गोबरकी समान कुस्वाद लगते हैं।

आयकर द्वारपर ठहरा हुआ है। वह महाराजके दर्शन करना चाहता है'। राजाने कहा,–' काकजाति अति विज्ञ और बहुदर्शी होती है, इसलिये उसको रखलेना, यह सम्मति है'। चक्रवाकने कहा,–' महाराज! यह बात सत्य है, परन्तु हम जलचर, काक स्थलचर हैं, इस कारण वह स्वभावसे ही हमारा शत्रु है। बस! हमारे शत्रुपक्षमेंही उसका नियुक्त होना संभव है। इसलिये उसका किस प्रकारसे संग्रह कियाजाय? कहाभी है कि,–

आत्मपक्षं परित्यज्य परपक्षेषु यो रतः।
स परैर्हन्यते मूढो नीलवर्णशृगालवत् ॥ ६० ॥'

जो अपने पक्षको छोडकरके पराये पक्षमें आसक्त होता है, वह मूर्ख नीलवण शृगालकी समान शत्रुओंसे माराजाता है ॥ ६० ॥'

राजोवाच–' कथमेतत्?'। मन्त्री कथयति–

राजाने कहा,–' वह किस प्रकार?'। मंत्री बोला,–

कथा ७.

कश्चिच्छृगालः स्वेच्छया नगरोपान्ते भ्राम्यन्नीलीभाण्डे पतितः। पश्चात्तत उत्थातुमसमर्थः प्रातरात्मानं मृतवत्संदर्श्य स्थितः। अथ नीलीभाण्डस्वामिना मृत इति ज्ञात्वा तस्मात्समुत्थाप्य दूरे नीत्वाऽपसारितस्तस्मात्पलायितः। ततोऽसौ वनं गत्वा स्वकीयमात्मानं नीलवर्णमवलोक्याचिन्तयत्–' अहमिदानीमुत्तमवर्णः। तदहं स्वकीयोत्कर्षं किं न साधयामि?'। इत्यालोच्य शृगालानाहूय तेनोक्तम्–' अहं भगवत्या वनदेवतया स्वहस्तेनारण्यराज्ये सर्वौषधिरसे-

नाभिषिक्तः । पश्यन्तु मम वर्णम् । तदद्यारभ्या-रण्येऽस्मदाज्ञया व्यवहारः कार्यः ' ।

एक गीदड अपनी इच्छानुसार नगरप्रान्तमें घूमते २ एक नीलके पात्रमें (१) गिरा । वह उससे न निकल सका । प्रातःकालको इस प्रकारसे पडा रहा, मानो ठीक ठीक मरही गयाहै । इसके उपरान्त उस नीलके वर्त्तनका स्वामी मृतक समझ पात्रसे निकाल उसको दूर फेंका, वह वहांसे भाग वनमें प्रवेश कर अपनेको नील-वर्ण देख विचारता भया,–' हमारा रंग इस समय अति उत्तम होगया है । इस लिये ऐसा चमत्कारी वर्ण पायकरभी क्यों नहीं अपनी उन्नति सिद्ध करूं? ' । उसने इस प्रकार विचार, समस्त गीदडोंको बुलायकर कहा;–' भगवती वनदेवीने आयकर अपने हाथसे मेरे माथेपर समस्त औषधियोंका रस लगाय (२) मुझको वनके राज्यमें अभिषिक्त किया है । हमारा आश्चर्ययुक्त रंग तो देखो ! इसलिये आजसे हमारीही आज्ञाके अनुसार समस्त विचारकार्य चलेंगे ' ।

शृगालाश्च ते विशिष्टवर्णमवलोक्य साष्टाङ्गपातं प्रणम्योचुः–' यदाज्ञापयति देवः ' इत्यनेनैव क्रमेण सर्वेष्वप्यरण्यवासिष्वाधिपत्यं तस्य बभूव । ततस्तेन स्वज्ञातिभिरावृतेनाधिक्यं साधितम् । ततस्तेन व्याघ्रसिंहादीनुत्तमपरि-जनान्प्राप्य सदसि शृगालानवलोक्य लज्जमाने-नावज्ञया स्वज्ञातयः सर्वे दूरीकृताः ।

गीदडोंने भी उसका वह अपूर्व रंग देख, उसको साष्टांग प्रणाम करके कहा;– ' जो महाराजकी आज्ञा ' इस प्रकार धीरे २ सब वनवासियोंके ऊपर उसका

(१) " नीलका पात्र " नीले रंगसे पूर्ण टेब या नांद । धोबी कपडे साफ कर नेको नीला रंग घोलकर नांदमें रखते हैं ।

(२) " माथेपर समस्त औषधियोंका रस लगाय " राज्याभिषेकके समय समस्त तीर्थोंके जलसे व समस्त औषधियोंके जलसे राजाको स्नान कराया जाता है ॥

आधिपत्य होगया। इसके उपरान्त वह अपने जातिवालोंके साथ प्रभुताई करने लगा। कुछ पीछे सिंह व्याघ्रादि ऊंची श्रेणीके पशु जब उसके परिजन होगये तब उसने गीदडोंका संग लज्जा देनेवाला विचार, समस्त जातिवालोंको सभासे दूर करदिया।

ततो विषण्णान् शृगालानवलोक्य केनचिद्वृद्ध-शृगालेनैतत्प्रतिज्ञातम्—' मा विषीदत। यदने-नानाभिज्ञेन मर्मज्ञा वयं स्वसमीपात्परिभूतास्त-द्यथायं नश्यति तन्मया विधेयम्। यतोऽमी व्याघ्रादयो वर्णमात्रविप्रलब्धाः शृगालमज्ञात्वा राजानमिमं मन्यन्ते। तद्यथाऽयं परिचितो भवति तथा कुरुत। तत्रैवमनुष्ठेयम्। यदा वदामि यतः सर्वे सन्ध्यासमये संनिधाने महारावमेकदैव करिष्यथ। ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावा-त्तेनापि शब्दः कर्त्तव्यः। यतः—

इससे शृगालोंके अत्यन्त दुःखित होनेसे एक वृद्ध शृगाल उनके निकट प्रतिज्ञा करके बोला,—' तुम लोग दुःखी न होओ, हमलोग उसके मर्मकी बात जानते हैं। इस नीतिज्ञानशून्य शृगालने जब हम लोगोंकाही अपमान किया, तब जिससे उसका नाश हो वह अवश्य करेंगे। इस स्थानमें ये सब व्याघ्रादि पशु केवल उसके वर्ण-सेही धोखेमें आय उसको राजा समझते हैं और उसको शृगाल नहीं समझ सकते हैं। इसलिये जिससे उसका यथार्थ परिचय सब जान सकें वह करना होगा। इस विषयमें मेरे कहेके अनुसार करो। सन्ध्याके समय उसके निकट जाय तुम सब मिलकर एकही कालमें अतिशय बडा शब्द करो। तुम्हारा यह शब्द सुनकर यह शृगालभी वैसेही जातियस्वभावके अनुसार शब्द करेगा। कारण,—

यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः।
श्वा यदि क्रियते राजा तत्किं नाश्नात्युपानहम्॥ ६१॥

जिसका जो स्वभाव है वह सदाही अपरिहार्य है, क्योंकि जो कुत्ता राजा हो जाय, तो क्या वह चमडेकी जूती नहीं चचोरेगा ? ॥ ६१ ॥

ततः शब्दादभिज्ञाय व्याघ्रेण हन्तव्यः' । तथाऽनुष्ठिते सति तद्वृत्तम् । तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त उसका शब्द सुनतेही उसको पहचानकर व्याघ्र उसका प्राणसंहार करेगा' । इसके पीछे जब गीदडोंने इस सम्मतिके अनुसार कार्य किया तो ठीक वैसाही हुआ । कहाभी है कि,-

छिद्रं मर्म च वीर्यं च सर्वं वेत्ति निजो रिपुः ।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवानलः ॥ ६२ ॥

छिद्र, मर्म और बल सबको अपना शत्रु जानता है और अग्नि जिस प्रकार सूखे पेडको जलाती है; वैसेही अन्तःकरणके टिके हुए व्यापारको भस्म करता है(१)६२॥

अतोऽहं ब्रवीमि-' आत्मपक्षं परित्यज्य ' इत्यादि ॥ राजाऽऽह-'यद्येवं तथापि दृश्यतां तावदयं दूरादागतः । तत्संग्रहे विचारः कार्यः' । चक्रो ब्रूते-'देव ! प्रणिधिः प्रहितो दुर्गश्च सज्जीकृतः । अतः शुकोऽप्यानीय प्रस्थाप्यताम् ।

इसीलिये कहताहूं कि-' लोग स्वपक्षको त्यागकर ' इत्यादि ॥ राजाने कहा;- ' यद्यपि यह बात सत्य है, तथापि उसके साथ एक बात साक्षात् करना ठीक है, क्योंकि,-वह बहुत दूरसे आया है । उसको अपने पक्षमें नियुक्त करनेके विषयमें पीछेसे विचार करके देखाजायगा । ' चक्रवाकने कहा-' महाराज ! गूढ चर भेजदियागया और किलाभी सजगया है । इसलिये इस समय तोतेको बुलायकर बिदा कीजिये।

(१) घरका आदमी घरका समस्त भेद जानता है, इसलिये घरका शत्रु बन सरलतासे नाश कर सकता है । जैसे वृक्षकी आगही वृक्षोंको जलाती है, यह बात प्रसिद्ध कि, " घरका भेदी लंका ढावै " ॥

किन्तु-नन्दं जघान चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगतः।
तद्दूरान्तरितं दूतं पश्येद्वीरसमन्वितः॥ ६३ ॥'

परन्तु;-बलवान् दूतके नियोगसे नन्दनामक राजाको चाणक्यने नष्ट किया है (१), इसलिये वीरोंसे युक्त होकर राजाको बहुत दूरसे दूतको देखना चाहिये ॥६३॥'

ततः सभां कृत्वाऽऽहूतः शुकः काकश्च। शुकः किंचिदुन्नतशिरा दत्तासन उपविश्य ब्रूते-'भो हिरण्यगर्भ! महाराजाधिराजः श्रीमच्चित्रवर्णस्त्वां समाज्ञापयति। यदि जीवितेन श्रिया वा प्रयोजनमस्ति तदा सत्वरमागत्यास्मच्चरणौ प्रणम। न चेदवस्थातुं स्थानान्तरं चिन्तय'। तच्छ्रुत्वा राजा सकोपमाह-'आः! कोऽप्यस्माकं पुरतः सभायां नास्ति? य एनं गलहस्तयति'। तत उत्थाय मेघवर्णो ब्रूते-'देव! आज्ञापय। हन्मि दुष्टं शुकम्'। सर्वज्ञो राजानं काकं च सान्त्वयन् ब्रूते-'भद्र! मैवम्। शृणु तावत्-

इसके उपरान्त राजाने सभा करके शुकको वहां बुलाया और कौवेकोभी वहां बुलाया। शुक मस्तक कुछ ऊँचा करके अपने बताये हुए आसनपर बैठकर कहने लगा,-' हे हिरण्यगर्भ! श्रीयुत राजाधिराज चित्रवर्ण तुमको यह आज्ञा करते हैं कि, यदि तुम्हें राज्य और प्राणोंकी रक्षा करनेकी वासना हो तो शीघ्र आकर

(१) "नन्द" यह नन्दवंशका पिछला राजा था। चाणक्यने एक समय नन्दसे अपमानित हो इसका नाश करनेकी प्रतिज्ञा की। चाणक्यने कपट दूतसे नन्दको मरवाय और विविध भाँतिकी चतुरतासे उसके वंशको उजाड सन् ईसवीके ३१९ वर्ष पहले पाटलिपुत्रके सिंहासनपर मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्तको स्थापित किया और आप इसका मंत्री हुआ।

हमारे चरणोंमें पडो, नहीं तो तुम राज्य छोडकर और स्थानमें भागनेकी चेष्टा करो'। राजाने यह सुन क्रोधित होकर कहा;-' क्या हमारी सभामें कोईभी नहीं है जो इसकी गर्दन पकड यहांसे दूर करे ? '। यह सुन वही मेघवर्णनामक काक उठकर बोला,-' महाराज ! एकबार आज्ञा कीजिये मैंही इस दुष्ट शुकका प्राणसंहार कर-डालूं '। सर्वज्ञ मंत्री राजा और काकको समझाते बोला-' महाशय ! ऐसी बात अब फिर न कहिये सुनो !—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तद्यच्छलमभ्युपैति ॥ ६४ ॥

जिस सभामें वृद्ध नहीं वह सभाही नहीं, वह वृद्धही नहीं जो धर्म नहीं कहते जिस धर्ममें सत्य नहीं वह धर्मही नहीं और जिस सत्यमें छल है वह सत्यही नहीं ६४

यतो धर्मश्चैषः-

दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः ।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ॥ ६५ ॥

क्योंकि राजधर्म यही है कि,--म्लेच्छ दूतभी अवध्य होताहै. क्योंकि--राजा दूतमुख है, इसलिये शस्त्र उठनेपरभी दूत और प्रकारसे नहीं कहता (अविकल कहता है) ॥ ६५ ॥

किंच-स्वापकर्षं परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः ।
सदैवावध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति ॥ ६६ ॥ '

औरभी,--(१) कौन पुरुष दूतके वचनसे अपनेको अधम समझकर और परायेको उत्तम करके मानताहै, दूत सदाही अवध्यभावसे समस्त कहता है ॥ ६६ ॥'

---

(१) दूत तो अपने स्वामीकी आज्ञाका लेजानेवाला है; इसलिये वह निरपराध और अवध्य है । दूत राजाका आनकर जो हजार गालियें दे तो भी राजाको उसके ऊपर क्रोध प्रकाश करना राजनीतिके सर्वथा विरुद्ध है ॥

ततो राजा काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ। शुकोऽप्युत्थाय चलितः। पश्चाच्चक्रवाकेणानीय प्रबोध्य कनकालङ्कारादिकं दत्त्वा संप्रेषितो स्वदेशं ययौ। शुकोऽपि विन्ध्याचलं गत्वा राजानं चित्रवर्णं प्रणतवान्। तमालोक्य राजोवाच–'शुक! का वार्ता? कीदृशोऽसौ देशः?'। शुको ब्रूते–'देव! संक्षेपादियं वार्ता। संप्रति युद्धोद्योगः क्रियताम्। देशश्चासौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गैकदेशो, राजा च द्वितीयः स्वर्पतिः, कथं वर्णयितुं शक्यते?'। ततः सर्वाञ्छिष्टानाहूय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः। आह च–'संप्रति यत्कर्तव्यं तत् ब्रूत। विग्रहः पुनरवश्यं कर्तव्यः। तथा चोक्तम्–

मंत्रीके ये वचन सुनकर राजा और काक सावधान हुए। तोताभी सभासे उठ जब चलनेलगा ता चक्रवाकने उसको बुलाय समझाय बुझाय और स्वर्णालंकार इत्यादि देकर उसको बिदा दी, तो वह अपने देशको चलागया। शुक विन्ध्याचलमें गमन करके अपने प्रभु मयूरराज चित्रवर्णके चरणोंमें प्रणाम करता भया। शुकको आयाहुआ देखकर राजा चित्रवर्णने कहा,–'शुक! क्या समाचार है? वह देश कैसा है?'। तोतेने कहा,–'महाराज! संक्षेपमें समाचार यह है कि, आपको संग्रामकी तैयारी करनी होगी और वह कर्पूरद्वीप मानो स्वर्गकी समान है, राजा दूसरा इन्द्र हैं, उसके ऐश्वर्यकी वर्णना करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है'। यह सुनकर राजा समस्त चतुर मांत्रियोंको बुलाय मंत्रणा करने बैठा। राजाने कहा,–'इस समय क्या कर्त्तव्य है सो कहो युद्ध तो अवश्यही करना होगा। कहाभी है कि,–

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलस्त्रियः॥ ६७॥'

सन्तुष्ट राजालोग इस प्रकारसे नष्ट होतेहैं, कि–जैसे असन्तुष्ट ब्राह्मणगण नष्ट होते हैं लाज करनेवाली वेश्या नष्ट होती है और निर्लज्ज कुलस्त्रियें नष्ट होती हैं ६७॥'

दूरदर्शी नाम गृध्रो ब्रूते–'देव ! व्यसनितया विग्रहो न विधिः । यतः–

दूरदर्शीनामक गिद्ध मंत्रीने कहा,–' महाराज ! युद्धमें अनेक विपद् हैं, सहजमें युद्ध करनेकी विधि नहीं है । कारण,–

मित्रामात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः ।
शत्रूणां विपरीताश्च कर्तव्यो विग्रहस्तदा ॥६८ ॥

मित्र, मंत्री, सुहृद् , जब ये अनुरागी हों और शत्रुकी ओर ठीक इससे विपरीत हों (१), तब संग्राम करना उचित है ॥ ६८ ॥

अन्यच्च–भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलं त्रयम् ।
यदैतन्निश्चितं भावि कर्तव्यो विग्रहस्तदा ॥ ६९ ॥'

औरभी–भूमि, मित्र, सुवर्ण ये तीन संग्रामके फल हैं, ये जब निश्चित होजांय तब विग्रह करना चाहिये (२) ॥ ६९ ॥'

राजाऽऽह–'महद्बलं तावदवलोकयतु मन्त्री । तदैतेषामुपयोगो ज्ञायताम् । एवमाहूयतां मौहूर्तिकः। स निर्णीय यात्रार्थं शुभलग्नं ददातु' । मन्त्री ब्रूते– 'तथापि सहसा यात्राकरणमनुचितम् । यतः–

राजाने कहा;–' मंत्री ! तुम हमारी सब सेनाकी परीक्षा कर देखो, जिससे तुम उसका सब बलाबल जानसकोगे । और युद्धयात्राकी शुभलग्न स्थिर करनेके लिये

---

(१) शत्रु राजाके साहायक, मित्र, मंत्री और सेना, राजासे जब ये सब रूठे हों।

(२) अर्थात् युद्ध करनेसे जो निश्चयही भूमिकी प्राप्ति हो, या महोपकारी मित्र मिलै तबही राजा युद्ध करै, नहीं तो वृथा युद्ध न करै । क्योंकि युद्धमें अकारण नरहत्या और अपने हारनेकी सम्भावना होती है ।

ज्योतिषी बुलायाजाय'। मंत्रीने कहा;-'महाराज! तोभी सहसा युद्धयात्रा उचित नहीं। कारण,—

विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विषद्बलम्।
खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ते सुनिश्चितम्॥ ७०॥'

जो मूढलोग शत्रुके बलको न विचारकरके एकाएकी सेनामें घुसजाते हैं वे लोग निश्चय शस्त्रकी धारका आलिंगन पाते हैं॥ ७०॥'

राजाऽऽह-'मन्त्रिन्! ममोत्साहभङ्गं सर्वथा मा कृथाः। विजिगीषुर्यथा परभूमिमाक्रामति तथा कथय'। गृध्रो ब्रूते-'तत्कथयामि। किन्तु तदनुष्ठितमेव फलप्रदम्। तथा चोक्तम्-

राजाने कहा,-'मन्त्री! इस युद्धमें कभीभी हमारा उत्साह न तोडना। विजिगीषु (१) राजा जिस प्रकार शत्रुके राज्यपर चढाई करता है; हमको वही उपदेश दो'। गिद्धने कहा;-'कहताहूं सुनिये। परन्तु उनके अनुरूप कार्य करनेसे वे सब उपाय फलके देनेवाले होते हैं। कहा है कि,-

किं मन्त्रेणाननुष्ठानाच्छास्त्रवित्पृथिवीपतेः।
न ह्यौषधपरिज्ञानाद्व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत्॥७१॥

शास्त्रके जाननेवाले राजाको वैसे अनुष्ठानके विना मन्त्रणा करनेसे क्या प्रयोजन? क्योंकि, औषधिके ज्ञानसे रोगकी कहीं शांति नहीं होती(२)॥ ७१॥

---

(१) 'विजिगीषु'-जो राजा अपना अधिकार, प्रभुता या कीर्ति बढानेको दूसरे राजाके जीतनेकी इच्छा करता है॥

(२) जिस प्रकार रोगकी केवल औषधिज्ञानसेही शान्ति नहीं होती, उस औषधिका नियमसहित सेवन करना होता है, ऐसेही किसी कार्यकी सलाह करनेहीसे वह कार्य नहीं सिद्ध होता, बरन् उस सलाहके अनुसार कार्य करना पडता है।

राजादेशश्चानतिक्रमणीयः । यथाश्रुतं तन्निवेदयामि । शृणु-

महाराजकी आज्ञा उल्लंघन नहीं करनी चाहिये; इसलिये मैं यह सब उपाय शास्त्रानुसार कहताहूं। महाराज ! सुनिये-

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद् व्यूहीकृतैर्बलैः ॥ ७२ ॥

जिस २ स्थानमें नदी, पर्वत, वन और दुर्गमें भय है, उस २ स्थानमें व्यूह बनाई हुई सेनाके साथ सेनापति जाय ॥ ७२ ॥

बलाध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषान्वितः ।
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोशः फल्गु च यद्बलम् ॥७३

श्रेष्ठ २ वीर पुरुषोंके सहित सेनाध्यक्ष आगे आगे चले, बीचमें स्त्रियां, स्वामी, भण्डार (खजाना) और दुर्बल सेना रहै ॥ ७३ ॥

पार्श्वयोरुभयोरश्वा अश्वानां पार्श्वतो रथाः ।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां च पदातयः ॥ ७४ ॥

दोनों पार्श्वोंमें घोडे, घोडोंके पार्श्वमें रथ, रथोंके पार्श्वमें हाथी और हाथियोंके पार्श्वमें पैदल चलैं ॥ ७४ ॥

पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।
मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः ॥ ७५ ॥

पीछेसे सेनापति खिन्न (१) सेनाको ढाढस देता हुआ जाय, सबसे राजा, सुभट और मंत्रियोंसे युक्त सेना लेकर जावे ॥ ७५ ॥

समेयाद्विषमं नागैर्जलाढ्यं समहीधरम् ।
सममश्वैर्जलं नौभिः सर्वत्रैव पदातिभिः ॥७६ ॥

(१) 'खिन्न'-भयसे, मार्ग चलनेके श्रमसे या और किसी भाँतिके कष्टसे पीडित।

राजा सेना लेकर जलयुक्त, पर्वतसंकुल, ऊँचे नीचे देशमें हाथीपर एकसी पृथ्वीमें घोडेपर, जलमें नावपर और सब जगह पैदलोंके साथ जाय ॥ ७६ ॥

हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदागमे।
तदन्यत्र तुरङ्गाणां पत्तीनां सर्वदैव हि॥ ७७॥

वर्षाकालमें हाथीका जाना श्रेष्ठ कहा हैं और समयमें घोडेका और सदा सब जगह पैदलोंके साथ जाना अच्छा है॥ ७७॥

शैलेषु दुर्गमार्गेषु विधेयं नृपरक्षणम्।
स्वयोधै रक्षितस्यापि शयनं योगिनिद्रया॥ ७८॥

पर्वतोंमें और दुर्गम मार्गोंमें राजाकी रक्षा करना कर्तव्य है, राजा योधा करके रक्षित होकरभी योगकी समान नींदसे सोवै (१)॥ ७८॥

नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून् दुर्गकण्टकमर्दनैः।
परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान् पुरः॥ ७९॥

दुर्गम (२) कण्टकको मर्दनकरके शत्रुओंका नाश और उच्छेद करना चाहिये और पराये देशमें प्रवेश करनेपर वनके जाननेवाले लोगोंको आगे करै॥ ७९॥

यत्र राजा तत्र कोशो विना कोशान्न राजता।
स्वभृत्येभ्यस्ततो दद्यात्को हि दातुर्न युध्यते॥८०॥

---

(१) जो लोग योगका अभ्यास करते हैं, वे कभी गहरी नींद नहीं लेते सावधान होकर सोते हैं। राजाभी खटकेकी जगह योगीकी समान सावधान होकर शयन करै।

(२) 'कण्टक'–छोटा शत्रु, मार्गकी विपत्ति बाधा। किसी २ मूलपुस्तकमें कंटकके स्थानमें 'कटक' पाठ है। कटक अर्थात् 'छावनी'। 'वनके जाननेवाले' ये लोग वनके गहन दुर्गम और खटकेके सब स्थानोंको जानते हैं। ये राजासे पाई हुई वृत्ति भोग करते हैं। और जब राजा विना जाने दूर देशमें युद्ध करनेको जाता है तब ये लोग मार्ग दिखाते हुए आगे आगे चलते हैं।

जिस स्थानमें राजा रहै उसी स्थानमें खजाना रखना चाहिये. क्योंकि, खजानेके विना राजता नहीं । उससे (खजानेसे) अपने सेवकोंको देवै क्योंकि दाताके लिये कौन युद्ध नहीं करता है ? ॥ ८० ॥

यतः—न नरस्य नरो दासो दासस्त्वर्थस्य भूपते ! ।
गौरवं लाघवं वापि धनाधननिबन्धनम् ॥ ८१ ॥

क्योंकि,—हे राजन् ! मनुष्यका सेवक मनुष्य नहीं है, केवल धनका दास है. क्योंकि—धन और अधनके निमित्तही बडाई छुटाई होती है ॥ ८१ ॥

अभेदेन च युद्ध्येत रक्षेच्चैव परस्परम् ।
फल्गु सैन्यं च यत्किंचिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत्॥८२॥

सब सेना परस्पर एका करके युद्ध करै, व आपसमें रक्षाभी करै और जो सेना दुर्बल हो उसको व्यूहके बीचमें स्थापित करै ॥ ८२ ॥

पदातींश्च महीपालः पुरोऽनीकस्य योजयेत् ।
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ॥ ८३ ॥

राजा सेनाके आगे पैदलोंको नियत करै और वैरीको रोके रहै और उसके राज्यकोभी दबावै ॥ ८३ ॥

स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ ८४ ॥

एकसी पृथ्वीपर रथ और घोडेसे युद्ध करै और जलमयदेशमें नाव व हाथीपरसे युद्ध करै, वृक्षलतासे छाये हुए देशमें धनुष बाणसे युद्ध करै और थलपर ढाल तरवारसे लडे ॥ ८४ ॥

दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ।
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारान्परिखास्तथा॥८५ ॥

तडागोंको, कोटकी भीतोंको और गढखाईको नाश करता हुआ, शत्रुके घास, अन्न, जल और काठकाभी सदा नाश करदे ॥ ८५ ॥

बलेषु प्रमुखो हस्ती न तथाऽन्यो महीपतेः ।
निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः ॥ ८६ ॥

राजाकी सेनामें हाथीही प्रधान अंग है और कोई वैसा नहीं है. क्योंकि, अपने अवयवोंसेंही हाथी (१) आठ अस्त्रोंका कर्म करता है ॥ ८६ ॥

बलमश्वश्च सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः ।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहः॥ ८७ ॥

और सेनामें घोडोंकी सेनाही (२) सजीव प्राकार है, कारण कि जिसके पास घोटकादिक हैं वही राजा बडे भारी युद्धमें जीतता है ॥ ८७ ॥

तथा चोक्तम्–
युद्धयमाना हयारूढा देवानामपि दुर्जयाः ।
अपि दूरस्थितास्तेषां वैरिणो हस्तवर्तिनः ॥ ८८ ॥

और वैसा कहा भी गया है कि;--घुडसवार योधा लोगोंको देवतालोगभी नहीं जीत सकते, क्योंकि दूर टिका हुआ शत्रुभी उनके हाथमें पडजाता है ॥ ८८ ॥

प्रथमं युद्धकारित्वं समस्तबलपालनम् ।
दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८९ ॥

---

(१) 'आठ अस्त्रोंका' शुण्ड, दो दन्त, चार पैर और मस्तक आठ अंगही हाथीकें आठ अस्त्र हैं, अर्थात् हाथी अपने इन आठ अंगोंसे युद्ध करता है।

(२) 'सजीव प्राकार' गढके चारों ओरकी भींतको प्राकार कहते हैं, गढकी दृढ भींत जिंस प्रकार किलेकी सेनाकी रक्षा करती है, स्थलयुद्धमें अश्वसेनाभी वैसाही चारों ओरसे घिरकर बीचमें टिकीहुई सेनाकी रक्षा करती है, दुर्गकी भींत अचल है, परंतु अश्वरूप भींत आवश्यताके अनुसार चलसकती है, इस कारण मूलमें अश्वसेनाको जंगम प्राकार कहा है। 'जंगम' चलनेवाली अर्थात् जो ईंट आदिसे बनी हुई प्राकारकी समान अचल नहीं है।

प्रथम युद्ध करना, सर्व सेनाकी रक्षा करना, दिग्निर्णय करना (१) मार्गका शोधन करना यह पैंदलका कार्य कहाता है ॥ ८९ ॥

स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं जितश्रमम् ।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ९० ॥

स्वभावसेही शूर, अस्त्रशस्त्रकी जाननेवाली, अविरत श्रमसे न हारनेवाली, प्रसिद्ध क्षत्रियोंकी हो, इस सब सेनाको विज्ञ लोग उत्तम करके जानते हैं ॥ ९० ॥

यथा प्रभुकृतान्मानाद्युद्ध्यन्ते भुवि मानवाः ।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते ! ॥९१॥

पृथ्वीपर स्वामीके कियेहुए सन्मानसे मनुष्यलोग जैसा युद्ध करते हैं, राजाके अनेक धन देनेपरभी वैसा युद्ध नहीं करते ॥ ९१ ॥

वरमल्पबलं सारं न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।
कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम् ॥ ९२ ॥

उत्तम थोडी सेनाभी अच्छी है, बहुत मस्तकोंकी मण्डली भली नहीं; कारण कि अधम सेनाके भागनेसे उत्तम सेनाभी भागजाती है ॥ ९२ ॥

अप्रसादोऽनधिष्ठानं देयांशहरणं च यत् ।
कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैरागस्य कारणम् ॥ ९३ ॥

अप्रसन्नता, युद्धस्थलमें न आना, पानेके योग्य वेतनादि (तनखाह) न देना, वृथा समयको बिताना, उपाय न करना ये सब युद्धमें उदासीके चिह्न हैं ॥ ९३ ॥

आपीडयन्बलं शत्रोर्जिगीषुरभिषेणयेत् (२) ।
सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम् ॥ ९४ ॥

---

(१) 'मार्गका शोधन' अर्थात् चलनेमें बाधा डालनेवाले बन जंगल इत्यादि जो कुछ हैं उन सबको दूर कर मार्ग सुगम करै ।

(२) 'अभिषेणयेत्'-सेनया सह शत्रुसमीपे गच्छेत् इत्यर्थः । "यत् सेनयाऽभिगमनमरौ तदभिषेणनम्" इत्यमरः ।

मार्गके कष्टसे जो सेना पीडित होवै तो उसको शत्रु सहजसे ही पराजित कर देता है; इस कारण अपनी सेनाको पीडित न करके विजयका चाहनेवाला शत्रुकी सेनापर चढाई करै ॥ ९४ ॥

दायाददपरो मन्त्रो नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नाद्दायादं तस्य विद्विषः ॥ ९५ ॥

शत्रुका भेद करनेवाला (१) दायादके अतिरिक्त और मंत्र नहीं, इसलिये विपक्षके दायादको यत्न करके खडा करै ॥ ९५ ॥

सन्धाय युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
अन्तःप्रकोपनं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥ ९६ ॥

(२) युवराजके सहित या प्रधानमंत्रीके सहित सन्धि करके स्थिरचित्तवाले शत्रुके अन्तःकरणमें क्रोध उत्पन्न कराना चाहिये ॥ ९६ ॥

क्रूरं मित्रं रणे चापि भङ्गं दत्त्वा विघातयेत ।
अथवा गोग्रहाकृष्ट्या तल्लक्ष्याश्रितबन्धनात ॥९७॥

---

(१) पुत्र, भ्राता या और जाति अर्थात् जिनके सहित धनसम्पत्तिके उत्तराधिकारका कोई सम्बन्ध है उनको 'दायाद' कहतेहैं। ईर्षा और विजयके लोभसे 'दायाद' सहजहीमें धनीके गृहशत्रु होजाते हैं, शत्रुपदके राजाको चाहिये कि, दायादको गुप्तभावसे लालच दिखाय धनीके प्रतिकूल उक्सा दे. क्योंकि शत्रुके पुत्र, भ्राता या जातिवाले बन्धुबान्धवोंको अपने हाथमें गुप्तभावसे करलेनेसे उस शत्रुपर चढाई करना और उसको जीतलेना सहज होजाता है।

(२) ज्येष्ठपुत्र या और कोई उत्तराधिकारी जो वृद्ध राजाके जीवित रहतेही राजकार्यमें उसकी सहायता करै उसको 'युवराज' कहते हैं। अनेक स्थानोंमें युवराजका प्रधान मंत्री आपही राज्य पानेके लोभसे राजाका मरना चाहा करताहै। शत्रु राजाके युवराज वा प्रधानमंत्रीके साथ छिपकर जालसे शत्रुके घरमें फूट डलवानेपर उसपर चढाई करना या उसे जीतना सहज होजाता है ॥

खल मित्रको युद्धमें पराजय करकेभी नष्ट करै; अथवा गायढोरोंको ग्रहण करनेसे और आश्रितोंके बन्धनहेतुसे नाश करावै (१) ॥ ९७ ॥

स्वराज्यं वासयेद्राजा परदेशावगाहनात् ।
अथवा दानमानाभ्यां वासितं धनदं हि तत् ॥९८॥'

राजा पराये देशपर चढाई करके अपने देशकी रक्षा करै, या दान और सन्मानसे रक्षा करै, क्योंकि वह रक्षाही धनकी देनेवाली होतीहै ॥ ९८ ॥ '

राजाऽऽह-'आः ! किं बहुनोदितेन ?

राजा बोला,-' ओ ! अधिक कहनेसे क्या ?

आत्मोदयः परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तद्दूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतीयते ॥ ९९ ॥'

अपनी वृद्धि, पराई हानि, ये दो जो नीति हैं इनको अंगीकार करके विज्ञलोग वाचस्पत्य ज्ञानको पाते हैं ॥ ९९ ॥ '

मन्त्रिणा विहस्योच्यते-'सर्वं सत्यमेतत् । किन्तु-

मंत्रीने हँसकर कहा,-' यह बात सत्य है । परन्तु,-

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः १००॥'

एक प्राणी निरंकुश, दूसरा प्राणी शास्त्रनियंत्रित हैं, क्योंकि उजाले और अंधकारका सामानाधिकरण्य कहां है अर्थात् एकही आश्रयपर उजाला और अंधकार

(१) मित्रपक्षीय कोईभी राजा युद्धमें सहायता करनेको आकर जो शठता करै, तो शत्रुके साथ रणमें पराजय देकरभी राजा पहले उस विश्वासघाती कपटी मित्रको मारडाले और उसके सब आदमियोंको बांध ले और उसकी रथादिक सब सवारियोंको लूट ले, क्योंकि-कपटी मित्रके युद्धमें साथ रहनेपर सत्यानाश होनेका संभवहै ॥

नहीं रहसकते, ऐसेही एक आश्रयपर निरंकुशत्व और शास्त्रनियंतृत्व दोनों नहीं रहते (१) ॥ १०० ॥'

तत उत्थाय राजा मौहूर्तिकावेदितलग्ने प्रस्थितः ।

फिर राजा ज्योतिषी करके निरूपित हुई शुभ लग्नमें युद्धयात्रा करता भया ।

अथ प्रहितप्रणिधिर्हिरण्यगर्भसमीपमागत्य प्रणम्योवाच–' देव ! समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । संप्रति मलयपर्वताधित्यकायां समावासितकटकोऽनुवर्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसंधातव्यं यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किंच केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैव तदिङ्गितमवगतं मया यदनेन कोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः ।'

इसके उपरान्त गूढचरके भेजे हुए लोगोंने हिरण्यगर्भके निकट आय प्रणाम करके कहा;–' महाराज ! राजा चित्रवर्ण आयाही चाहता है । वह इस समय मलय

(१) श्लोक नं० १०० और इससे पहला ९९ संख्याके श्लोक माघकविप्रणीत शिशुपालवधनामक काव्यके दूसरे सर्गमें हैं, ९९ संख्याके पूर्व श्लोकका तात्पर्य यही है कि, जब अपने पक्षकी सब प्रकारसे उन्नतिकी अवस्था हो और शत्रुकी सब भाँति अवनतिकी अवस्था देखीजाय तब राजा शत्रुपर चढाई करै । शत्रु राजापर चढनेके विषयमें सब नीतिशास्त्रोंका यही मत है । १०० संख्याके श्लोकका यह तात्पर्य है कि;–साधारण राजाके लिये समस्त नीतिशास्त्रकी ऐसी व्यवस्था होनेपरभी वह असाधारण तेजस्वी राजाके लिये कदापि ठीक नहीं होसकती. कारण कि, सूर्यके प्रकाश और अन्धकारमें जितना भेद है; साधारण राजा और असाधारण तेजस्वी राजामेंभी उतनाही भेद है । इसलिये अन्धकारमें जो व्यवस्था है, वह जिस प्रकार उजालेपर नहीं लग सकती वैसेही साधारण राजापर जो व्यवस्था लग सकती है, वह असाधारण तेजस्वी राजापर नहीं लग सकती ॥

पर्वतकी तलैटीमें डेरा डालकर विराजमान है । हमारे दुर्गके विषयमें भलीभांति देखभाल क्षण २ में करनी उचित है, कारण कि शत्रुका मंत्री गिद्ध अत्यन्त चतुर है । और वह मंत्री जब कि किसीके साथ विश्वस्तभावसे वार्तालाप कर रहा था, तब हमने उसके आकार और चेष्टासे जानलिया कि, इससे पहलेही शत्रुकी ओरका कोई हमारे किलेमें आय घुसा है ' ।

चक्रो ब्रूते-' देव ! काक एवासौ संभवति ' । राजाऽऽह-' न कदाचिदेतत् । यद्येवं तदा कथं तेन शुकस्याभिभवोद्योगः कृतः ? अपरं च शुकस्यागमनात्तस्य विग्रहोत्साहः । स चिरादत्रास्ते ' । मन्त्री ब्रूते-'तथाप्यागन्तुकः शङ्कनीयः' । राजाऽऽह-' तथाप्यागन्तुका हि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते । शृणु-

चकवेने कहा,-' उस मेघवर्णनामक काककोही हम शत्रुकी ओरका जानकर शंका करते हैं ' । राजाने कहा,-' यह कभी संभव नहीं, यदि ऐसाही होता तो वह उस समय शत्रुके दूत शुकको मारनेको क्यों तैयार होता ? और देखो ! शुकके आनेपरभी तो उसने युद्धविषयमें उत्साह प्रकाश किया और वह इस स्थानमें बहुत दिन रहा है ' । मंत्रीने कहा,-' तोभी आगन्तुक होनेके कारण उससे शंका करनी उचित है ' । राजाने कहा,-' आगन्तुकभी तो प्रत्युपकार किया करते हैं । सुनो,—

परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥१०१॥

परायाभी हितकारी बन्धु होता है । बन्धुभी अहितकारी पराया होजाता है शरीरके उत्पन्न हुए रोगसे अहित होता है, वनकी औषधि हितकारक होती है॥१०१

अपरं च-आसीद्वीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः ।
सेवकः स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः ॥१०२॥'

औरभी,–शूद्रक राजाका वीरवर नाम सेवक था उसने अति थोडे कालमें पुत्रको बलि देदिया ॥ १०२ ॥ ’

चक्रः पृच्छति–‘कथमेतत् ?’ । राजा कथयति–

चक्रवाकने कहा;–‘ यह किस प्रकार ? । ’ राजा बोला–

कथा ८.

अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलि-नाम्नो राजहंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जर्या सहानु-रागवानभवम् । तत्र वीरवरो नाम महाराजपुत्रः कुतश्चिद्देशादागत्य राजद्वारमुपगम्य प्रतीहार-मुवाच–‘अहं तावद्वेतनार्थी राजपुत्रः । मां राज-दर्शनं कारय’। ततस्तेनासौ राजदर्शनं कारितो ब्रूते–‘देव ! यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति तदाऽस्मद्वर्तनं क्रियताम्’। शूद्रक उवाच–‘ किं ते वर्तनम् ? ।’ वीरवरो ब्रूते ‘प्रत्यहं सुवर्णपञ्च-शतानि देहि ’। राजाऽऽह–‘ का ते सामग्री ? ’। वीरवरो ब्रूते–‘ द्वौ बाहू तृतीयश्च खड्गः’ । राजाह–‘ नैतच्छक्यम्’। तच्छ्रुत्वा वीरवरश्चलितः।

हम पहले शूद्रक राजाके क्रीडासरोवरमें कर्पूरकेलिनामक राजहंसकी कन्याके साथ परम प्रीतिके सुखसे वास करते थे । एक दिन वीरवरनामक एक राजपुत्र किसी दूर देशसे आय शूद्रक राजाके द्वारपर उपस्थित हो प्रतिहारीसे बोला–‘ मैं राजपुत्र नौकरीके लिये आया हूं, हमको महाराजके दर्शन कराओ’ । जब प्रतिहारी उसको राजाके निकट लेगया तब उसने कहा,–‘ महाराज ! जो आप मुझे नौकर रक्खें तो मेरे वेतनका निश्चय कर दीजिये ’ । शूद्रकने पूछा;–‘ तुम कितना वेतन लोगे ? ’ । वीरवरने कहा,–‘ प्रतिदिन पांचसौ रुपये ’ । राजाने पूछा,– ‘ तुम्हारे कार्यकी सामग्री क्या है ? ’ । वीरवर बोला, ‘ दो भुजा और खड्ग

केवल येही तीन'। राजा बोला,-'मैं इतना वेतन नहीं देसकता'। यह सुनकर वीरवर प्रणाम करके चलागया।

अथ मन्त्रिभिरुक्तम्-'देव ! दिनचतुष्टयस्य वर्तनं दत्त्वा ज्ञायतामस्य स्वरूपं किमुपयुक्तोऽयमेतावद्वर्तनं गृह्णात्यनुपयुक्तो वेति'। ततो मन्त्रिवचनादाहूय वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि दत्तानि। तद्विनियोगश्च राज्ञा सुनिभृतं निरूपितः। तदर्धं वीरवरेण देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्। स्थितस्यार्धं दुःखितेभ्यः। तदवशिष्टं भोज्यव्ययविलासव्ययेन। एतत्सर्वं नित्यकृत्यं कृत्वा राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते। यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्वगृहमपि याति।

इसके पीछे मंत्रियोंने कहा,-'महाराज ! अब तो चार दिनका वेतन देकर उसके गुणकी परीक्षा कीजिये, देखिये वह ऐसा वेतन पानेके योग्य है या नही ?'। राजाने मंत्रियोंके वचन सुन, वीरवरको बुलवाय उसके हाथमें (१) पान दिया

(१) पहले समयमें ऐसी चाल थी, कि स्वामी किसी पुरुषको कार्यमें नियुक्त करनेके समय उसके हाथमें वरण करनेका चिह्न पान देते थे। किसी २ पुस्तकमें नीचे लिखा मूल श्लोक अधिक है, नीचे वह श्लोक और उसका अनुवाद दिया गया है।

श्लोक-ताम्बूलं कटु तिक्तकं च मधुरं क्षारं कषायान्वितं वातघ्नं कफनाशनं कृमिहरं दौर्गन्ध्यदोषापहम्। वक्त्रस्याभरणं मलापहरणं कामाग्निसन्दीपनं ताम्बूलस्य सखे त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽप्यमी दुर्लभाः॥

अनुवाद;-पानमें कडुवा, तीखा, गरमगुण, नमकीन, कसैला और अपूर्व मधुर रस है, वातके हरनेहारा, कफ नाशनेवाला, पेटके कृमि हरनेवाला, दुर्ग-

और उसको उसी वेतनपर नियत किया। वीरवर इस वेतनको किस प्रकारसे व्यय करता है, राजाने छिपकर इसका खोजलिया। वीरवर प्रतिदिनके वेतनका आधा भाग देवता और ब्राह्मणोंको दान करता, इससे बचेहुए वेतनका आधा भाग दीन दुःखियोंको देता बचाहुआ जो कुछ रहता, उसको वह भोजनकी सामग्री और विलासकी सामग्रीमें लगाता था। वह यह समस्त नित्यकर्म समाप्त करके खड्ग लिये हुए दिनरात राजद्वारपर उपस्थित रहता और विना राजाकी आज्ञा अपने वासस्थानपरभी नहीं जाता था।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ राजा सकरुणं क्रन्दनध्वनिं शुश्राव। शूद्रक उवाच–'कस्कोऽत्र द्वारि?'। तेनोक्तम्–'देव! अहं वीरवरः।' राजोवाच–'क्रन्दनानुसरणं क्रियताम्'। वीरवरः–'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः। राज्ञा च चिन्तितम्–'अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचीभेद्ये तमसि प्रेरितः। नैतदुचितम्। अहमपि गत्वा किमेतदिति निरूपयामि'।

इसके उपरान्त एक दिन घोर अन्धियारी कृष्णचतुर्दशीकी रातको राजाने सुना कि, कोई अतिगम्भीर करुणाके स्वरसे रोय रहा है। यह सुन राजाने कहा,–'इस द्वारपर इस समय कौन हो पहरेदार विद्यमान है?'। यह सुनकर वीरवरने कहा,–'महाराज! मैं वीरवर विद्यमान हूं'। राजाने कहा,–'वीरवर! रोनेका अनुसरण करो'। वीरवरभी–'जो आज्ञा महाराज!' यह कह उसी समय चलागया। वीरवरके चलेजानेपर राजाने विचारा–'इस राजपुत्रको घोर अन्धकारमें भेजकर भला कार्य नहीं किया, इस कारण मैंभी जायकर अनुसरण करूं कि, यह क्या व्यापार है?'।

ततो राजाऽपि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम। गत्वा च वीरवरेण सा

—न्धिके दोषकोभी हरनेवाला, कामकी आगको दीप्त करनेवाला, हे सखे! पार्वोंके तरह गुण हैं ये सब स्वर्गमेंभी दुर्लभ हैं।

रुदती रूपयौवनसम्पन्ना सर्वालङ्कारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा पृष्टा च–'का त्वम् ? किमर्थं रोदिषि ?'। स्त्रियोक्तम्–'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः। चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता। देव्यपराधेन तृतीये दिवसे राजा पञ्चत्वं यास्यति। अहमनाथा भविष्यामि। इदानीं नोऽत्र स्थास्यामीति रोदिमि'।

इसके उपरान्त राजाभी खड्ग ग्रहण करके वीरवरके पीछे हो गया और क्रमसे नगरके द्वारको उलांघकर चला और वीरवरने जायकर देखा कि, रूपयौवनसम्पन्ना समस्त गहनोंसे भूषित एक स्त्री रोयरही है। देखकर उससे पूछा,–'तुम कौन हो ? और किस कारण रोयरही हो ?'। उस नारीने उत्तर दिया,–'मैं इस शूद्रकराजाकी राज्यलक्ष्मी हूं। मैं इसके भुजबलके आश्रयमें बहुत कालतक परम सुखसहित विश्राम करती थी। देवी सर्वमंगलाके निकट अपराध करनेसे राजा आजसे तीसरे दिन कालकवलित होगा, मैं इसके विरहसे अनाथ होजाऊंगी, इस समय इसका आश्रय छोडना पडैगा, इससेही मैं रोयरही हूं।'

वीरवरो ब्रूते–'कथं पुनरिहावासो भगवत्या भवति?'। लक्ष्मीरुवाच–'यदि त्वमात्मनः पुत्रस्य शक्तिधरस्य द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतस्य मस्तकं स्वहस्तेन छित्त्वा भगवत्याः सर्वमङ्गलायाः उपहारीकरोषि तदा राजा शतायुर्भविष्यति। अहं च सुचिरं सुखं निवसामि' इत्युक्त्वा अदृश्याऽभवत्।

वीरवरने कहा;–'भगवति ! किस उपायसे आप फिर यहां स्थिर होसकती हैं ?'। लक्ष्मीने कहा;–'जो तुम (१) बत्तीस शुभलक्षणयुक्त अपने इकलौते बेटे

---

(१) 'बत्तीस शुभलक्षणयुक्त'–महापुरुषके शरीरमें बत्तीस शुभ लक्षण होते हैं; यथा–

शक्तिधरका मस्तक अपने हाथसे काटकर भगवती सर्वमंगलाको उपहार दे सकोगे तो राजाकी शतवर्षकी परमायु होगी और मैं भी यहांपर सदा सुखसे वास कर सकूंगी '। लक्ष्मी यह कहकर अन्तर्धान होगई ।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता पुत्रश्च । तौ निद्रां परित्यज्यो-त्थायोपाविष्टौ । वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्त-वान् । तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते-'धन्योऽहमेवंभूतः स्वामिराज्यरक्षार्थं यन्ममो-

---

–६ जीभ, ७ नख ये सात अंग लाल होते हैं । १ छाती, २ कन्धे, ३ नख, ४ नाक, ५ कमर, ६ मुख ये छः अंग ऊंचे होते हैं। १ कमर या मस्तक, २ माथा, ३ छाती ये तीन अंग चौडे होते हैं। १ गरदन, २ जांघ, ३ लिंग ये तीन अंग खर्व होते हैं। १ नाभि, २ कण्ठस्वर, ३ स्वभाव यह तीन गंभीर होते हैं। १ नासा, २ भुजा, ३ नेत्र, ४ ठोडी, ५ जानु यह पांच दीर्घ होते हैं। १ खाल, २ केश, ३ रोएँ, ४ दांत, ५ अंगलियोंके पोरुए, यह पांच सूक्ष्म होते हैं, सब मिलकर यह बत्तीस-सुलक्षण महापुरुषमें होते हैं. ये सामुद्रिकशास्त्रमें कहा है,

यथा;–" पञ्चसूक्ष्मः पञ्चदीर्घः सप्तरक्तः षडुन्नतः । त्रिह्रस्वः पृथुगम्भीरो द्वात्रिंशल्लक्षणो महान् ॥ " इति। " रागः सप्तसु हन्त षट्स्वपि शिशोरंगेष्वलं तुङ्गता विस्तारस्त्रिषु खर्वता त्रिषु तथा गंभीरता च त्रिषु । दैर्घ्यं पञ्चसु किञ्च पंचसु सखे ! संप्रेक्ष्यते सूक्ष्मता द्वात्रिंशद्वरलक्षणः कथमसौ गोपेषु सम्भाव्यते ॥ " इति श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः। " सप्तसु नेत्रान्तपादकरताल्वधरोष्ठजिह्वानखेषु । षट्सु वक्षःस्कन्धनखनासिकाकटिमुखेषु । त्रिषु कटिललाटवक्षःसु । केचित् कटिस्थाने शिरः पठन्ति । पुनस्त्रिषु ग्रीवाजंघामेहनेषु । पुनस्त्रिषु नाभिस्वरसत्त्वेषु । पंचसु नासाभुजनेत्रहनुजानुषु । पुनः पंचसु त्वक्केशरोमदन्तांगुलिपर्वसु ॥ " इति श्रीजीवगोस्वामिकृतदुर्गमसंगमनीनामकटीकायाम् ।

पयोगः । तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः ? कदापि तावदेवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाध्यः। यतः-

इसके पीछे वीरवरने गृह जाय सोते हुए अपने पुत्र और स्त्रीको जगाय दिया। वे दोनों निद्रा त्यागकरके उठे। वीरवरने लक्ष्मीकी सब कथा उनसे कही। उसको सुनकर शक्तिधरने परमानन्दसे कहा;–' अहो ! हमारा जीवन धन्य है ! मैं आज यह जीवन प्रतिपालक स्वामीके राज्यरक्षार्थ देकर सार्थक करूंगा। हे पितः ! इस कार्यमें विलम्ब क्यों ? यह देह दानकरके कभी जो ऐसा महत् कार्य सिद्ध किया जासके तो फिर इससे अधिक गौरवकी और क्या बात है ? कारण,–

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्तो वरं त्यागो विनाशे नियते सति॥१०३॥'

पंडित जन धन और प्राण पराये निमित्त त्याग करदे, क्योंकि शरीरका नाश अवश्यही होगा, इससे साधुके लियेही त्याग करना भला है ॥ १०३ ॥'

शक्तिधरमातोवाच–' अस्मत्कुलोचितं यद्येतन्न कर्तव्यं तदा गृहीतराजवर्तनस्य निस्तारः कथं भविष्यति ?' इत्यालोच्य सर्वे सर्वमङ्गलायाः स्थानं गताः। तत्र सर्वमङ्गलां संपूज्य वीरवरो ब्रूते– 'देवि ! प्रसीद। विजयतां विजयतां शूद्रको महाराजः । गृह्यतामुपहारः' इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेद। ततो वीरवरश्चिन्तयामास–'गृहीतराजवर्तनस्य निस्तारः कृतः । अधुना निष्पुत्रस्य जीवनेनालम्'इत्यालोच्यात्मनः शिरश्छेदः कृतः। ततः स्त्रियाऽपि स्वामिपुत्रशोकार्तया तदनुष्ठितम्। तत्सर्वं दृष्ट्वा राजा साश्चर्यं चिन्तयामास

शक्तिधरकी माताने कहा,–' यदि हम अपने कुलके योग्य इस धर्मका पालन न करें, तो हमने जो राजाका वेतन ग्रहण किया है उस ऋणसे कैसे उद्धार पावेंगे?'। ऐसा स्थिर करके वे सब मिल सर्वमंगलाके मन्दिरमें गये। वहां सर्वमंगलाकी यथाविधिसे पूजा कर वीरवरने कहा,–' देवि! सर्वमंगले! प्रसन्न हो, महाराज शूद्रकको सदा विजयी करो, यह बलि ग्रहण करो ' यह कह पुत्रका मस्तक काटडाला। इसके उपरान्त वीरवरने विचारा,–' कि मैं तो महाराजके ऋणसे छूटगया, अब पुत्रहीन हो, जीवन धारण करना वृथा है ' इस प्रकार विचारकर अपना मस्तकभी काटडाला। उसकी स्त्रीनेभी पति पुत्रके शोकसे विह्वल हो, अपने शिरको काटा, राजा समस्त वृत्तान्त देखकर विस्मित हो विचारता भया–

'जीवन्ति च म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः।
अनेन सदृशो लोके न भूतो न भविष्यति॥१०४॥

मेरे समान छोटे २ जन्तु जन्मते हैं और मरते हैं, परन्तु इसके समान पुरुष पृथ्वीपर न हुआ, न होगा॥१०४॥

तदेतेन परित्यक्तेन मम राज्येनाप्यप्रयोजनम्'। ततः शूद्रकेणापि स्वशिरश्छेत्तुं खड्गः समुत्थापितः। अथ भगवत्या सर्वमङ्गलया प्रत्यक्षभूतया राजा हस्ते धृत उक्तश्च–'पुत्र! प्रसन्नाऽस्मि ते। एतावता साहसेनालम्। इदानीं ते राज्यभङ्गो नास्ति'। राजा च साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच–'देवि! किं मे राज्येन जीवितेन वा किं प्रयोजनम्? यद्यहमनुकम्पनीयस्तदा ममायुःशेषेणायं सदारपुत्रो वीरवरो जीवतु। अन्यथाऽहं यथाप्राप्तां गतिं गच्छामि'।

ऐसे सेवकसे विहीन हो हमको राज्यसे क्या प्रयोजन है?' यह विचार शूद्रकनेभी अपना शिर काटनेको जैसेही खड्ग उठाया, वैसेही भगवती सर्वमंगलाने स्वयं

प्रत्यक्ष हो राजाका हाथ पकडकर कहा,–'पुत्र ! शान्त हो, ऐसे साहसका कार्य न कर, मैं तुझपर प्रसन्न हुई । अब तेरे राज्यनाशकी कुछ शंका नहीं है' । राजाने देवीको साष्टांग प्रणाम करके कहा;–'देवि ! हमको राज्य या जीवनसे क्या प्रयोजन है ? यदि आप हमारे ऊपर अनुग्रह करैं तो स्त्रीपुत्रके सहित इस वीरवरको हमारी बचीहुई परमायु देकर फिर जीवित करदीजिये । नहीं तो जो इसकी गति हुई वही मेरी होगी ' ।

भगवत्युवाच–'पुत्र ! अनेन ते सत्त्वोत्कर्षेण भृत्यवात्सल्येन च सर्वथा तुष्टाऽस्मि । गच्छ विजयी भव । अयमपि सपरिवारो राजपुत्रो जीवतु ' इत्युक्त्वा देव्यदृश्याऽभवत् । ततो वीरवरः सपुत्रदारः प्राप्तजीवनः स्वगृहं गतः । राजाऽपि तैरलक्षितः सत्वरमन्तःपुरं प्रविष्टः ।

भगवतीने कहा,–'पुत्र ! मैं तुम्हारी इस अलौकिक साधुतासे और सेवकवत्सलतासे तुम्हारे ऊपर सब प्रकारसे सन्तुष्ट हुई हूं । जाओ वत्स ! तुम सदा विजय पाओ । और यह राजपुत्रभी (१) परिवारके सहित जीवित होजाय ' यह कहकर देवी अन्तर्धान होगई । वीरवर स्त्रीपुत्रके सहित फिर जीवन पाय अपने गृहको चलागया और राजा भी अदृश्यभावसे अति शीघ्र अपने अन्तःपुरमें आगया ।

अथ प्रभाते वीरवरो द्वारस्थः पुनर्भूपालेन पृष्टः सन्नाह–'देव ! सा रुदती स्त्री मामवलोक्याऽदृश्याऽभवत् । न काप्यन्या वार्ता विद्यते ' । तद्वचनमाकर्ण्य सन्तुष्टो राजा साश्चर्यमचिन्तयत्–'कथमयं श्लाघ्यो महासत्त्वः । यतः–

इसके उपरान्त फिर प्रातःकाल वीरवर राजद्वारपर उपस्थित हुआ और राजाने उससे समाचार पूछा, तब वीरवरने कहा,–' महाराज ! एक स्त्री रोरही थी वह मुझे

(१) 'राजपुत्र ' रजपूत, वीरवल रजपूत था ।

देखतेही अदृश्य होगई । इसके सिवाय और कोई समाचार नहीं है ' । वीरवरका ऐसा वचन सुन राजाने अधिक प्रसन्न और विस्मित हो विचार किया,–' ऐसा महापुरुष कैसे स्तुति किया जाय ? कारण,–

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः ।
दाता नापात्रवर्षी च प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥१०५॥

उदार होकर सदा प्रिय बोले, शूर होकर अपनी बडाई न करै, (१) दाता होकर कुपात्रको दान न दे और साहसी होकर निठुर न हों ॥ १०५ ॥

एतन्महापुरुषलक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति ' । ततः स राजा प्रातः शिष्टसभां कृत्वा सर्ववृत्तान्तं प्रस्तुत्य प्रसादात्तस्मै कर्णाटराज्यं ददौ । तत्किमागन्तुको जातिमात्राद्दुष्टः ? तत्राप्युत्तमाधममध्यमाः सन्ति । चक्रवाको ब्रूते–

इसमें महापुरुषके सब लक्षणही विद्यमान हैं ' । इसके उपरान्त राजाने प्रभातसमय सब शिष्टोंको राजसभामें बुलाय रात्रिका समस्त वृत्तान्त उनके निकट प्रकाश किया और राजा प्रसादस्वरूप वीरवरको कर्णाटकका राज्य देदिया । फिर भला आगन्तुक जातिमात्र होनेसेही क्या अविश्वासी होता है ? आगन्तुक लोगोंके मध्यमेंभी उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकारके लोग होते हैं । चक्रवाकने कहा,—

' योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किं मन्त्री नृपेच्छया ।
वरं स्वामिमनोदुःखं तन्नाशो न त्वकार्यतः ॥१०६॥

राजाकी इच्छासे जो अकार्यको कार्यतुल्य शासन करै, वह क्या मंत्री ? प्रभुके मनका दुःखभी अच्छा, अकार्यसे उसका नाश अच्छा नहीं ॥ १०६ ॥

---

(१) स्वाभाविक सुशीलताके गुणसे सरल व उदार होकर सबसे मीठे वचन कहे । अर्थ सिद्धिके लिये कपट मीठे वचन मुखसे न निकाले ।

वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदः ।
शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ १०७ ॥

दोहा–संचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं नृपपास ।
देह धर्म धन तीनकर, होय वेगही नास (१) ॥ १०७ ॥

शृणु देव ! पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममापि भविष्यति ।
हत्वा भिक्षुं महालोभान्निध्यर्थी नापितो हतः॥ १०८॥

सुनिये महाराज ! पुण्यप्रयुक्त किसी एक पुरुषने जिसको पाया है ' वह मुझेभी मिलजाय ' ऐसा जानकर जो पुरुष कर्म करता है, वह नष्ट होजाताहै; इसका दृष्टान्त अतिशय लोभप्रयुक्त भिखारीको ताडना करके निधिका चाहनेवाला नाई जिसप्रकार नष्ट हुआ था ॥ १०८ ॥'

राजा पृच्छति–' कथमेतत् ? '। मन्त्री कथयति–

राजाने कहा;–' यह कैसे ? ' । मंत्री बोला—

कथा ९.

अस्त्ययोध्यायां चूडामणिर्नाम क्षत्रियः । तेन धनार्थिना महता कायक्लेशेन भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिश्चिरमाराधितः । ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा भगवदादेशाद्यक्षेश्वरेणादिष्टः– 'यत्त्वमद्य प्रातः क्षौरं कृत्वा लगुडहस्तः सन्

(१) जो वैद्य राजाका मन प्रसन्न करनेके लिये रोगके समय उसे मनमानी वस्तु खानेको कहदे, तो शीघ्रही उस राजाका शरीर नष्ट होजाय, गुरु यदि राजाकी प्रसन्नताके अर्थ उसकी पापवासनामें हांमें हां मिलावै तो शीघ्र उस राजाका धर्म नाश होजाता है और जो मन्त्री राजाको सन्तुष्ट करनेके लिये उसको अपव्यय और अत्याचार करने दे, तब शीघ्र उस राजाका धन नाशको प्राप्त होजाता है ।

गृहद्वारि निभृतः स्थास्यसि। ततोऽस्मिन्नेवाङ्गणे समागतं यं भिक्षुं पश्यसि तं निर्दयं लगुडप्रहारेण हनिष्यसि। ततोऽसौ भिक्षुकस्तत्क्षणात् सुवर्णपूर्णकलशो भविष्यति। तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम्'। ततस्तथाऽनुष्ठिते तद्वृत्तम्।

अयोध्यानगरमें चूडामणिनामक एक क्षत्रिय था। उसने धनकी कामनासे बहुत समयतक कठोर कायक्लेश स्वीकार कर भगवान् चन्द्रशेखर हर (शिव) की आराधना की। उससे उसका कुभाग्य दूर हुआ और भगवान् महादेवजीके अनुग्रहसे यक्षोंके राजा कुबेरजीने स्वप्नमें उसको यह आज्ञा दी कि,–' तुम आज सबेरे कि, हजामत बनवाय लाठी हाथमें ले अपने घरके द्वारपर छिपे रहना। फिर अपने घरके आंगनमें किसी भिखारीको आता हुआ देखकरही तुम निठुर हो लाठी मारकर उसे वध करना। वह भिखारी वैसेही उसी समय सुवर्णका भरा कलश होजायगा; तुम उस सुवर्णको पाय जन्मभर सुखसे बिताय सकोगे'। इसके पीछे उसने प्रभातको उस स्वप्नके अनुसार कार्य करके निधि पाई।

तत्र क्षौरकरणायानीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य चिन्तितम्–'अये! निधिप्राप्तेरयमुपायस्तदहमप्येवं किं न करोमि?'। ततः प्रभृति नापितः प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृतं भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते। एकदा तेन तथा प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः। तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि–'पापाकरं यदेकेन' इत्यादि॥ राजाह–

उसने हजामत बनानेके लिये जिस नाईको बुलाया था उसने यह समस्त वृत्तान्त देखकर विचार किया;–' अहह ! बस यही निधि पानेका उपाय है; फिर भला मैं क्यों नहीं इस उपायसे निधि प्राप्त करूं ? ' । तबसे यह नाई प्रतिदिन इसी भांतिसे लाठी हाथमें लेकर भिखारीके आनेकी बाट देखता रहता था । एक दिन उसने एक भिखारीको घरमें आता हुआ देखकर लट्ठसे उसको मारडाला । उस हत्याके अपराधसे राजपुरुषोंने उसको प्राणदंड दिया । इसीलिये मैं कहताहूं कि ' पुण्यप्रयुक्त कोई पुरुष ' इत्यादि ॥ राजा बोला–

' पुरावृत्तकथाद्वारैः कथं निर्णीयते परः ।
स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा किं वा विश्वासघातकः॥१०९॥

' पूर्वकालका वृत्तान्त कहनेसे किस प्रकारसे परायका निर्णय हो, कि कौन कारणरहित बन्धु है और कौन विश्वासघातक है ॥ १०९ ॥

यातु । प्रस्तुतमनुसन्धीयताम् । मलयाधित्यकायां समासितो वर्तते चित्रवर्णो राजा । तदधुना किं विधेयम्?'। मन्त्री वदति–'देव ! आगतप्रणिधिमुखान्मया श्रुतं तन्महामन्त्रिणो गृध्रस्योपदेशे यच्चित्रवर्णेनानादरः कृतः । ततोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः । तथा चोक्तम्–

जाने दो–इस बातको छोड दो । इस समय प्रस्तुतमें कर्तव्य निश्चय करो, राजा चित्रवर्ण मलयपर्वतके समीप सेना डालकर पडा हुआ है । सो इस समय क्या करना चाहिये ? ' । मन्त्रीने कहा,–' महाराज ! आयेहुए गुप्तदूतके मुखसे सुना कि, उस मन्त्रिश्रेष्ठ गिद्धके उपदेशवचनोंपर चित्रवर्णने अनादर दिखाया है । इस कारण इस मूर्ख राजाको जीतना कठिन नहीं होगा । कहाभी है कि,–

लुब्धः क्रूरोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः ।
मूढो योधावमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुः स्मृतः॥११०॥

लोभी, क्रूर (निठुर), असत्यपरायण, प्रमादी (कर्त्तव्यमें मनको नहीं लगाने-वाला), डरपोक, अस्थिर, मूढ और अपने योधाका अपमान करनेवाले शत्रुका संहार अनायाससे होजाता है ॥ ११० ॥

ततोऽसौ यावदस्मद्दुर्गद्वाररोधं न करोति ताव-न्नद्यद्रिवनवर्त्मसु तद्बलानि हन्तुं सारसादयः सेनापतयो नियुज्यन्ताम् । तथा चोक्तम्-

सो चित्रवर्ण आकर जबतक हमारे दुर्गका द्वार न घेरले तिससे पहलेही उसकी सेनाका नाश करनेके लिये हमलोगोंके सेनापति सारस इत्यादि पर्वत नदी और वनके मार्गोंमें भेजे जांय । कहाभी है कि,-

दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं नद्यद्रिवनसङ्कुलम् ।
घोराग्निभयसंत्रस्तं क्षुत्पिपासार्दितं तथा ॥ १११ ॥

दूर मार्गके चलनेसे थकेको, नदी, पर्वत और वनसे रोके हुयेको, घोर अग्निके भयसे भीत, भूख प्याससे पीडित ॥ १११ ॥

प्रमत्तं भोजनव्यग्रं व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् ।
असंस्थितमभूयिष्ठं वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ ११२ ॥

मतवाला, भोजन करनेमें लगेहुएको, रोगीको और दुर्भिक्षसे पीडित व अन-स्थिर, संख्यामें अल्प, वर्षावायुसे व्याकुल ॥ ११२ ॥

पङ्कपांसुजलाच्छन्नं सुव्यस्तं दस्युविद्रुतम् ।
एवंभूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत् ॥ ११३ ॥

कीच धूल व जलसे घिरे और अतिशय हडबडाई, चोरपीडित इस प्रकारकी शत्रुसेनाको राजा नष्ट करै ॥ ११३ ॥

अन्यच्च-अवस्कन्दभयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम् ।
दिवासुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम् ॥ ११४ ॥

औरभी-चढाईके भयके मारे रातके जागनेसे थककर दिनको सोतीहुई निद्रासे व्याकुल सेनाको राजा नाश करदे ॥ ११४ ॥

अतस्तस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथावकाशं दिवानिशं घ्नन्त्वस्मत्सेनापतयः' । तथाऽनुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः सेनापतयश्च बहवो निहताः। ततश्चित्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह- 'तात ! किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते । किं क्वाप्यविनयो ममास्ति । तथा चोक्तम्-

इस कारण सारस इत्यादि सेनापतिलोग जायकर उस प्रमत्त राजाकी सेनाको सुअवसर पाय दिनरात मारे '। इसके उपरान्त वह मन्त्रणानुरूप कार्य किया-गया । चित्रवर्णकी बहुत सारी सेना और सेनापति मारेगये । तिससे चित्रवर्ण अत्यंत शोकाकुल हो दूरदर्शी नामक गिद्धमन्त्रीसे बोला;-' पितः! आप किस लिये हमको उपेक्षा दिखलाते हैं ? हमारीओर क्या किसी विषयमें कोई अविनयका कार्य हुआ है ? कहाभी है कि;-

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसांप्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥११५॥

राज्यको पाया हुआ जानकर अविनय नहीं करै, क्योंकि वृद्धावस्था जिस प्रकार उत्तम सौन्दर्यको नष्ट करती है ऐसेही अविनय सम्पत्तिका नाश करता है (१)॥

अपरं च-

दक्षः श्रियमधिगच्छति पथ्याशी कल्यतां सुखमरोगी ।
उद्युक्तो विद्यान्तं धर्मार्थयशांसि च विनीतः ॥ ११६ ॥'

औरभी,-कार्यमें निपुण पुरुष सम्पात्तिको पाता है, पथ्यसे भोजन करनेवाला मंगल सुख व निरोगताको पाता है, उद्योगी पुरुष विद्याकी सीमा पाता है और विनयी धर्म अर्थ और यशको पाता है ॥ ११६ ॥'

---

(१) वृद्धावस्था जिस प्रकार शरीरका बल, वीर्य, सौन्दर्य इत्यादि समस्त नष्ट करती है; ' अविनय ' अर्थात् अत्याचार दोष वैसेही राजाके राज्यको नष्ट करता है ।

गृध्रोऽवदत्–' देव ! शृणु–

गिद्धने कहा,–' महाराज ! सुनिये,–

अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।
परां श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा ॥ ११७ ॥

जलके समीपका वृक्ष जिस प्रकारसे वृद्धि पाता है, अविद्वान् राजाभी गुणवान्‌के निकट रहकर वृद्धि पाता है (१) ॥ ११७ ॥

अन्यच्च–पानं स्त्री मृगया द्यूतमर्थदूषणमेव च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं व्यसनानि महीभुजाम् ॥ ११८ ॥

औरभी,–मादक द्रव्योंका पीना, स्त्री, मृगया, द्यूतक्रीडा, अर्थका दूषण, दारुण-दंड, कठोरवचन ये सब राजालोगोंके व्यसन हैं (२) ॥ ११८ ॥

---

(१) वृक्ष जिस प्रकार जलाशयके निकट रह उसके जलको खैंचकर वृद्धि पाता है, वैसेही अज्ञानी राजा ज्ञानी मंत्रीके साथ रह उसके उपदेश पाय अत्यन्त उन्नति पाता है ।

(२) ' स्त्री ' अर्थात् स्त्रीसम्भोगमें अत्यन्त आसक्ति, ' मादक द्रव्योंका पीना ' शराब आदिक पीना, ' मृगया ' अर्थात् शिकारमें रहकर कर्त्तव्य कार्योंको भूलजाना ' द्यूतक्रीडा ' जुआ खेलना । राजाके इन सब दोषोंको कामज व्यसन कहते हैं अर्थात् ये सब दोष कामरिपुसे उत्पन्न होते हैं। ' अर्थ-दूषण ' अर्थात् प्रजाका न्यायसे जो देना चाहिये उसको न देना और प्रजासे अन्याय करके धन लेना । ' दारुण दंड ' अर्थात् वध, ताडन, बंधन इत्यादि भयानक राजदण्ड, विना अपराधसे या साधारण अपराधसे मुकदमा चलादेना । ' कठोरवचन या वाक्पारुष्य ' अर्थात् गाली देना अथवा निष्ठुर वचन कहना । ये तीन राजाके क्रोधसे उत्पन्न होते हैं, सो ये आठ प्रकारके व्यसनोंमें प्रधान हैं इनसे अवश्य राजाको विपद् उठानी पडतीहै ।

किं च-न साहसैकान्तरसानुवर्तिना
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति संपदः॥ ११९ ॥

औरभी,-केवल साहसमात्रका अवलंबन करनेवाला और उपायरहित, ऐश्वर्यको नहीं पासकता, वरन् न्यायमें और वीरताहीमें लक्ष्मी वसतीहै (१)॥ ११९ ॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य साहसैकवासिना मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं वाक्पारुष्यं च कृतम् । अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते । तथा चोक्तम्-

आप अपनी सेनाका युद्धमें उत्साह देखकरही इस अत्यन्त दुःसाहसके कार्यमें प्रवृत्त हुए हैं, हमने बारंवार सुमंत्रणा दी और आपने कठोर वचन कहकर निरादर किया है, उस दुर्नीतिके फलसे ही आप इस कष्टमें घिरे हैं। शास्त्रमें कहाभी है कि,-

कुमन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः
संतापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ।
कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहन्ति मृत्युः
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ॥ १२० ॥

नीतिका दोष किस दुष्ट मंत्रकारको नहीं होता ? रोग किस कुपथ्य खानेवालेको संताप नहीं देते ? सम्पत्ति किसको गर्वित नहीं करती? यम किसको नष्ट नहीं करता? और स्त्रीकृत विषय किसको सन्ताप नहीं देता ?॥ १२० ॥

---

(१) जो पुरुष भला बुरा न विचार कर सहसा वीरता प्रकाश करता है अथवा कार्यके समय श्रेष्ठ उपाय स्थिर नहीं करसकता, उसका मंगल कभी नहीं होता; कारण कि-केवल नीति या वीरताके बलसेही सम्पत्ति नहीं मिलसकती; सुनीतिसहित वीरता प्रकाश करनेसे सम्पत्ति मिलती है ।

अपरं च-मुदं विषादः शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्सुकृतं कृतघ्नता।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः॥ १२१॥

औरभी,-विषादपन हर्षको, शीतकाल शरदको, सूर्य अन्धकारको, कृतघ्नता पुण्यको, मित्रका दर्शन शोकको, न्याय विपत्तिको और दुर्नीति बढी चढी लक्ष्मीको भी नष्ट करदेती है॥ १२१॥

ततो मयाप्यालोचितम्-' प्रज्ञाहीनोऽयं राजा। नोचेत्कथं नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति। यतः-

जब आपने हमारे वचनोंको त्यागा तब हमने विचारा कि,-' यह अतिनिर्बोध है, नहीं तो हमारी नीतिशास्त्रविषयक सुमंत्रणारूप चान्दनीको यह दुर्वाक्यरूप उल्काराशिसे क्यों ढकाता ? (१) कहा भी है कि,-

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति १२२॥'

जिसको बुद्धिही नहीं, शास्त्र उसका क्या करसकैगा ? दोनों नेत्रोंसे रहित पुरुषको दर्पण क्या करसकता है ? ॥ १२२॥'

इत्यालोच्य तूष्णीं स्थितः।' अथ राजा बद्धाञ्जलिराह-'तात ! अस्त्ययं ममापराधः। इदानीं यथाऽवशिष्टबलसहितः प्रत्यावृत्य विन्ध्याचलं

(१) जैसे घोर तापपूर्ण उल्कापात निर्मल स्निग्ध चांदनीको ढकलेता है, वैसेही आप क्रोधपूर्ण वचनोंसे हमारी मन्त्रणाको ढकलियाथा; अर्थात् आपने उस समय क्रोध और लोभके वश हो हमारी श्रेष्ठ मंत्रणा नहीं सुनी।

गच्छामि तथोपदिश'। गृध्रः स्वगतं चिन्तयति- 'क्रियतामत्र प्रतीकारः। यतः-

इसी विचारसे मैं उदासीन हूं।' इसके उपरान्त राजाने हाथ जोडकर कहा,- 'पितः! सत्य २ ही हमने बडा भारी अपराध किया है, इस समय बचीहुई सेना और सामन्तोंको लेकर हम जिस प्रकार विन्ध्याचलको लौटजाय सकें, ऐसा उपाय कीजिये'। गिद्ध मनहीमन विचारने लगा,-'इस समय प्रतिकारका उपाय अवश्य ही करना होगा। कारण,—

देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च ॥१२३॥'

देवतासे, गुरुसे, राजासे, ब्राह्मणसे, बालकसे, वृद्धसे कदापि क्रोध करना कर्त्तव्य नहीं है ॥ १२३ ॥'

मन्त्री प्रहस्य ब्रूते-' देव! मा भैषीः। समाश्वसिहि। शृणु देव!-

इसके पीछे गिद्धने हँसकर कहा,-'महाराज! भय न कीजिये, धीरज धरिये। सुनिये महाराज!-

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा सुस्थे को वा न पण्डितः॥१२४

मन्त्रीलोगोंकी बुद्धि अलग हुओंके मिलानेमें और वैद्योंकी बुद्धि सन्निपातमें जानी जाती है। यों तो स्थिरतामें कौन पंडित नहीं? ॥ १२४ ॥

अपरं च-आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः॥१२५॥

औरभी,-निर्बुद्धिलोग अल्प कार्य करनेसेही व्यग्र होजाते हैं; बुद्धिमान् बडे बडे कार्य करते हैं और व्याकुल नहीं होते (१) ॥ १२५ ॥

---

(१) इसका मूलश्लोक ... विपरीत ... के ... में है।

तदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गं भङ्क्त्वा कीर्तिप्रतापबलसहितं त्वामचिरेण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि'। राजाऽऽह–'कथमधुना स्वल्पबलेन तत्संपद्यते?'। गृध्रो वदति–'देव! सर्वं भविष्यति। यतो विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम्, तत्सहसैव दुर्गावरोधः क्रियताम्'।

महाराज! आपके प्रतापसेही हम शत्रुका गढ तोडेंगे और अक्षय कीर्ति व अखण्ड प्रतापके सहित सेनाके साथ आपको शीघ्रही विन्ध्याचलपर लेजाऊंगा'। राजाने कहा,–'इस समय इस थोडी सेनासे यह कार्य किस प्रकारसे सिद्ध होगा?'। गिद्धने कहा,–'महाराज! सब सिद्ध होजायगा। कारण कि, विजय चाहनेवाले राजामें जो कुछभी दीर्घसूत्रता (१) न हो तो जानो कि, उसकी विजय अवश्य होगी। इसलिये आजही सहसा शत्रुके गढपर चढाई कीजिये'।

अथ प्रहितप्रणिधिना बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य तत्कथितम्–'देव! स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य मन्त्रोपस्तम्भेन दुर्गावरोधं करिष्यति'। राजाह–'सर्वज्ञ! किमधुना विधेयम्?'। चक्रो ब्रूते–'स्वबले सारासारविचारः क्रियताम्। तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथार्हं प्रसादप्रदानं क्रियताम्। यतः–

इसके उपरान्त उस गूढचर बगलेने राजा हिरण्यगर्भके निकट आयकर कहा कि,–'महाराज! राजा चित्रवर्ण गिद्ध मन्त्रीके उपदेशसे बचीहुई थोडीसी सेनाको

(१) "दीर्घसूत्रता" कर्तव्यकार्यमें वृथा देर लगाना। अनिच्छा या अयत्नसे शीघ्र कार्यको न करना।

लेकरही आज हमारे गढद्वारको रूंधेगा'। राजा राजहंसने कहा,-'हे मंत्रिश्रेष्ठ ! सर्वज्ञ ! अब क्या करना चाहिये ?'। चक्रवाकने कहा,-'महाराज ! अपनी सेनाके गुण अवगुण विचार करके सबको यथायोग्य सुवर्णवस्त्रादि राजप्रसाद दीजिये । कहा है कि—

यः काकिनीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम् ।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः ॥ १२६ ॥

जो स्थानमें स्थित हुई कौडीको सहस्र निष्ककी तुल्य जानकर संग्रह कर और विशेष अवसरपर करोड धनसेभी हाथ खोले रहैं, उस राजसिंहको लक्ष्मी त्याग नहीं करती है (१) ॥ १२६ ॥

अन्यच्च-क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये
यशस्करे कर्मणि मित्रसंग्रहे ।
प्रियासु नारीष्वधनेषु बान्धवे-
ष्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु ॥ १२७ ॥

औरभी,-यज्ञमें, विवाहमें, विपत्कालमें, शत्रुके क्षय करनेमें, कीर्त्ति बढानेवाले कर्ममें, मित्र करनेमें,बन्धुलोगोंमें, हे महाराज ! इन आठोंमें अतिशय व्यय नहीं है॥

यतः-मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि ।
कः सुधीः संत्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात् ॥'

(१) जो एक कौडीको वृथा खर्च नहीं करते और कर्त्तव्य कायके आपडनेपर अकातरतासे करोडों रुपये खर्च करते हैं, उनको राज्यलक्ष्मी कभी नहीं छोडती है, 'राजसिंह' अर्थात् सिंह जिस प्रकार पशुओंमें श्रेष्ठ है, वैसेही जो राजाओंमें श्रेष्ठ हो।

निर्बुद्धिलोग अतिअल्प व्ययके भयसे सब नाश करदेता है, कौन सुबुद्धिमान् लोग शुल्क देनेके डरसे भाण्डको त्यागेगा ? (१) ॥ १२८ ॥'

राजाऽऽह–'कथमिह समयेऽतिव्ययो युज्यते ?। उक्तं च–'आपदर्थे धनं रक्षेत्।' इति।' मन्त्री ब्रूते–'श्रीमतः कथमापदः ?'। राजाह–'कदाचिच्चलते लक्ष्मीः'। मन्त्री ब्रूते–'संचितापि विनश्यति। तद्देव ! कार्पण्यं विमुच्य दानमानाभ्यां स्वभटाः पुरस्क्रियन्ताम्। तथा चोक्तम्–

राजाने कहा,–'इस समय अधिक व्यय करना क्या उचित है ? शास्त्रमें कहा है कि,–'विपद्के लिये धन इकट्ठा कर रक्खै"। मंत्री बोला,–'आप सरीखे राजश्रीको कभी विपद्की संभावना नहीं'। राजा बोला,–'लक्ष्मी तो कभी चलायमान हो सकती है'। मन्त्री फिर बोला,–'महाराज ! लक्ष्मीके प्रतिकूल होनेसे इकट्ठा किया धनभी तो नाश होजाता है। इसीलिये हे महाराज ! कंजूसता छोडकर धन व सम्मान देकर अपनी सेनाको उत्साहित कीजिये। वैसा कहाभी है कि;–

परस्पराज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान्सुनिश्चिताः।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्ते द्विषद्बलम् १२९

परस्पर एक दूसरेको जाननेवाले, हर्षित, प्राणत्याग करनेको तैयार, कुलीन, सम्मान प्राप्त किये ये शत्रुकी सेनाको जीत लेते हैं ॥ १२९ ॥

अपरं च–सुभटाः शीलसंपन्नाः संहताः कृतनिश्चयाः।
अपि पञ्चशतं शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम् ॥१३०॥

औरभी–शीलसम्पन्न, मिलेहुए, प्राण देनेको तैयार, शूर अपने पांचसौ योधाभी शत्रुके ओरकी अनेक सेनाको मारडालते हैं ॥ १३० ॥

(१) 'शुल्क' वाणिज्यकार्यके लिये राजाको जो कर देना पडताहै। अङ्गरेजीमें इसको Toll, duty, custom, इत्यादि कहते हैं। राजाको कुछ एक शुल्क देनेके कारण कोई अपने मूलधनके साहित वाणिज्यको छोड नहीं देताहै।

किंच-शिष्टैरप्यविशेषज्ञ उग्रश्च कृतनाशकः ।
त्यज्यते किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मम्भरिर्नरः ॥१३१॥

औरभी;-श्रेष्ठलोगभी विशेष ज्ञानरहित, क्रोधी, कृतघ्न, आत्मम्भरि पुरुषको त्याग करते हैं। फिर और क्यों नहीं त्याग करेंगे ? (१) ॥ १३१ ॥

यतः-सत्यं शौर्यं दया त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।
एभिर्मुक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम् १३२

कारण,-सत्य, शूरता, दया, त्याग राजाके ये महागुण हैं, जिस राजामें ये न हों वह अत्यन्त निन्द्यताको पाता है ॥ १३२ ॥

ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावदेव पुरस्कर्तव्याः ।
तथा चोक्तम्-

राजा मंत्रिलोगोंको अवश्यही पुरस्कार देवे, कहाभी है कि,—

यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी व्ययी ।
स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्राणेषु च धनेषु च॥१३३॥

जो राजा मन्त्रीसे बढै, वह राजा उस मंत्रीको बढावै, धन दे और जीवविषय व धनविषयमें अत्यन्त विश्वासी पात्र नियत करै॥ १३३ ॥

यतः-धूर्तः स्त्री वा शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनक्षिप्तः कार्याब्धौ स निमज्जति ॥१३४॥

कारण,-धूर्त, स्त्री और बालक ये सब जिस राजाके मंत्री हैं वह राजा अन्यायरूपी पवनसे फेंकाजाकर अकार्यरूप समुद्रमें डूबजाता है (२) ॥ १३४ ॥

---

(१) 'आत्मम्भरि' जो केवल अपनाही भरनाभरे, अपनाही मतलब निकालनेको तैयार रहै। 'कृतघ्न' जो पुरुष उपकारको नहीं माने, या याद न करै और उपकार करनेवालोंका बुरा चाहै।

(२) 'अन्यायरूपी पवन' अविवेचनारूपी आंधी, बिजली अर्थात् न्यायके मार्गसे निकालकर 'अकार्यरूपसमुद्रमें' अर्थात् अकार्यरूप समुद्रमें-

शृणु देव! हर्षक्रोधौ समौ यस्य कोशः स्वल्पव्ययेन च।
नित्यं भृत्यानुपेक्षा च तस्य स्याद्धनदा धरा १३५॥

सुनिये महाराज!–हर्ष और क्रोध जिसके बराबर हैं, जिसके खजानेमें थोडाभी अपव्यय नहीं है और जो नित्य सेवकोंकी देखभाल करता है पृथ्वी उसको धनदा होती है (१)॥ १३५॥

येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयापचयौ ध्रुवम्।
अमात्या इति तान्राजा नावमन्येत्कदाचन॥१३६॥

राजाके सहित जिसकी बढती घटती हो, उन मन्त्रियोंका नीतिमान् राजा कभी अनादर न करे (२)॥ १३६॥

यतः–महीभुजो मदान्धस्य मज्जतोऽकार्यसागरे।
स्खलतो हि करालम्बः सुहृत्साचिवचेष्टितम्॥१३७॥'

कारण;–जब राजा घोर मदसे अन्धा होकर अकार्यके समुद्रमें डूबता है, तब उस खसकते हुएको करका अवलंबन देनेवाला श्रेष्ठ मन्त्रीही है॥ १३७॥'

अथागत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते–'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु। इदानीं विपक्षो युद्धार्थी दुर्गद्वारि वर्तते। तद्देवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि। तेन देवपादानामानृण्यमुपगच्छामि'।

डुबाता है। जैसे अपार समुद्रमें आंधी आनेसे निस्तार नहीं; वैसेही जब राजा कुमंत्रीकी मन्त्रणामें पडजाता है, तब हिताहित ज्ञानशून्य हो पापमें पडनेसे उसका निस्तार नहीं होता।

(१) जो राजा हर्ष और शोकसे अधीर नहीं होता अर्थात् जो अत्यन्त धीर है।

(२) जो मंत्रिगण प्रभुकी सम्पत्तिमेंही अपनी सम्पत्ति और प्रभुकी विपद्मेंही अपनी विपद् समझते हैं, राजाको ऐसे प्रभुभक्त विश्वासी मंत्रियोंका अपमान कभी नहीं करना चाहिये।

चक्रवाको ब्रूते-' मैवम् । यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं तदा दुर्गाश्रयणमेव निष्प्रयोजनम् ।

इसके उपरान्त मेघवर्णने आय प्रणाम करके राजासे कहा;-' महाराज ! कृपादृष्टि दान कीजिये । युद्धका अभिलाषी शत्रु आयकर गढके द्वारपर टिका हुआ है। महाराजकी आज्ञा पातेही बाहर निकलकर अपना पराक्रम दिखाऊं और महाराजके अनुग्रह ऋणसे छूटूं' । चक्रवाकने कहा,-' नहीं, ऐसा मत करना; जो गढके बाहर जाकरही लडना हो तो गढके आश्रय करनेका प्रयोजन क्या ? ।

अपरं च-विषमो हि यथा नक्रः सलिलान्निर्गतोऽवशः ।
वनाद्विनिर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत् १३८'

और देखो !-जैसे भयानक नाका जलसे निकलकर बेवश होजाताहै, वनसे निकलाहुआ सिंहभी सत्य सत्य गीदडकी समान है ॥ १३८ ॥'

काको ब्रूते-'देव ! स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम् । यतः-

काकने कहा,-महाराज ! स्वयं जायकर युद्ध देखिये । कारण;-

पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।
स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं न सिंहायते ध्रुवम् १३९'

राजा देखता हुआ सेनाको आगे करके युद्ध करावै, स्वामीका लहकाया हुआ कुत्ताभी क्या सिंहकी समान आचरण नहीं करता ? ॥ १३९ ॥ '

अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाहवं कृतवन्तः । अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच-'तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाहय' । गृध्रो ब्रूते-'देव ! शृणु तावत्-

इसके उपरान्त उन सबने दुर्गके द्वारपर आयकर घोर युद्ध आरंभ किया । दूसरे दिन राजा चित्रवर्णने गिद्धसे कहा;-' पितः ! इस समय अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये'। गिद्धने कहा,-' महाराज ! तो सुनिये,-

अकालसहमत्यल्पं मूर्खव्यसनिनायकम् ।
अगुप्तं भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १४० ॥

बहुत कालतक स्थाई, अनेक सैन्य, पंडित, व्यसनरहितका आश्रय और विख्यात व शूर वीर ये सब दुर्गके गुण हैं । अल्पकालस्थायी और थोडीसी सेना, मूर्ख व्यसनीका आश्रय और गुप्त डरपोक योधा ये सब दुर्गके व्यसन हैं ॥ १४० ॥

तत्तावदत्र नास्ति ।

इस शत्रुके गढमें वह एकभी दोष नहीं है, किन्तु,-

उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे ॥ १४१ ॥

(१) भेद, बहुतकालतकका घेरा, आक्रमण और तीव्र पौरुष ये गढ जीतनेके चार उपाय कहे हैं ॥ १४१ ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः'। चित्रवर्णः कथयाति- 'एवमेव'। ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु वृत्ते युद्धे दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा काकै- रग्निर्निक्षिप्तः। ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वाऽनेकगृहेषु च पावकं प्रदीप्तं प्रत्यक्षेणावलोक्य राजहंससैनिका बहवो दुर्ग- वासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः। यतः-

इस समय इस विषयमें यथासाध्य चेष्टा करनी चाहिये' । चित्रवर्णने कहा,- 'हां यही कर्तव्य है'। इसके पीछे सूर्य निकलनेके पहलेही जब गढके चारों द्वारों- पर युद्ध आरम्भ हुआ, उस समय उस मेघवर्ण नामक काकने और उसके अनु- चरोंने गढके मध्य घर २ में आग लगादी । इसके उपरान्त ऐसा कोलाहल उठा

कि,-' शत्रुओंने गढ लेलिया '। उस कोलाहलको सुनकर और चारों ओर घरोंको प्रज्वलित देखकर राजहंसकी दुर्गकी रहनेवाली लगभग सब सेना शीघ्रतासे भागकर तलाबमें घुसगई। कारण;-

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत्॥१४२॥

अवसर आनेपर जो मंत्रणा कीगई हो उसको यथाशक्ति करै, या युद्ध करै, या भागजाय, परन्तु विचार न करै॥ १४२॥

राजहंसः स्वभावान्मन्दगतिः सारसद्वितीयश्च चित्रवर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेनागत्य वेष्टितः। हिरण्यगर्भः सारसमाह-'सारस! सेनापते! ममानुरोधादात्मानं कथं व्यापादयिष्यसि। त्वमधुना गन्तुं शक्तः। तत्कृत्वा जलं प्रविश्यात्मानं परिरक्ष। अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञसंमत्या राजानं करिष्यसि'। सारसो ब्रूते-'देव! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः। यावच्चन्द्राकौं दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देवः। अहं देव! दुर्गाधिकारी। मन्मांसासृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना प्रविशतु शत्रुः। अपरं च देव!

राजा राजहंस स्वभावसे ही मन्दगति था, इसलिये शीघ्र गमन करनेमें असमर्थ होकर वह सेनापति सारसके साथ मन्द २ चलता था कि, इतनेहीमें शत्रुके सेनापति कुक्कुटने आयकर उसे घेरालिया। तब हिरण्यगर्भ सारससे बोला;-' सेनापते! तुम हमारे लिये क्यों अपने प्राणोंका नाश करतेहो। हम भागनेको असमर्थ हैं, तुम अबभी भागकर अपनी रक्षा करसकतेहो, इसलिये शीघ्र जाय जलमें प्रवेश करो। तुम सर्वज्ञ मन्त्रीकी सम्मतिसे हमारे पुत्र चूडामणिको राज्यपदपर अभिषिक्त करना '। सारस बोला;-' महाराज! ऐसा मर्मभेदी असंगतका।

वचन न कहिये, जबतक चन्द्रमा सूर्य रहैं, तबतक महाराजकी जय हो। महाराज! गढरक्षाका भार जब कि मेरे हाथमें है, तब शत्रुलोग हमारे मांसरुधिरसे सनेहुए द्वारसे दुर्गमें प्रवेश करैं। और भी देखो महाराज!–

दाता क्षमी गुणग्राही स्वामी भाग्येन लभ्यते।'

दाता, क्षमावान्, गुणग्राही स्वामी भाग्यसेही मिलता है।'

राजाऽऽह–'सत्यमेवैतत्। किंतु–

राजाने कहा,–' सत्य है! परन्तु,—

शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः॥१४३॥'

पवित्र, कर्मनिपुण, अनुरागी भृत्यभी दुर्लभ है॥ १४३॥'

सारसो ब्रूते–' शृणु देव–

सारसने कहा;–सुनिये महाराज,–

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
र्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः
किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत॥ १४४॥

हे महाराज! जो संग्राम त्याग करनेसे मृत्युका भय न हो तो और कहीं जाना योग्य है और जो प्राणीका मरना अवश्यही है तो क्यों वृथा यशको मलीन किया जाय?॥ १४४॥

अन्यच्च–भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः॥ १४५॥

औरभी,–पवनके गमनसे जो तरंगें उठती हैं, उनकें गमनकी समान अल्पकाल तक स्थित रहनेवाला जो यह संसार है, इसमें परायेके लिये प्राणत्याग करना पुण्ययोगसे होता है॥ १४५॥

देव! त्वं च स्वामी सर्वथा रक्षणीयः। यतः–

हे महाराज! आप स्वामी हैं, आपकी रक्षा सब प्रकारसे करनी होगी। कारण,–

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत् ।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥१४६

स्वामी, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, खजाना, सेना, सुहृत् और पौरश्रेणी ये आठ परस्पर उपकार करनेके हेतु राज्यके अंग होते हैं (१) ॥ १४६ ॥

अपि च-प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धापि न जीवति।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः किं करोति गतायुषि॥ १४७॥

औरभी;-प्रजालोग बढजानेपरभी स्वामीको छोडकर नहीं बचसकते उमरही बीतगई हो तो धन्वन्तारिभी वैद्य क्या करै ? (२) ॥ १४७ ॥

अपरं च-नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति निमीलति ।
उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम् ॥ १४८ ॥'

---

(१) मूलमें है स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, बल और पौरश्रेणी;- ये आठ राज्यके अंगस्वरूप प्रकृति हैं । ' स्वामी '-राजा । ' अमात्य ' मंत्री । 'सुहृत्'-मित्र । 'कोष'-धनागार । ' राष्ट्र '-जनपदवती भूमि अर्थात् जिन स्थानोंमें लोगोंकी वसती हो । ' दुर्ग '-गढ, किला । पर्वत या समुद्रप्रभृतिको असली और मनुष्यके बनाये गढको कृत्रिमदुर्ग कहते हैं । 'बल'-सेना । 'पौरश्रेणी'-पुरवासीजन अथवा अपने देशके मुख्य २ लोग या विविध शिल्प व्यवसाई लोग इन आठोंके परस्पर सहायता करनेसेही एक राज्य रक्षित होजाता है । इसीलिये इन आठोंको राज्यांग या प्रकृति कहते हैं । ' राज्यांग ' अर्थात् राज्यके प्रधान साधन राज्यरक्षाके उपाय । ' प्रकृति ' जो प्रकृष्टरूपसे राजाको प्रतिष्ठित करैं । किसी शास्त्रकारने राज्यांग सातही कहे हैं; उनके मतसे ' पौरश्रेणी ' अगल नहीं गिनी जाती । कारण कि राष्ट्रके कहनेसेही समस्त पुरवासी जनपदवासी और उनके वासस्थान समझेजाते हैं ।

(२) पहले कहे आठ अंगोंसे सम्पन्न राज्यका राजाही मूल है अर्थात् सर्वप्रधान अंग है । और सब अंगोंसे सुसम्पन्न होनेपरभी जैसे देह प्राणोंके विना नहीं बचसकती, वैसेही सर्वांगसम्पन्न राज्य राजाके विना नहीं बच सकता॥

औरभी,–सूर्यके अप्रकाशित रहनेसे जैसे कमलफूलभी अप्रकाशित रहते हैं, वैसेही राजाके अप्रकाशित रहनेसे ये समस्त प्राणीभी अप्रकाशित रहते हैं अर्थात् सूर्यके प्रकाशित होनेपर जिस प्रकार कमल खिलजाते हैं, वैसेही राजाके प्रकाशित होनेपर सब प्रणियोंका प्रकाश होजाता है ॥ १४८ ॥'

अथ कुक्कुटेनागत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाघातः कृतः । तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहान्तरितो राजा । अथ कुक्कुटनखप्रहारजर्जरीकृतेन सारसेन स्वाङ्गेनाच्छाद्य राजा जले प्रक्षिप्तः । कुक्कुटोऽपि सेनापतिना सारसेन स्वचञ्चुप्रहारेण व्यापादितः । पश्चात् सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः संभूय व्यापादितः। अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य दुर्गावस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा वन्दिभिर्जयशब्दैरानन्दितः स्वस्कन्धावारं जगाम ॥

इसके उपरान्त शत्रुके सेनापति कुक्कुटने आयकर राजहंसके शरीरमें तीक्ष्ण नखोंका प्रहार किया, सारसने वैसेही शीघ्रतासे जाय अपने शरीरसे राजाको ढकलिया। उसके पीछे सारस कुक्कुटके नख व चोंचके प्रहारसे जर्जरित होकर भी अपनी देहसे ढक राजाको जलमें फेंकता भया । इसके पीछे सेनापति सारसने चोंचके प्रहारसे शत्रुके सेनापति कुक्कुटका प्राणसंहार किया । तिससे बहुत सारी शत्रुकी सेनाके एकही समय आयकर आक्रमण करनेसे सारसभी मारागया । फिर राजा चित्रवर्ण दुर्गमें बैठ दुर्गमें रक्खे हुए समस्त द्रव्योंपर अपना अधिकार कर बन्दिगणोंके जयशब्दके साथ परमानन्दसे अपने स्थानको चलागया ।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्–' तस्मिन्राजहंसबले स पुण्यवान् सारस एव । येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः । उक्तं चैतत्–

राजपुत्रोंने कहा;-' राजहंसकी उस सेनाके बीचमें सारसही यथार्थ पुण्यवान् था । उसने अपनी देह देकर स्वामीके प्राणोंकी रक्षा की । ऐसा कहा है कि,—

जनयन्ति सुतान् गावः सर्वा एव गवाकृतीन् ।
विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम् १४९॥'

गायें (१) गवाकृति अपने समस्त पुत्रोंको जन्माती हैं; परन्तु शृङ्गोंसे शोभित यूथपति महावृषभको कदाचित् कोई विरली ही उत्पन्न करती है ॥ १४९ ॥'

विष्णुशर्मोवाच-' स तावत् सत्त्वक्रीतानक्षयाँ-ल्लोकान् विद्याधरीपरिजनोऽनुभवतु महासत्त्वः । तथा चोक्तम्-

विष्णुशर्माने कहा;-' वह महात्मा सारस अपने पुण्यबलसे विद्याधरियोंसे परिवृत हो स्वर्गका अक्षय सुखभोग करे । कहाभी है कि,-

आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः ।
भर्तृभक्ताः कृतज्ञाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१५०॥

प्रभुभक्त, कृतज्ञ, जो समस्त वीरवर संग्राममें स्वामीके लिये प्राणत्याग करते हैं, वे सब लोग स्वर्गमें जाते हैं ॥ १५० ॥

यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान् यदि क्लैब्यं न गच्छति १५१॥

शत्रुकरके वेष्टित हो शूर पुरुष जहां तहां मरकर अक्षय स्वर्ग पाता है जो कातर नहीं होता है तो ॥ १५१ ॥

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः ?' । राजपुत्रैरुक्तम्-' श्रुत्वा सुखिनो वयम्' । विष्णुशर्माऽब्रवीत्-अपरमप्येवमस्तु ।

---

(१) ' गवाकृति ' गायकी समान आकारवाला । असंख्य गायकी सन्तानोंमें महाबली यूथपति वृष जैसे थोडेही दृष्टि आते हैं, अगणित मनुष्य सन्तानमें भी वैसे महापुरुष थोडेही दिखाई देते हैं; कि जो अपने स्वामीकी रक्षा करनेमें अपने प्राणतक दे दें ।

तुमने विग्रहको सुना तो सही ? '। राजकुमारोंने कहा,–' हम सुनकर परम सुखी हुए ' । विष्णुशर्माने कहा;–' औरभी हम यह आशीर्वाद करते हैं कि,—

विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभि-
र्नो कदापि भवतां महीभुजाम् ।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः ॥ १५२ ॥ '

इति श्रीविष्णुशर्मकृते हितोपदेशे विग्रहो नाम
तृतीयः कथासंग्रहः समाप्तः ।

आप लोगोंको हाथी, घोडा और पैदलोंसे संग्राम कभी न करना पडै. नीतिकी मन्त्रणारूप वायुसे उडाये गये शत्रु पर्वतोंकी गुफामें आश्रय ले (१) ॥ १५२ ॥ '

इति हितोपदेशमें विग्रहनामक तीसरी कथाका संग्रह समाप्त हुआ ।

(१) जिस प्रकार कोई पदार्थ प्रबल पवनके वेगसे ताडित हो दूर जाय पडता है, वैसेही तुम्हारे शत्रुभी तुम्हारी राजनीति और मन्त्रणाकौशलसे फेंके जाकर अति दूर गिरिगुहामें जाय गिरें अर्थात् तुमलोग सुनीति और सुमन्त्रणाके बलसेही समस्त शत्रुओंको हराय दो, तुमको उन्हें हरानेके लिये कभी दारुण विग्रह न करना पडै ।



सन्धिः ।

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः। सन्धिरधुनाऽभिधीयताम्'! विष्णुशर्मणोक्तम्—' श्रूयताम्। सन्धिमपि कथयामि। यस्यायमाद्यः श्लोकः—

फिर कथा आरंभ करनेके समय राजकुमारोंने कहा,—' हे आर्य ! हमने विग्रह सुना। अब सन्धि कहिये '। विष्णुशर्माने कहा—' सुनो । सन्धिभी कहता हूं जिसका यह प्रथम श्लोक है,—

वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।
स्थेयोभ्यां गृध्रचक्राभ्यां वाचा सन्धिः कृतः क्षणात् १'

अतिशय युद्ध होनेपर जब दोनों राजाओंकी अनेक सेना मारीगई, तब गिद्ध और चक्रवाकने मध्यस्थ (पंच) होकर अल्पकालमें ही वाक्यद्वारा सन्धि स्थापन करदी ॥ १ ॥'

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत्?'। विष्णुशर्मा कथयति—
राजकुमारोंने कहा,—'यह कैसे ? '। विष्णुशर्माने कहा;—

ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्—' केनास्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः, किं पारक्येण, किं वाऽस्मद्दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन?'। चक्रवाको ब्रूते—'देव ! भवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते । तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् '। राजा क्षणं विचिन्त्याह—' अस्ति तावदेव मम दुर्दैवमेतत् । तथा चोक्तम्—

इसके उपरान्त उस राजा राजहंसने कहा,–' हमारे गढमें आग किसने लगाई, शत्रुके नियुक्त कियेते आयकर यह कार्य किया, या हमारेही गढमें रहनेवाले किसीने शत्रुसे मिलकर यह कार्य किया ? '। चक्रवाकने कहा,–' महाराज ! आपका निष्कारण बन्धु मेघवर्णनामक वह काक परिवारसहित यहांसे चला गयाहै । इसलिये हमारी समझमें आता है कि, यह कार्य उसहीका है '। राजाने क्षणभर विचारकर कहा;–' हां यही सम्भव है । हमारे कुभाग्यसेही ऐसा हुआ है । कहाभी है कि,–

अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।
कार्यं सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति ॥ २ ॥'

वह दोष राजाका है, मंत्रीका यह दोष नहीं, क्योंकि यत्नसे कियाहुआ भी कार्य भाग्ययोगसे नष्ट होजाता है ॥ २ ॥'

मन्त्री ब्रूते–'उक्तमेवैतत्–

मन्त्रीने कहा,–' यहभी कहा है कि,–

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

दुरवस्थाको पाकर मनुष्य भाग्यकी निन्दा करता है, मूर्ख अपने कर्म दोषको नहीं जानता ॥ ३ ॥

अपरं च–सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्‍ भ्रष्टो विनश्यति ॥४॥'

औरभी–जो मनुष्य हिताभिलाषी मित्रोंका वचन नहीं सुनता, वह काठसे गिरे हुए बुद्धिरहित कछुएके समान नष्ट होजाता है ॥ ४ ॥ '

राजाऽऽह–'कथमेतत् ? ' । मन्त्री कथयति–

राजाने पूछा,–' वह कैसे हुआ ? '। मंत्रीने कहा,–

कथा १.

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः । तत्र

चिरं संकटविकटनामानौ हंसौ निवसतः । तयो-र्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मश्च प्रतिवसति । अथै-कदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तम्-' यदत्रास्माभि-रद्योषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः' ।

मगधदेशमें फुल्लोत्पलनामक एक सरोवर है । वहां बहुत दिनोंसे संकट और विकट नाम दो हंस वास करतेथे । कम्बुग्रीवनाम एक उनका मित्र कछुआभी वहां वास करताथा । एक दिन धीवर (१) लोगोंने उस स्थानमें आयकर मंत्रणा की,-' आओ अब हम इस स्थानमें वास करैं, कल भोर भये इस सरोवरमें मछली कछुए इत्यादि मारेंगे ' ।

तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह-'सुहृदौ ! श्रुतोऽयं धीव-रालापः? । अधुना किं मया कर्तव्यम् ?'। हंसावा-हतुः-'ज्ञायताम् । पुनस्तावत् प्रातर्यदुचितं तत् कर्तव्यम्' । कूर्मो ब्रूते-' मैवम् । यतो दृष्टव्यति-करोऽहमत्र । तथा चोक्तम्-

उन लोगोंका यह परामर्श सुनकर कछुआ अपने मित्र उन दोनों हंसोंसे बोला,-' मित्र ! धीवर लोगोंकी मंत्रणा सुनी ? इस समय मैं क्या करूं ? ' । दोनों हंस बोले,-' पहले भली प्रकार जाना जाय, फिर जो कर्त्तव्य हो वह सवेरे किया जायगा ' । कछुएने कहा,-' नहीं अब विलम्ब किये नहीं बनैगी । क्योंकि मैंने इस स्थानमें ऐसी दुर्घटना होते देखी है । देखो !-

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ५ ॥'

(१) ' धीवर ' मछली पकडकर बेचनेका रोजगार करते हैं ।

अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमतिं ये दो जन सुखी रहते हैं और यद्भविष्य नष्ट होताहै (१)॥ ५॥'

तावाहतुः–' कथमेतत् ?' । कूर्मः कथयति–

इन्होंने पूछा,–'यह किस प्रकार हुआ ?' । कछुएने कहा–

कथा २.

पुराऽस्मिन्नेव सरस्येवंविधेषु धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणालोचित्तम् । तत्रानागतविधाता नामैको मत्स्यः । तेनालोचितम्–' अहं तावज्जलाशयान्तरं गच्छामि' इत्युक्त्वा ह्रदान्तरं गतः। अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितम्– 'भविष्यदर्थे प्रमाणाभावात् कुत्र मया गन्तव्यम् । तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम् । तथा चोक्तम्–

पहले इस सरोवरपर जब इसी प्रकार धीवर आये तब तीन मत्स्य परस्पर मंत्रणा करनेलगे । तिनमेंसे अनागतविधाता नामक मत्स्यने कहा,–' मैं और जलाशयको चला जाऊंगा' यह कहकर वह और जलाशयको चला गया । प्रत्युत्पन्नमति नामक मत्स्यने कहा,–' इसका क्या निश्चय है कि, कलको क्या होगा ? मैं इस स्थानको छोडकर और कहां जाऊं ? जब विपद् आवेगी तब उसका उपाय कियाजायगा । कहाभी है कि,–

---

(१) ' अनागतविधाता ' जो आगेसेही उपाय होनहारके लिये कर रक्खे, भविष्यकारी । ' प्रत्युत्पन्नमति ' जिसकी बुद्धिका प्रभाव ऐसा हो कि, विपद् आतेही वह उसके निवारण करनेका उपाय कर ले । 'यद्भविष्य' आगेको क्या होगा, जो इस बातको न विचारै; भाग्यहीके ऊपर भरोसा करके बैठरहै, अपरिणामदर्शी ॥

उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान् ।
वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा ॥ ६ ॥'

' जो आईहुई विपद्को निवारण करै, वही बुद्धिमान् है; इसमें दृष्टान्त यह है कि, बनियेकी स्त्रीने अपने यारको पतिके सामने छिपाया ॥ ६ ॥ '

यद्भविष्यः पृच्छति-' कथमेतत् ? ' । प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति-

यद्भविष्यने पूछा,-' वह किस प्रकार ?' । प्रत्युत्पन्नमतिने कहा,-

कथा ३.

विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति । तस्य रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते ।

विक्रमपुरमें समुद्रदत्त नामक एक बनिया रहता था । रत्नप्रभानामक उसकी स्त्री अपने एक सेवकके साथ सदा विहार करती थी । कारण,-

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥ ७ ॥

स्त्रियोंको न कोई प्यारा है, न कुप्यारा है, गायें जिस प्रकार वनमें सदा नई २ घास चाहती हैं वैसेही स्त्रियें क्षण २ भरमें नये २ पुरुषका अभिलाष करतीहैं ॥ ७ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता । ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं गत्वाऽऽह-' नाथ ! एतस्य सेवकस्य महती निर्वृतिः । यतोऽयं चोरिकां कृत्वा कर्पूरं खादतीति मयाऽस्य मुखमाघ्राय ज्ञातम् । ' तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त वह रत्नप्रभा एक दिन इस दासको मुखचुम्बन दे रही थी कि उसके स्वामीने देख । वह कुलटा तुरंत स्वामीके सामने जाकर बोली,-

'नाथ! इस सेवकको बडी कुमति है, यह चोरीकरके कपूर खाताहै, मैंने इसका मुख सूंघकर स्पष्टही इसके मुखमें कपूरकी गन्धि पाई'। कहाभी है कि,-

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥ ८॥'

'स्त्रियोंमें आहार दुगुना, बुद्धि चौगुनी, व्यवसाय छःगुना और काम आठ गुना है ॥ ८॥'

तच्छ्रुत्वा सेवकेन प्रकुप्योक्तम्-'नाथ! यस्य स्वामिनो गृह एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यम्? यत्र प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति'। ततोऽसावुत्थाय चलितः, साधुना यत्नात्प्रबोध्य धृतः। अतोऽहं ब्रवीमि-'उत्पन्नामापदम्' इत्यादि। ततो यद्भविष्येणोक्तम्-

यह सुनकर उस सेवकनेभी बनावटी क्रोध प्रकाश करके कहा,-'जिस घरमें ऐसी मालकिन है कि-क्षणक्षणमें सेवकका मुख सूंघती फिरती है; उस घरमें नौकर किस प्रकारसे टिकेगा?'। वह यह कह क्रोधमें भरकर चलागया। इसके पीछे बनियाँ अनेक खुशामद करके व मीठे वचनोंसे समझाय बुझाय उसको पकडकर लाया, इसीलिये मैं कहता था कि-'जो आई हुई विपद्का निवारण करै' इत्यादि। यह सुनकर यद्भविष्यने कहा-

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते? ॥ ९॥'

'जो बात होनहार नहीं है, वह नहीं होगी। और जो बात होनहार है, वह कभी नहीं टल सकती, यह चिन्तारूपी विषको नाश करनेवाली औषधी क्यों नहीं पीजाती? (१) ॥ ९॥'

(१) मनुष्यके भाग्यमें जो कुछ है, वह अवश्यही होगा; किसी प्रकारसेभी उसका निवारण नहीं हो सकता। मनुष्योंके मनमें ऐसा दृढ विश्वास रह-

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं संदर्श्य स्थितः । ततो जालादपसारितो यथाशक्त्युत्प्लुत्य गभीरं नीरं प्रविष्टः । यद्भविष्यश्च धीवरैः प्राप्तो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि-'अनागतविधाता' इत्यादि ॥

इसके दूसरे दिन सवेरेको प्रत्युत्पन्नमति धीवरके जालमें फँसकर अपनेको मृतकसा दिखलायकर ठहरा । फिर धीवरोंके उस (प्रत्युत्पन्नमति) को जालसे छोडते ही वह कूदकर गम्भीर जलमें घुसगया । यद्भविष्य धीवरके हाथमें पडकर प्राण त्याग करता भया । इसीलिये मैं " अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति " इत्यादि कहताहूं ।

तद्यथाऽहमन्यह्रदं प्राप्नोमि तथा क्रियताम्' । हंसावाहतुः-'जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलम् । स्थले गच्छतस्ते को विधिः?' । कूर्म आह-'यथाऽहंभवद्भ्यां सहाकाशवर्त्मना यामि स उपायो विधीयताम्' ।

अब जिससे मैं दूसरे सरोवरमें जायसकूं, तुमलोग इस समय वही करो । दोनों हंसोंने कहा,-'हां ! तुम्हारे और जलाशयमें पहुँचनेसे तुम्हारा मंगल है तो सही; पर तुम किस प्रकार स्थलमार्गसे जाओगे ?'। कछुएने कहा,-'मैं तुम्हारे दोनोंके साथ जिससे आकाशमार्गमें होकर जायसकूं, वैसा कोई उपाय स्थिर करो' ।

हंसौ ब्रूतः-'कथमुपायः संभवति ?' । कच्छपो वदति-'युवाभ्यां चञ्चूद्धृतं काष्ठखण्डमेकं मया

—जैसे उनकी समस्त चिंतायें दूर होजाती हैं, जैसे दिव्य औषधिका गुण विशेष ज्वालाको दूर करदेता है वैसेही ऐसे विश्वासके गुणसे सब चिन्ता दूर होती हैं ।

सुखेनावलम्ब्य गन्तव्यम् । युवयोः पक्षबलेन मयाऽपि सुखेन गन्तव्यम् '। हंसौ ब्रूतः—'संभवत्येष उपायः। किन्तु—

दोनों हंसोंने कहा;—' वह कैसे होगा ?'। कछुएने कहा;—' एक काठके टुकडेको दो तरफसे तो तुम दोजने चोंचसे पकडलेना और मैं उसके बीचको मुखसे पकडे रहूंगा, तिसके पीछे जैसेही तुम पंखोंके बलसे उडोगे उसके साथमें मैंभी सुखसहित जायसकूंगा '। दोनों हंसोंने कहा,—' हां यह उपाय सम्भव तो है, किन्तु,—

उपायं चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः ॥१०॥'

बुद्धिमान् पुरुषको उपायकी चिन्ता करते हुए (१) अपायकोभी चिन्ता करनी चाहिये, क्योंकि मूख बगलेके देखते हुए उसके बच्चोंको न्योलेने खाया ॥ १० ॥'

कूर्मः पृच्छति—' कथमेतत् ?'। तौ कथयतः—

कछुएने पूछा,—' यह कैसे हुआ ? '। दोनों हंसोंने कहा,—

कथा ४.

अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटो नाम पर्वतः। तत्रैव रेवातीरे न्यग्रोधपादपे बका निवसन्ति । तस्य वृक्षस्याधस्ताद् विवरे सर्पस्तिष्ठति । स च बकानां बालापत्यानि खादति। अथ शोकार्तानां बकानां विलापं श्रुत्वा केनचिद् वृद्धबकेनाभिहितम् ।

(१) किसी विषयमें उपाय अर्थात् कार्य सिद्ध करनेकी चतुरताको हीं निश्चय करके न बैठरहै वरन् उस उपायकें कार्य करनेमें क्या क्या विघ्न विपत्तियें होंगी, उनके रोकनेकाभी पहलेसेही निश्चय प्रतीकार कर रक्खै । ' अपाय ' विनाश, ध्वंस, विघ्न, प्रतिबन्धक ।

'भोः ! एवं कुरुत-यूयं मत्स्यानुपादाय नकुलविवरादारभ्य सर्पविवरं यावदेकैकशो मत्स्यान् पंक्तिक्रमेण विकिरत। ततस्तदाहारलुब्धैर्नकुलैस्तद्वर्त्मनाऽऽगत्य सर्पो द्रष्टव्यः, स्वभावद्वेषाद्व्यापादयितव्यश्च '।

उत्तरमें गृध्रकूटनाम एक पर्वत है, वहां रेवा नदी (१) के किनारे न्यग्रोध (२) वृक्षपर बगले वास करतेथे उस वृक्षके नीचे खोडरमें एक सांप रहता था । वह सर्प बगलोंके छोटे २ बच्चोंको खाजाता । एकदिन बगलोंको शिशुसन्तानके शोकमें आर्तनाद करतेहुए सुनकर एक वृद्ध बगला उनसे बोला,-' अरे ! तुम सब हमारा परामर्श सुनो, तुम कुछ मछलियां मारकर लेआओ और सांपके बिलसे आरंभ करके न्योलोंके भट्टतकतक एक एक करके मत्स्य पंक्तिके क्रमसे लगादो । ऐसा करनेसे न्योले वे मछलियां खाते २ क्रमसे उस मार्गसे सांपके बिलपर पहुंच जाँयगे और स्वभावसेही शत्रु सर्पको देखतेंही संहार कर डालेंगे ' ।

तथाऽनुष्ठिते तद् वृत्तम् । ततस्तत्र वृक्षे नकुलैर्बकशावकारावः श्रुतः । पश्चात्तैर्वृक्षमारुह्य बकशावकाः खादिताः । अत आवां ब्रूवः-' उपायं चिन्तयन् ' इत्यादि । आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य लोकैः किंचिद्वक्तव्यमेव । तदाकर्ण्य यदि त्वमुत्तरं दास्यसि तदा त्वन्मरणम् । तत्सर्वथाऽत्रैव स्थीयताम् । कूर्मो वदति-' किमहमप्राज्ञः?। नाहमुत्तरं दास्यामि। किमपि न वक्तव्यम् '।

इसके उपरान्त जब बगलोंने ऐसाही किया तब न्योलोंने जाकर उस सर्पको वध किया । तिसके पीछे न्योलोंने जब उस वृक्षके ऊपर बगलोंके बच्चोंका कोलाहल सुना।

(१) ' रेवानदी ' नर्म्मदानदी । (२) 'न्यग्रोध' बड़का पेड़ ।

तब वृक्षपर चढकर उनके समस्त बच्चोंका भक्षण करालिया। इसी लिये हम कहतेथे कि–' बुद्धिमान् मनुष्य चिन्ता करता हुआ' इत्यादि। हम जब तुम्हें आकाश मार्गमें लेजायँगे, तब एक अद्भुत बात देखकर लोग अवश्य कुछ न कुछ बातचीत करेंगे और उसे सुनकर जो तुम उनकी बातका उत्तर दोगे, तबहीं तुम्हारा नाश है। इस कारण तुम इसी स्थानमें रहो। कछुएने कहा,–'मैं क्या इतना मूर्ख हूं? मैं किसीकी कोई बातका उत्तर न दूंगा।'

तथाऽनुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति वदन्ति च–' अहो महदाश्चर्यम्! पक्षिभ्यां कूर्मः समुह्यते'। कश्चिद्वदति–यद्ययं कूर्मः पतति तदाऽत्रैव पक्त्वा खादितव्यः'। कश्चिद्वदति–' अत्रैव सरस्समीपे दग्ध्वा खादितव्योऽयम्'। कश्चिद्वदति–' गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति। तत्पुरुषवचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह–' युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्'इति वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि–'सुहृदां हितकामानाम्'इत्यादि॥

इसके उपरान्त जब दोनों हंस उसको आकाशमें लेकर उडे तब जंगलके ग्वालिये उसका देखकर पीछे २ दौडे और कहने लगे–' वाहवा! क्या आश्चर्यकी बात है! दो पखेरू एक कछुएको लेकर कैसे उडतेहैं'। उनमेंसे कोई बोला,–'जो यह कछुआ गिरजाय तो इसको यहीं रांधकर खालें'। औरने कहा,–'इसको सरोवरके किनारे भूनकर खांय'। औरने कहा–' इसको घरपर लेजायँ और खांय'। उन सबके ये कठोर वचन सुन कछुआ क्रोधसे अधीर हो पहला परामर्श भूलगया और उन लोगोंसे बोला,–' तुमलोग खाक खइयो'। कछुएने जैसेही मुख खोलकर यह बात कही कि, वैसेही वह काठके टुकडेसे छूट पृथ्वीपर गिरपडा और ग्वालियोंने भी उसको मारकर खाया। इसी कारणसे मैं यह कहताहूं कि–' हित चाहनेवाले मित्रोंकी' इत्यादि॥

अथ प्रणिधिर्बकस्तत्रागत्योवाच-' देव ! प्रागेव मया निगदितम् । दुर्गशोधनं हि प्रतिक्षणं कर्तव्यमिति तच्च युष्माभिर्न कृतं तदनवधानस्य फलमनुभूतम् । दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः ' । राजा निश्वस्याह-

इसके उपरान्त उस गूढचर बगलेने उस स्थानमें आयकर राजासे कहा-'महाराज ! मैंने तो पहलेही कहाथा कि, अपने गढकी देखभाल प्रतिक्षण करनी उचित है, और आप लोगोंने वह नहीं की उसी असावधानताका फल इस समय भोगा जायरहा है और यह दुर्ग जलानेका कार्य गिद्धमंत्रीके भेजे हुए उस मेघवर्णनामक कागसेही हुआ है '। राजाने लंबी सांस लेकर कहा,-

' प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।
स सुप्त इव वृक्षाग्रात्पतितः प्रतिबुद्ध्यते ॥ ११ ॥'

' वृक्षपर सोताहुआ मनुष्य जैसे वृक्षपरसे गिरकर जागता है, इसी प्रकार प्रीतिप्रयुक्त वा उपकारप्रयुक्त जो जन शत्रुका विश्वास करताहै, वह विपद्ग्रस्त होकर जागताहै (१) ॥ ११ ॥ '

प्रणिधिरुवाच-' इतो दुर्गदाहं विधाय यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्- ' अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम् । तथा चोक्तम्-

(१) जो मनुष्य वृक्षकी शाखापर निश्चिन्त होकर सोवै, वह वैसेही गिरे और भलीभाँति चोट खाय अपनी निर्बुद्धिताको समझताहै; वैसेही जो पुरुष शत्रुका उपकार करके या उसके साथ मित्रता करनेके कारण उसके ऊपर विश्वास कर निश्चिन्त होजाताहै, वह उस शत्रुसे भलीभाँति अपकार पाय अपनी बुद्धिपर पछताता है ॥

इसके पीछे गूढचरने कहा,-' यह गढ जलाय जब मेघवर्ण, राजा चित्रवर्णके निकट लौटकर गया, तब राजाने सन्तुष्ट होकर कहा,-' इस मेघवर्णको इस कर्पूर द्वीपके राज्यपर आभिषिक्त करदो। शास्त्रमें कहाभी है कि,—

कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत्।
फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत् ॥ १२ ॥"

कृतकृत्य दासके कियेको फलसे, मनसे और वाक्यसे नष्ट नहीं करै और इस सेवकको देखकर हर्ष उपजावै ॥ १२ ॥"

चक्रवाको ब्रूते-'देव ! श्रुतं यत्प्रणिधिः कथयाति'। राजाह-'ततस्ततः'। प्रणिधिरवोचत-ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाभिहितम्-' देव नेदमुचितम्। प्रसादान्तरं किमपि क्रियताम्। यतः-

इसको सुनकर मंत्री चक्रवाकने कहा,-' महाराज ! गुप्तचरने जो कहा; उसको सुनो तो'। राजाने पूछा,-'तिसके पीछे क्या हुवा ?'। गुप्तचरने कहा,- चित्रवर्णकी यह बात सुन उसको गिद्धमंत्री बोला,-'महाराज ! मेघवर्णको राज्यपद देना उचित नहीं है। इसको और कोई पुरस्कार (इनाम) दीजिये। कारण—

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम्।
नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्विव सूत्रितम् ॥ १३ ॥

बिना विचारके युक्ति कहना भूसीके कूटनेकी समान है, हे राजन् ! नीचमें किया हुआ उपकार रेतेमें सूत्र करनेके समान है (१) ॥ १३ ॥

महतामास्पदे नीचः कदापि न कर्तव्यः। तथा चोक्तम्-

बडेके पदपर नीचको कभी स्थापित नहीं करै। कहाभी है कि,-

---

(१) रेतेके ऊपर लकीर काढनेसे जैसे वह छिप जाती है, वैसेही अपात्रमें किया हुआ उपकार विफल होजाता है।

नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा ॥ १४ ॥'

नीच पुरुष प्रशंसित पद पायकर स्वामीको नष्ट करनेकी आकांक्षा करता है, चूहा व्याघ्रपन पाय जिस प्रकार मुनिका नाश करने गया था ॥ १४ ॥ '

चित्रवर्णः पृच्छति-'कथमेतत् ?'। मन्त्री कथयति-

चित्रवर्णने पूछा;-' यह किस प्रकार हुआ ? ' । गिद्धने कहा,-

कथा ५.

अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः । तत्र तेनाश्रमसन्निधाने मूषिकशावकः काकमुखाद्भ्रष्टो दृष्टः । ततः स्वभावदयात्मना तेन मुनिना नीवारकणैस्संवर्द्धितः । तं च मूषिकं खादितुमनुधावन् बिडालो मुनिना दृष्टः । पश्चात् तपःप्रभावात् तेन मुनिना स मूषिको बलिष्ठो बिडालः कृतः । स बिडालः कुक्कुराद्बिभेति । ततोऽसौ कुक्कुरः कृतः । कुक्कुरस्य व्याघ्रान्महद्भयमभूत् । तदनन्तरं स व्याघ्रः कृतः । अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूषिकनिर्विशेषं पश्यति ।

(१) गौतमारण्यमें महातपा नाम एक मुनि रहतेथे । उन्होंने आश्रमके निकट देखा कि, एक चूहेका बच्चा कागके मुखसे गिरा । यह देख वह दयासे नीवारके (२) चावल भोजन कराय उस चूहेके बचेका प्रतिपालन करनेलगे । उन्होंने एक दिन देखा, कि-एक बिलाव उस मूसेको खानेके लिये उसके पीछे दौडता है ।

---

(१) ' गौतमारण्य ' गौतममुनिका आश्रम ।
(२) निवारीके धान; मुनिजन इसी धानका व्यवहार करते हैं ।

इसके उपरान्त उन्होंने योगबलसे उस चूहेको बली बिलाव किया। वह चूहा बिलाव हो कुत्तेके भयसे सदा डरने लगा । यह देख मुनिने उस बिलावको कुत्ता बनाया, मूसा कुत्ता होकर फिर व्याघ्रके भयसे अत्यन्तही भयभीत होता था, यह देखकर मुनिने उसको व्याघ्र किया। मूसा इस प्रकारसे व्याघ्र हुआ, परन्तु मुनि उसको चूहाही समझते थे।

अतः सर्वे तत्रत्या जनास्तं व्याघ्रं दृष्ट्वा वदन्ति। अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रतां नीतः। एतच्छ्रुत्वा स व्याघ्रस्सव्यथमाचिन्तयत्–'यावदनेन मुनिना जीवितव्यं तावदिदं मे स्वरूपाख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते' इत्यालोच्य मुनिं हन्तुं समुद्यतः। मुनिना तस्य चिकीर्षितं ज्ञात्वा 'पुनर्मूषिको भव' इत्युक्त्वा मूषिक एव कृतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'नीचः श्लाघ्यपदम्' इत्यादि। अपरश्च देव! सुकरमिदमिति न मन्तव्यम्। शृणु–

उस आश्रमके लोगभी उस व्याघ्रको देखकर बातचीत करते कि, मुनिने उस चूहेको ऐसा व्याघ्र बनाया है। यह सुनकर उस व्याघ्रके मनमें बडाही कष्ट हुआ। उसने विचारा–'जबतक यह मुनि जीवित रहेगा तबतक हमारे घोर कलंकका यह यथार्थ वृत्तान्त किसी प्रकारसे न ढका जायगा' यह विचारकर वह उस मुनिके वध करनेको तैयार हुआ। मुनिने यह जानकर 'तू फिर चूहा होजा' यह कह उसको फिर चूहेकेही आकारका बनाया। इसीलिये मैं कहताहूं कि,–'नीच पुरुष प्रशंसित पद पाय' इत्यादि। हे महाराज! नीचको ऊंचे पदपर प्रतिष्ठित करना सहज न समुझिये। सुनिये–

भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान्।
अतिलोभाद्बकः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात्॥ १५॥

उत्तम, मध्यम, अधम अनेक मछलियोंको खायकर बगला अति बडे लोभके करनेसे पीछे केंकडेके पकडनेसे मरा॥ १५॥

चित्रवर्णः पृच्छति-' कथमेतत् ?' । मंत्री कथयति-

चित्रवर्णने पूछा,-' यह कैसे ?' । मन्त्रीने कहा,—

कथा ६.

अस्ति मालवदेशे पद्मगर्भनामधेयं सरः । तत्रैको वृद्धो बकः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः । स च केनचित्कुलीरेण दृष्टः दूरादेव पृष्टश्च-' किमिति भवानत्राहारत्यागेन तिष्ठति ?' । बकेनोक्तम्-' मत्स्या मम जीवनहेतवः । ते कैवर्तैरागत्य व्यापादयितव्या इति नगरोपान्ते कैवर्तालापो मया श्रुतः अतो वर्तनाभावादेवास्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाऽऽहारेऽप्यनादरः कृतः ' । ततो मत्स्यैरालोचितम्-'इह समये तावदुपकारक एवायं लक्ष्यते । तदयमेव यथाकर्तव्यं पृच्छ्यताम् । तथा चोक्तम्-

मालव देशमें पद्मगर्भनाम एक सरोवर है । वहां एक वृद्ध सामर्थ्यहीन बगलेके अत्यन्त उत्कण्ठितभावसे रहतेहुए देखकर एक कुलीरक (कैंकडे) ने उससे दूरसेही पूछा,-' आप आहार छोडकर इस स्थानमें ऐसे विषादित क्यों होरहे हैं ?' । बगलेने कहा,-' मछलीही हमारी प्राणरक्षाका उपाय है, परन्तु केवटलोग इस सरोवरमें उन सबका वध करेंगे नगरके निकट केवटलोगोंको यह परामर्श करतेहुए मैंने अपने कानसे सुना । इससे इस स्थानमें जीविकाका अभाव है, हमको शीघ्रही मरना होगा यह विचार मनके दुःखके मारे अब आहार करनेकी इच्छा नहीं है ' । यह सुनकर मछलियोंने विचारा कि,-'इस समय तो यह हमारा हितकारी जानपडता है । इस कारण इससेही पूँछें, हमको इस समय कर्त्तव्य क्या है ? कहाभी है कि,—

उपकर्त्राऽरिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ १६ ॥'

उपकार करनेवाले शत्रुके साथ मेल करना चाहिये, अपकारकारी मित्रके साथ मेल न करै. क्योंकि, उपकार और अपकारही इन दोनोंका लक्षण जानै(१)१६॥'

मत्स्या ऊचुः–' भो बक ! कोऽत्रास्माकं रक्षणोपायः?'। बको ब्रूते–'अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम् । तत्राहमेकैकशो युष्मान्नयामि'। मत्स्या भयादाहुः–'एवमस्तु' । ततोऽसौ बकस्तान्मत्स्यानेकैकशो नीत्वा कस्मिंश्चिद्देशे खादित्वा पुनरागत्य वदति–' ते मया जलाशयान्तरे प्रस्थापिताः' ।

मछलियोंने पूछा,–' हे बक ! किस प्रकारसे हमलोगोंकी प्राणरक्षा हो सकती है ? '। बगलेने कहा,–' और एक सरोवर है, उस स्थानमें जानेसे तुम्हारी प्राणरक्षा होगी । मैं तुम्हें एक एक करके उस स्थानमें रख आयसकता हूं ' । मछलियोंने भी प्राणडरके मारे उसके कहनेको स्वीकार किया । इसके उपरान्त वह दुष्ट बगला एक एक मछलीको लेजाय किसी एक स्थानमें उसको खाय फिर आय कहने लगा कि,–' मैं उसको और जलाशयमें रख आया ' ।

अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच–'भो बक! मामपि तत्र नय' । ततो बकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी सादरं

(१) इसका मूल श्लोक माघकविविरचित शिशुपालवध काव्यके दूसरे सर्गमें है, शत्रुकी ओरका होकरभी जो उपकारी हो उसके साथ सन्धि करै और मित्र हो अपकार करै तो उससे न मिले. कारण कि, उपकारी पुरुषको मित्र और अपकारीको शत्रु जाने, नहीं तो जातिसम्बन्ध या और किसी

तं नीत्वा स्थले धृतवान् । कुलीरोऽपि मत्स्य-कण्टकाकीर्णं तत्स्थलमालोक्याचिन्तयत्-'हा ! हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । भवतु । इदानीं समयोचितं व्यवहरिष्यामि । यतः-

इसके पीछे एक दिन उस कुलीरक (कैंकडे) ने बगलेसे कहा,-' हे बक ! हमकोभी उस जलाशयमें लेचलो '। बगलाभी अपूर्व कैंकडेका मांस खानेके लोभसे आदरपूर्वक उसको लेजाय एक थलभागमें उपस्थित भया । कैंकडेने भी वह स्थान मछलियोंके कांटोंसे ढका देख विचारा-' हाय ! मैं मारागया मैं अति अभागा हूं । जो इस समय यथासाध्य चेष्टा करनी चाहिये । कारण,-

तावद्भयात्तु भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ १७ ॥

भयसे तभीतक भय पावे, जबतक भय आवै नहीं । फिर भयको आया हुआ देख निर्भयकी नाईं प्रहार करे ॥ १७ ॥

अपरं च-अभियुक्तो यदा पश्येन्न किञ्चिद्धितमात्मनः ।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १८ ॥'

औरभी,-अभियुक्त पुरुष जब अपना कुछभी हित न देखै तब वह सुबुद्धिमान् शत्रुके सहित युद्ध करता हुआ मरे ॥ १८ ॥ '

इत्यालोच्य कुलीरस्तस्य ग्रीवां चिच्छेद । स बकः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि-' भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान् ' इत्यादि ।

कैंकडेने यह विचार बगलेकी गर्दन काट डाली । वह बगलाभी मृत्युको प्राप्त हुआ । इसीलिये मैं कहताहूं कि-' उत्तम, मध्यम, अधम अनेक मछलियोंको भक्षण करके ' इत्यादि ॥

ततश्चित्रवर्णोऽवदत्-' शृणु तावन्मन्त्रिन् ! मयैतदालोचितमस्ति । अत्रावस्थितेन मेघवर्णेन

राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपनेतव्यानि । तेनास्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम् ' । दूरदर्शी विहस्याह-' देव !-

इसके उपरान्त चित्रवर्णने फिर कहा,-' हमने जो कल्पना मनही मन की है, उसको भी आप श्रवण करलें, मेघवर्णको इस कर्पूरद्वीपके राज्यपदपर स्थापन करनेसे, यह इस स्थानकी जितनी श्रेष्ठवस्तु हैं सदा हमलोगोंके लिये उपहार (नजर) भेजेगा । हम विन्ध्याचलमें रहकर परम सुखसे वह समस्त विलासभोग करेंगे ' । दूरदर्शी यह सुन हँसकर बोला-'महाराज !-

अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति ।
स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा॥१९॥'

न आईहुई चिन्ताको करके जो पुरुष हर्षित होता है; वह असम्मानको पाताहै, जसे पात्रके फूटनेसे ब्राह्मण (१) ॥ १९ ॥ '

राजाऽऽह-' कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति-

राजाने पूछा-' यह कैसे ? ' । दूरदर्शीने कहा—

कथा ७.

अस्ति देवीकोटनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः । तेन महाविषुवसंक्रान्त्यां सक्तुपूर्णः शराव एकः प्राप्तः । तमादायासौ कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणोष्णेनाकुलितः सुप्तः।

---

(१) जो पुरुष मनमें ऊंची आशा कल्पनाको स्थान दे उन्मत्त होताहै, उसको महादुःख भोगना पडताहै, एक ब्राह्मणने इस प्रकारकी कल्पनासे मत्त हो अन्तमें अपना सत्तूका भराहुआ घडा अपने हाथसेही तोड डाला और फिर दुःख भी पाया॥

ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते दण्डमेकमादायाचिन्तयत्–' यद्यहं सक्तुशरावं विक्रीय दश कपर्दकान् प्राप्स्यामि तदाऽत्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादिकमुपक्रीयानेकधा वृद्धैस्तद्धनैः पुनः पुनः पूगवस्त्रादिकमुपक्रीय विक्रीय वाणिज्यं कृत्वा लक्षसंख्यानि धनानि कृत्वा विवाहचतुष्टयं करिष्यामि ।

देवीकोटनगरमें देवशर्मा नाम एक ब्राह्मण था, उसने महाविषुवसंक्रान्तिके (१) दिन एक सरैयाभर सत्तू पाये उसने वह सत्तू ले धूपसे अत्यन्त सन्तापित हो एक कुम्हारके बर्त्तनोंसे परिपूर्ण गृहमें जायकर शयन किया (२) उस सत्तूसे भरी सरैयाकी रक्षाके लिये हाथमें लकडी लेकर वह मनहीमन इस प्रकारसे विचारने लगा;–' कि मैं एक सरैया सत्तू बेचकर जो दश कौडियें पाऊं तो उन कौडियोंके इसी स्थानसे घडा और सरैयें मोल ले उनको बेचकर जो कौडियां पाऊंगा फिर उनको अनेक उपायसे बढाकर उस धनसे सुपारी और वस्त्रादि द्रव्य लेकर वारंवार खरीदूंगा और बेचूंगा । इस प्रकार वाणिज्यद्वारा क्रमसे जब मेरे पास लाख रुपये इकट्ठे होजायँगे, तब चार विवाह करूंगा ।

तदनन्तरं तासु सपत्नीषु रूपयौवनवती या तस्यामधिकानुरागं करिष्यामि । सपत्न्यो यदा

(१) "महाविषुव, संक्रान्ति" चैत्रसंक्रान्ति यथा–"महाविषुवमाख्यातं कृतिभिश्चैत्रचिह्नितम् " जब सूर्य मेषराशिपर जाते हैं । इस संक्रान्तिको पितृलोगोंके उद्देशसे ब्राह्मणोंको सत्तू और जलसे भरे घडे दिये जाते हैं । यथा कुलार्णवमें–" यो ददाति हि मेषादौ सक्तूनम्बुघटान्वितान् । पितृनुद्दिश्य विप्रेभ्यः सर्वपापैर्विमुच्यते " इति । अपि च,–" मेषादौ सक्तवो देया वारिपूर्णा च गर्गरी " इति ।

(२) कुम्हारके जिस घरमें हांडी, घडे, सरैयें, कलसे, कच्चे और पक्के रक्खे रहते हैं उस गृहमें ब्राह्मणमहाराज पडे थे ।

अन्योन्यं द्वन्द्वं करिष्यन्ति तदा कोपाकुलोऽहं ता लगुडेन ताडयिष्यामि ' इत्यभिधाय लगुडः क्षिप्तः, तेन सक्तुशरावश्चूर्णितो भाण्डानि च बहूनि भग्नानि । ततस्तेन शब्देनागतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य ब्राह्मणस्तिरस्कृतो मण्डपाद्बहिष्कृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि-' अनागतवतीं चिन्ताम् ' इत्यादि ॥ ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच-' तात ! यथा कर्तव्यं तथोपदिश '। गृध्रो ब्रूते-

उन चार स्त्रियोंमें जो सबसे अधिक रूपवती और युवा होगी हम उसको ही अधिक प्यार करेंगे; इससे उसकी सौतें जब डाह करके आपसमें क्लेश आरंभ करेंगी तब मैं क्रोधसे अधीर हो उनके लकडी मारूंगा '। ब्राह्मणने यह विचारते २ सत्यही क्रोधसे अधीर हो हाथमेंकी वह लकडी जैसेही चलाई कि वैसेही उसकी वह सत्तूकी सरैयां चूर्ण होगई और कुम्हारकेभी अनेक बर्त्तन टूटे । उन सब बर्तन और सरैयां इत्यादि चूरमार शब्दसे कुम्हारने उस स्थानमें आय गाली देते २ गलेदुआं देकर ब्राह्मणको बाहर निकालदिया । इसी कारण मैं कहता था कि-' न आईहुई चिन्ता करके ' इत्यादिके इसके उपरान्त राजा चित्रवर्णने गिद्धमंत्रीसे एकान्तमें पूछा,-' पिता ! तो क्या करना उचित है, वह मुझे उपदेश कीजिये '। गिद्धने कहा,—

' मदोद्धतस्य नृपतेः संकीर्णस्येव दन्तिनः ।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ २० ॥

'कुमार्गमें जानेवाले, मतवाले, संकीर्ण हाथीका चलानेवाला निन्दाको प्राप्त होता है, ऐसेही खोटे मार्गमें जानेवाले मदान्ध राजाके मंत्री निन्दाको पाते हैं ॥ २० ॥

शृणु देव ! किमस्माभिर्बलदर्पाद्दुर्गं भग्नम् ? न । किंतु तव प्रतापाधिष्ठितेनोपायेन '। राजाऽऽह-भवतामुपायेन '। गृध्रो ब्रूते- यद्यस्मद्वचनं

क्रियते तदा स्वदेशो गम्यताम् । अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते तुल्यबलेन सह पुनर्विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति । सुखशोभार्थं संधाय गम्यताम् । दुर्गं भग्नं कीर्तिश्च लब्धैव । मम संमतं तावदेतत् । यतः-

सुनिये महाराज ! आपने जो यह शत्रुका गढ तोडा है, सो क्या बाहुबलसे या मन्त्रणाकी कौशलसे ?' । राजाने कहा,-' आपकी मन्त्रणाकौशलसे' । तब गिद्धने कहा,-' जो हमारी मन्त्रणा सुनो, तो अपने देशको फिर चलो । नहीं तो जब घोर वर्षाकाल आवेगा तब इस बराबरवाले राजाके साथ संग्राम होनेपर, इस विदेशसे अपने देशको लौटकर जानाही हमारे लिये दुर्घट होगा । इस कारण इस राजाके सहित सन्धि करके चलिये । तिससे हमारी सुखसमृद्धि और सन्मान सबही बना रहेगा; क्योंकि हमने इस समय शत्रुका दुर्गभी तोडा है और कीर्तिभी पाई है । हमारी सम्मतिमें तो यही सत्परामर्श है । कारण;-

यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥२१॥

जो पुरुष धर्मको आगे करके प्रभुके प्रिय अप्रियको त्याग, अप्रिय और पथ्यको कहे डालता है, उसके साथ होनेसेही राजा सहायवान् होता है ॥ २१ ॥

अन्यच्च-सुहृद्बलं तथा राज्यमात्मानं कीर्तिमेव च ।
युधि सन्देहदोलास्थं को हि कुर्यादबालिशः ॥२२॥

औरभी,-सुहृद्, सेना, राज्य, आत्मा और कीर्ति इन सबको कौन मूर्ख संग्राममें संशयरूपी हिंडोलेके बीच स्थित करैगा ? ॥ २२ ॥

अपरं च-संधिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि ।
न हि संशयितं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ २३ ॥

औरभी,-समान पुरुषके साथभी सन्धि करले; क्योंकि संग्राममें विजय संदिग्ध है। इसलिये ऐसे संशयके स्थानमें युद्ध न करना चाहिये, यह बृहस्पतिजीने कहा है (१)॥ २३॥

अपि च-युद्धे विनाशो भवति कदाचिदुभयोरपि।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं नष्टौ तुल्यबलौ न किम् २४॥'

और-समान समानके युद्धमें दोनोंहीके विनाश होनेकी सम्भावना है तुल्यपराक्रमवाले सुन्द उपसुन्द क्या नहीं मारे गये? ॥ २४ ॥'

राजोवाच-' कथमेतत् ?'। मन्त्री कथयति-

राजाने पूछा,-' यह कैसे ?'। मन्त्रीने कहा,-

कथा ८.

पुरा दैत्यौ महोदारौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता क्लेशेन त्रैलोक्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ। ततस्तयोर्भगवान् परितुष्टः ' वरं वरयतम् ' इत्युवाच। अनन्तरं तयोः कण्ठाधिष्ठितया सरस्वत्या तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ-' यद्यावयोर्भगवान् परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु '। अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्यावश्यकतया विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता।

पूर्वकालमें सुन्द व उपसुन्दनामक दो महाप्रभावी दैत्योंने त्रिलोकीके आधिपत्यकी कामना कर बहुत कालतक अति कठोर तप कर भगवान् चन्द्रशेखर हरकी आराधना

(१) समान शत्रुसे युद्ध करनेमें जय पराजय होनेकी स्थिरता नहीं, इसलिये ऐसे संशयके स्थानमें राजा युद्ध न करके सन्धिही करै, अमरगुरु अर्थात् बृहस्पतिजीका वाक्य है।

की थी । महादेवजीने उन दोनोंकी आराधनासे प्रसन्न होकर कहा,–'तुम दोनों हमसे वर मांगो ' । उन्होंने जैसेही त्रिलोकीके आधिपत्यकी प्रार्थना करनी चाही, वैसेही उनके कण्ठपर आनकर सरस्वती बैठगई और उनसे वह बात न कहलाकर और बात कहलाई । उन्होंने कहा,–' हे परमेश्वर ! जो आप प्रसन्न हुए हैं तो अपनी प्रियतमा पार्वतीको हमें देदीजिये ' । इन दोनोंकी उस प्रार्थनासे महादेवजी क्रोधित हुए, किन्तु जब अंगीकार किया है तो अवश्यही वर देना होगा; बस यह विचार, उन दोनों दुर्बुद्धि दैत्योंको पार्वतीको देदिया ।

ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां जगद्घातिभ्यां मानसोत्सुकाभ्यां पापतिमिराभ्यां मम ममेत्यन्योन्यकलहाभ्यां प्रमाणपुरुषः कश्चित्पृच्छ्यतामिति मतौ कृतायां स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समागत्य तत्रोपस्थितः । अनन्तरम् 'आवाभ्यामियं स्वबललब्धा कस्येयमावयोर्भवति ?' इति ब्राह्मणमपृच्छताम् । ब्राह्मणो ब्रूते–

इसके उपरान्त सृष्टिसंहारी वे दोनों पापात्मा दैत्य भगवती पार्वतीजीके रूपलावण्यसे ऐसे विमोहित और अधीरचित्त हुए कि–'इस सुन्दरीको मैंही लूंगा ' यह कह परस्पर घोर कलह आरम्भ करते भये । पीछे दोनोंने यह स्थिर किया कि,– ' आओ ! हम यह झगडा निबटानेके लिये किसी पुरुषको मध्यस्थ (मध्यस्थ) विचारकर जिसको दे यह सुन्दरी उसकीही होगी ।' इसी अवसरमें वह महादेव भगवान् ही वृद्धब्राह्मणका रूप धारण करके उनके समीप स्थित हुए । इसके उपरान्त उन दोनोंने ही उस वृद्धब्राह्मणसे पूछा–' हमने तपके बलसे इस सुन्दरीको प्राप्त किया है, इस समय हमारे दोनोंके मध्यमें कौन इसको भोग करै ?'। ब्राह्मणने कहा,–

' ज्ञानश्रेष्ठो द्विजः पूज्यः क्षत्रियो बलवानपि ।
धनधान्याधिको वैश्यः शूद्रस्तु द्विजसेवया ॥२५॥

'ज्ञानमें श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजनीय है, बलवान् क्षत्री पूजाजाता है, धनधान्याधिक वैश्य पूज्य है और ब्राह्मणकी सेवासे शूद्र मान्य होता है ॥ २५ ॥

तद्युवां क्षत्रधर्मानुगौ । युद्ध एव युवयोर्नियमः' इत्यभिहिते सति 'साधूक्तमनेन' इति कृत्वाऽन्योन्यतुल्यवीर्यौ तौ समकालमन्योन्यघातेन विनाशमुपगतौ। अतोऽहं ब्रवीमि–'संधिमिच्छेत समेनापि' इत्यादि ॥

तो तुम दोनोंही क्षत्रियधर्मसे युक्त हो, इसलिये तुम परस्पर युद्ध करो; जो जयी होगा, वही इसको ग्रहण करेगा।' ब्राह्मणके यह बात कहनेपर वह दोनों उसको धन्यवाद दे परस्पर युद्ध करने लगे। दोनोंही समान बलवीर्यवाले थे, दोनोंही परस्पर भयानक प्रहार करके एक कालमें दोनोंही हत हुए। इसीलिये मैं कहताहूँ कि–'समान बलके साथ सन्धि करै' इत्यादि ॥

राजाऽऽह–'प्रागेव किं नोक्तं भवद्भिः ?'। मन्त्री ब्रूते–'मद्वचनं किमवसानपर्यन्तं कृतं भवद्भिः ? तदापि मम संमत्याऽपि नायं विग्रहारम्भः। साधुगुणयुक्तोऽयं हिरण्यगर्भो न विग्राह्यः। तथा चोक्तम्–

राजाने कहा,–'तब आपने पहलेही यह परामर्श क्यों न दिया ?'। मन्त्री बोला,–'आपने क्या उस समय हमारी बात पूरी सुनी थी ? तब तो मेरी मतिसे यह युद्ध आरम्भ नहीं भया। कारण कि, हमारी मतिसे इस राजा हिरण्यगर्भके साथ युद्ध करना उचित नहीं। इसमें जो समस्त गुण हैं, तिससे इसके साहित सन्धि करनाही उचित है, कहाभी है, किं,–(अब यह बतलाया जाता है किं, किस २ के साथ सन्धि करनी चाहिये)।

सत्यार्यौ धार्मिकोऽनार्यो भ्रातृसंघातवान् बली। अनेकयुद्धविजयी सन्धेयाः सप्त कीर्तिताः ॥ २६ ॥

सत्यनिष्ठ (जो प्राणान्त होनेपरभी प्रतिज्ञा नहीं तोडे " प्राण जाय पर वचन न जाई "), आर्य (जो पुरुष श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न हुआ हो, सभ्य और सदाचाररत हो), धार्मिक (जो सदा धर्मके मार्गपर चलै), अनार्य (हीनजातिवाला, असभ्य, कदाचारसम्पन्न), भ्रातृसमूहविशिष्ट (अर्थात् बहुत सारे भाई बन्धु और जाति प्राणपनसे जिसकी सहायता करते हों), बली (जो पुरुष लोकबलसे, धनबलसे और नीतिशक्तिके प्रभावसे अति प्रबलपराक्रमी हो), अनेकयुद्धजेता (अपने प्रभावसे जिसने बहुत युद्धोंमें जय पाई है) ये सात सन्धिके योग्य कहेगये हैं (१) ॥२६॥

सत्योऽनुपालयेत्सत्यं संधितो नैति विक्रियाम् ।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम् ॥२७॥

सत्यवादी सत्यका पालन करता है, इस कारण वह मेलसे विकारको नहीं प्राप्त होता । पूज्यलोग प्राणान्त होनेपर भी अपूज्यता नहीं पाता ॥ २७ ॥

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥२८॥

धार्मिकके अभियुक्त होनेपर सभी युद्ध करते हैं; प्रजानुरागके हेतु और धर्मके हेतु धार्मिक दुःखसे उच्छेदन करनेके योग्य है ॥ २८ ॥

संधिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याश्रयेणार्यो न कुर्यात्कालयापनम् ॥२९॥

मरण उपस्थित होनेपर नीचके साथ भी मेल करै, उसके आश्रयके सिवाय और प्रकारसे समय नहीं बितावै (२) ॥ २९ ॥

---

(१) इन सात प्रकारके शत्रुओंके साथ युद्ध न करके सन्धिही करै क्योंकि इनके सहित युद्ध करनेसे अपनी हार होनीही संभव है । और सन्धि करनेसे बहुत लाभकी सम्भावना है ।

(२) गुहके और वानर लोगोंके साथ सद्भावकरके श्रीरामचन्द्रजी अनन्त संकटसे उत्तीर्ण हुए थे । इसीलिये अनार्य अर्थात् असभ्यजातिके साथ विग्रह न करके सन्धि करना ठीक है ।

संहतत्वाद्यथा वेणुर्निबिडैः कण्टकैर्वृतः।
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसंघातवांस्तथा ॥ ३० ॥

बांस इकट्ठा रहनेसे और काँटोंसे घेराहुआ जैसे बना रहता, वैसेही भ्राताका समूह रखनेवाला उच्छिन्न नहीं होसकता ॥ ३० ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ ३१ ॥

(१) बलवान्के सहित युद्ध करै यह निदर्शन नहीं है; क्योंकि मेघ कदापि बादल पवनके विरुद्ध नहीं जाय सकता ॥ ३१ ॥

जमदग्नेः सुतस्येव सर्वैः सर्वत्र सर्वदा।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भुज्यते ॥ ३२ ॥

जमदग्नि मुनिके बहुत संग्राममें जयी पुत्र जो परशुरामजी हैं (२) उनके समान प्रतापके हेतुसे अनेक युद्धमें जीतनेवाला सब जगह निरन्तर समस्तही भोग करताहै॥

अनेकयुद्धविजयी संधानं यस्य गच्छति।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः ॥ ३३ ॥

अनेक युद्धोंमें विजयपानेवाला राजा जिस राजाके साथ सन्धिको पाताहै उसके प्रतापसे सभी शत्रुलोग उस राजाके वशमें होजाते हैं ॥ ३३ ॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेतः संधेयोऽयं राजा'। चक्रवाकोऽवदत्–'प्रणिधे! सर्वत्रावव्रज। सर्वमवगतम्। गत्वा पुनरागमिष्यसि'। अथ राजा चक्रवाकं पृष्टवान्–'मन्त्रिन्! असंधेयाः कति? तान्श्रोतुमिच्छामि'।मंत्री ब्रूते–'देव! कथयामि। शृणु–

(१) जिस प्रकार पवनके विरुद्ध मेघ नहीं चलते, वैसेही प्रबल शत्रुकी ओर राजा कदापि युद्ध करनेको न जाय, और जायगा तो छिन्नभिन्न होजायगा।

(२) परशुरामजीके समान जिस राजाने अनेक युद्धोंमें जय पाई है।

इसलिये यह राजा राजहंस सन्धिका उपयुक्त पात्र है; कारण कि, इसमें सन्धिके उपयोगी बहुतेरे गुण हैं'। चक्रवाकने कहा,-'गूढचर! तुम समस्त जान तो गये? इस समय तुम जाओ, फिर आना'। इसके उपरान्त हिरण्यगर्भने चक्रवाकसे पूछा,-'हे मन्त्रिश्रेष्ठ! जिन राजा लोगोंके सहित सन्धि न करके युद्ध करना उचित है, उन सबको आप बताइये, हम उनके जाननेकी इच्छा करते हैं'। मंत्रीने कहा,-'महाराज! कहताहूं सुनिये (१)॥

बालो वृद्धो दीर्घरोगी तथा ज्ञातिबहिष्कृतः।
भीरुको भीरुजनको लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥३४॥

बालक (जो थोडी उमरवाला है और जिसका बल, वीर्य, ज्ञान और साहस अति साधारण है और जो युद्धके फलाफलको नहीं जानसकता), वृद्ध (जरा अवस्थाके कारण जिसकी बुद्धि और बल उत्साह जातारहाहै), चिररोगी (जो सदा रोगी रहनेके कारण निकम्मा होगया हो), ज्ञातिबहिष्कृत (समस्तजातिवाले और भाई बन्धु जिसपर रूठे हुए हों), भीरु (भयशील अर्थात् जो प्राणोंके डरसे युद्धको छोड भागै), भीरुजन (अर्थात् जिसकी सेना और सामन्त लोग भयसे खेत छोड भागैं), लुब्ध (जो अत्यन्त लोभी हो, अर्थात् जो अपनी सेनाको और अपने सामन्तोंको पावना उन्हें न देकर आप पचाजाय), लुब्धपारिवृत (अत्यन्त-लोभी स्वभाववाले मित्रलोग जिस राजाको सदा घेरे रहैं अर्थात् जिसके सेवक धनके लोभसे स्वामीका बुरा करदें) ॥ ३४ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान्।
अनेकचित्तमंत्रस्तु देवब्राह्मणनिन्दकः ॥ ३५ ॥

विरक्तस्वभाव (मंत्री, परिजन, सेना, वीरलोग जिस राजापर अत्यन्त क्रोधित हो), विषयमें अत्यन्त आसक्त (जो राजा सदाही इन्द्रियोंके सुखमें मतवाला रहै), बहुचित्तमंत्र (मंत्रणा करनेके विषयमें जिस राजाका चित्त स्थिर नहीं

---

(१) जिनके साथ सन्धि न करके युद्ध करना चाहिये; उन सबको अब बतलाया जाताहै, मूल बात यह है कि;-जहां २ युद्ध करनेसे जय पानेकी सम्भावना हो वहां सन्धि न करके युद्धही करै॥

और जो चपलताके कारण मंत्रियोंकी गुप्त सलाह किसी दूसरेसे कहदे), देवब्राह्मणनिन्दक (जो राजा पूजनीय देवताके प्रति और उपदेशदेनेवाले ब्राह्मणोंसे द्वेष रक्खै) ॥ ३५ ॥

दैवोपहतकश्चैव तथा दैवपरायणः ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसंकुलः ॥ ३६ ॥

दैवोपहतक (अर्थात् जिसके प्रति भाग्य अत्यन्तही विमुख हो), दैवपरायण (जो राजा अत्यन्त कायर हो केवल भाग्यहीपर भरोसा रक्खै निश्चिन्त रहै), दुर्भिक्षव्यसनी (जो राजा दुर्भिक्षरूप–व्यसनमें अर्थात् विपद्में पडा हो, जिसकी प्रजा अकालसे मरी जाती हो), बलव्यसनी (जिस राजाके बलमें अर्थात् सेनामें व्यसन अर्थात् विपद् उपस्थित है अर्थात् जिसकी सेनामें रोग मरीका भय, असंतोष, बाध्यता इत्यादि गडबड हो) ॥ ३६ ॥

अदेशस्थो बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी ॥ ३७ ॥

अदेशस्थ (जो राजा अपने गढ इत्यादि सुरक्षित स्थानसे भ्रष्ट हो और दूसरेके स्थानमें गया हो), बहुशत्रु (जिस राजाके चारों ओर अनेक शत्रु हों), अकालस्थ (जिस राजाका समय अति. खोटा हो), सत्यधर्मच्युत (जो राजा सत्यधर्मके मार्गसे भ्रष्ट होगया है) ये वीस पुरुष हैं ॥ ३७ ॥

एतैः सन्धिं न कुर्वीत विगृह्णीयात्तु केवलम् ।
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम्॥३८॥

इनके साथ मेल न करै, केवल संग्राम करै. क्योंकि, ये लोग युद्ध कियेजानेपर शीघ्रही शत्रुके वशमें होजाते हैं ॥ ३८ ॥

बालस्याल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
युद्धायुद्धफलं यस्माज्ज्ञातुं शक्तो न बालिशः॥३९॥

बालकके अल्प बलके हेतु लोग संग्राम करनेकी इच्छा नहीं करते, क्योंकि युद्ध व अयुद्धके फलको जाननेके लिये बालक समर्थ नहीं होता ॥ ३९ ॥

उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो दीर्घामयस्तथा ।
स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयम् ॥ ४० ॥

उत्साहरहित होजानेके हेतु वृद्ध और चिररोगी ये दोनों जन अवश्य अपने आपही पराजित होते हैं ॥ ४० ॥

सुखोच्छेद्यो हि भवति सर्वज्ञातिबहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः॥४१॥

जातिसे बाहर निकालागया सरलतासे नाश करनेके योग्य होता है, उसको निश्चय करके वे जातिवाले लोग, जो अपने अधीन कियेगये हैं, नाश करदेते हैं ४१

भीरुर्युद्धपरित्यागात् स्वयमेव प्रणश्यति ।
तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैर्विमुच्यते ॥ ४२ ॥

भीरुपुरुष युद्धको त्यागकर आपही नष्ट होजाता है और डरपोक जिसके संगमें हैं वह डरपोक पुरुषोंसे छोडा जाता है ॥ ४२ ॥

लुब्धस्यासंविभागित्वान्न युद्ध्यन्तेऽनुयायिनः ।
लुब्धानुजीविभिरेष दानभिन्नैर्निहन्यते ॥ ४३ ॥

निकटमें जो उपस्थित होता है, लोभी जन आपही उसको लेता है, इसीलिये उसके अनुचर लोग युद्ध नहीं करते, जो स्वामीके संग लोभी पुरुष रहैं, तो वे (लोभी) शत्रुसे सुवर्णादि पायकर स्वामीको मार डालते हैं ॥ ४३ ॥

संत्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ।
सुखाभियोज्यो भवति विषयेष्वतिसक्तिमान् ॥४४॥

युद्धस्थानमें प्रकृतिगण (१) विरक्तस्वभाववाले पुरुषका त्याग करदेते हैं, विषयमें अत्यन्त आसक्त पुरुष सरलतासे पराजयके योग्य होता है ॥ ४४ ॥

(१) 'प्रकृतिगण' मन्त्री, सेना, सामन्त, परिजन और प्रजावर्ग, विरक्त अर्थात् राजाके प्रति अत्यन्त विरुद्ध होनेपर युद्धके समय कोई उसकी सहायता नहीं करता; इससे शत्रुके चढतेही वह राजा हारजाता है ।

अनेकचित्तमन्त्रस्तु भेद्यो भवति मन्त्रिणा।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः स उपेक्ष्यते ॥ ४५ ॥

मंत्रणाके विषयमें जिसकी मति स्थिर नहीं है, उससे मंत्रीलोग द्वेष करते हैं और इससेही मन्त्रीलोग उसके कार्यको छोड देते हैं (१) ॥ ४५ ॥

सदा धर्मबलीयस्त्वाद्देवब्राह्मणनिन्दकः।
विशीर्यते स्वयं ह्येष दैवोपहतकस्तथा ॥ ४६ ॥

सदा धर्ममें बल होनेके कारण देवता और ब्राह्मणकी निन्दा करनेवाला वह आपही नष्ट होजाता है और ऐसेही भाग्यका मारा नाशको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

संपत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम्।
इति दैवपरो ध्यायन् नात्मानमपि चेष्टते ॥ ४७ ॥

सम्पत्तिका और विपत्तिका भाग्यही कारण है; यह चिन्ता करताहुआ दैवपरायण पुरुष अपनी भी चेष्टा नहीं करता ॥ ४७ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेव विषीदति।
बलव्यसनयुक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न जायते ॥ ४८ ॥

दुर्भिक्षरूप विपत्तिसे व्याकुल पुरुष अपने आपही अवसन्न होताहै, सेनाके व्यतिक्रमसे युद्धमें लडनेके अर्थ शक्ति उत्पन्न नहीं होती ॥ ४८ ॥

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते।
ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमपि कर्षति ॥ ४९ ॥

अपने देशमें न रहनेवालेको कोई छोटा शत्रुभी मार डालताहै, छोटा नाका (ग्राह) भी जलमें हाथीको भी खैंचलेताहै ॥ ४९ ॥

---

(१) जिसके चित्तकी स्थिरता मन्त्रणाके कार्यमें नहीं है उसको 'बहुचित्तमंत्र' कहते हैं। मन्त्रीलोग ऐसे चंचलचित्त राजाको कार्यमें छोड देते हैं; इस [illegible]

बहुशत्रुस्तु संत्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छाति पथा तेनैवाशु विपद्यते ॥ ५० ॥

बहुतसा शत्रुरखनेवाला पुरुष (१) श्येनपक्षीके मध्यमें पडेहुए कबूतरकी समान भीत होकर जिस मार्गसे जाताहै उसी मार्गमें नष्ट होताहै ॥ ५० ॥

अकालसैन्ययुक्तस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः ॥ ५१ ॥

अकालमें युद्ध करनेवाला पुरुष, कालमें युद्धकरनेवालेसे नाश होजाता है। जैसे ज्योति नष्ट हुआ काक आधी रातको उल्लूसे माराजाताहै (२) ॥ ५१ ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन संदध्यान्न कदाचन ।
स संधितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ५२॥

सत्यधर्मसे भ्रष्ट हुएके साथ कदापि मेल नहीं करै, वह पुरुष असच्चारित्रताके हेतुसे अल्पकालमें ही मेलसे अन्यथा पाताहै ॥ ५२ ॥

अपरमपि कथयामि। संधिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यम् । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपद्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गो मन्त्रः। सामदानभेददण्डाश्चत्वार उपायाः । उत्साहशक्ति-

(१) 'श्येन' बाजपक्षी। बाज, कबूतरका स्वाभाविक शत्रु है, इस कारण उसको 'कपोतारि' भी कहते हैं। जिस प्रकार चारों ओर बाजपक्षियोंके रहनेपर बीचमें पडे कबूतरकी रक्षा नहीं, वैसेही चारों ओर बहुत सारे शत्रुओंके रहनेसे राजाकी रक्षा नहीं। ऐसा राजा शीघ्र हार जाता है।

(२) उल्लू, कागका स्वाभाविक शत्रु है, इस कारण उल्लूको 'वायसाराति' अर्थात् कागका शत्रु कहते हैं। काग रात्रिमें कुछभी नहीं देखसकता। उस समय कागको देखतेही जैसे उल्लू मारडालताहै, वैसेही शत्रुके खोटे समयमें उसपर चढाई करतेही उसका विनाश किया जासकता है ॥

मन्त्रशक्तिः प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम् । एतत् सर्वमालोच्य नित्यं विजिगीषवो भवन्ति महान्तः । यतः-

औरभी कहताहूं सुनो;-' सन्धि, विग्रह, यान, आसन और द्वैध, आश्रय इनको षड्गुण कहते हैं । कर्मका आरंभ उपाय, पुरुष द्रव्य सम्पद्, देशकालविभाग, विनिपात-प्रतीकार और कार्यसिद्धि ये पांच मंत्रणाके अंग हैं । उत्साह-शक्ति, मन्त्र-शक्ति और प्रभु-शक्ति इन तीनको राजशक्ति कहते हैं (१)। विजयकी इच्छा करनेवाले इन सबकी नित्य आलोचना करके बडाई प्राप्त किया करते हैं । कारण;-

---

(१) धन या भूमि इत्यादि दान दे शत्रुके सहित राजाके मेल करनेको 'सन्धि' कहते हैं । ' विग्रह ' अर्थात् युद्ध । शत्रुके विरुद्ध युद्धयात्रा करनेको ' यान ' कहते हैं । शत्रुके गढादिको घेरकर पडे रहनेका नाम ' आसन ' है । अपनी सनाको दो भागोंमें विभक्त करना, अथवा एक शत्रुके साथ सन्धि और दूसरेके साथ युद्ध करनेको ' द्वैध ' कहते हैं । शत्रुसे पराक्रान्त हो एक प्रबल राजाका आश्रय ग्रहण करनेको ' आश्रय ' कहते हैं । राजाके स्वराज्यविषयक और परराज्यविषयक मंत्रणाके पांच अंग हैं-(१) ' कर्मका आरंभ उपाय ' अर्थात् किसी एक कार्यके अनुष्ठानकी उपयोगी सहायताका संग्रह करना । (२) ' पुरुषद्रव्यसम्पद् ' अर्थात् उस कार्यके निर्वाह करने योग्य लोकबल और अर्थबलका संग्रह करना । (३) ' देशकालविभाग ' अर्थात् उस कार्यके निर्वाह करनेके योग्य उपयोगी स्थान और समय निर्णय करना । (४) 'विनिपातप्रतीकार' अर्थात् उस कार्यके सिद्धिपक्षमें जो समस्त विघ्न विपत्ति हों उन सबका प्रतिविधान स्थिर कर रखना । (५)'सिद्धि' अर्थात् उस कार्यका संपूर्ण फल लाभ करना । राजाके चार उपाय हैं;- (१) ' साम ' अर्थात् मधुर वचनादिसे शत्रुके कोपको शान्त करना ।(२)'दान' भूमि धन इत्यादि करके शत्रुसे झगडा निबटाना । (३) ' भेद ' शत्रुके गृहमें फूट कराय अपना कार्य सिद्ध करै । (४) ' विग्रह '-युद्ध । राजाकी तीन शक्ति हैं; यथा;-(१)' प्रभुशक्ति ' अर्थात् राजाका निजपौरुष व प्रताप । (२) ' उत्साह-शक्ति ' अर्थात्-राजा व राजपुरुषोंका अटल उद्योग । (३) ' मंत्रशक्ति ' अर्थात् राजा और राजमंत्रियोंका अव्यर्थ मंत्रणाकौशल ॥

या हि प्राणपरित्यागमूल्येनापि न लभ्यते ।
सा श्रीर्नीतिविदं पश्य चञ्चलाऽपि प्रधावति ॥ ५३॥

जीवनदानरूप मूल्यसे जो सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती, देखो वह सम्पत्ति नीति-जाननेवाले पुरुषके निकट निश्चला हो आपही दौडती है ॥ ५३ ॥

तथा चोक्तम्-वित्तं यदा यस्य समं विभक्तं
गूढश्चरः संनिभृतश्च मन्त्रः ।
न चाप्रियप्राणिषु यो ब्रवीति
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति ॥ ५४ ॥

और वैसा कहाभी है कि,-जिसका अन्तःकरण सदा एकसा है, गूढ दूतवाला, गुप्त मंत्रणावाला और जो मनुष्योंको निठुर वचन नहीं कहता वह पुरुष समुद्रतक पृथ्वीका शासन करता है ॥ ५४ ॥

किं तु यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण संधानमुपन्यस्तं तथाऽपि तेन राज्ञा संप्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । देव ! तदेवं क्रियताम् । सिंहलद्वीपस्य महाबलो नाम सारसो राजाऽस्मन्मित्रं जम्बूद्वीपे कोपं जनयतु । यतः-

परन्तु महाराज ! मंत्रिश्रेष्ठ गिद्धनेभी जो सन्धि करनेका परामर्श दियाहै तथापि वह राजा चित्रवर्ण विजयदर्पके मारे इस समय ऐसा उन्मत्त हुआहै कि, वह कदापि उस प्रस्तावको नहीं सुनैगा । इसलिये हमारा मित्र सिंहलद्वीपका राजा महाबल-नामक सारस जिससे राजा चित्रवर्णके राज्य जम्बूद्वीपपर चढाई करै, इस समय हम लोगोंकी इसकाही उपाय करना कर्त्तव्य है । कारण,—

सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन
बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।
संतापयेद्येन समं सुतप्त-
स्तप्तेन संधानमुपैति तप्तः ॥ ५५ ॥

शूर पुरुष सुसंगत सेनासे सावधान हो सुरक्षित शत्रुको संताप दे, क्योंकि व्याकुल पुरुष अत्यन्त व्याकुल होकर व्याकुलके साथ मेल करता है (१) ॥ ५५ ॥'

राज्ञा 'एवमस्तु' इति निगद्य विचित्रनामा बकः सुगुप्तलेखं दत्त्वा सिंहलद्वीपं प्रहितः।

राजाने कहा,–' तो ऐसाही कियाजाय '। यह कहकर, विचित्र नामक बगलेके हाथमें गुप्तपत्री देकर सिंहलद्वीप भेजदिया।

अथ प्रणिधिः पुनरागत्योवाच–' देव ! श्रूयतां तावत् तत्रत्यप्रस्तावः । एवं तत्र गृध्रेणोक्तम्– ' देव ! यन्मेघवर्णस्तत्र चिरमुषितः स वेत्ति किं सन्धेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो न वा इति"। ततोऽसौ चित्रवर्णेन राज्ञा समाहूय पृष्टः–' वायस ! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भः ? चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः ?'।

इसके उपरान्त फिर गुप्तदूतने आयकर राजाको समाचार दिया कि,–'महाराज ! शत्रुलोगोंने जो परामर्श किया है वह श्रवण कीजिये । वहां गिद्धमन्त्रीने राजा चित्रवर्णसे इस प्रकार कहा,–' महाराज ! मेघवर्ण काग शत्रुलोगोंके निकट बहुत दिनोंसे था, इसलिये वह कहसकता है कि, राजा हिरण्यगर्भ सन्धिके योग्य पात्र है

---

(१) युद्धमें जिस समय शत्रुका पक्ष प्रबल हो राजाको सतावै; उस समय राजा उस शत्रुके सहित सन्धि न करै; क्योंकि, उस समय जो सन्धि की जायगी तो शत्रु जो चाहैगा वह उसको देना पडेगा; इस कारण उस समय सन्धि न करके अनेक उपायकर सन्धि होनेमें देर करै। और इसी समय अपनी समान शत्रुकोभी फेरमें डाल दे। जिस प्रकार धातुके दो टुकडे अग्निके तापसे बराबर गलकर परस्पर ठीक मिल जाते हैं, वैसेही दोनों पक्ष जब बराबर विपदमें पडे तभी सन्धि ठीक होती है।

या नहीं ?"। यह सुनकर राजा चित्रवर्णने मेघवर्णको बुलवायकर पूछा कि,-'हे काग ! वह हिरण्यगर्भ राजा कैसा है ? और उसका मंत्री चक्रवाक कैसाहै ? '।

वायस उवाच-' देव ! हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः सत्यवाक् । चक्रवाकसमो मन्त्री न क्वाप्यवलोक्यते '। राजाऽऽह-' यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः ! '। विहस्य मेघवर्णः प्राह-' देव !-

मेघवर्णने कहा,-' महाराज ! राजा हिरण्यगर्भ युधिष्ठिरकी समान महात्मा व सत्यवादी है और चक्रवाककी समान मंत्रीभी कहीं नहीं देखाजाता'। गजाने कहा,-' जो यह सत्य हो, तो तुम किस प्रकार उसे धोखा देनेमें समर्थ हुआ ? '। मेघवर्णने हँसकर कहा,-'महाराज !-

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम् ॥५६॥

विश्वासप्राप्त पुरुषके ठगनेमें क्या पुरुषाथ ह ?, गोदीमें चढकर जो पुरुष सोय रहता है उसको नष्ट करनेमें कौन पौरुष है ? ॥ ५६ ॥

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाऽहं प्रथमदर्शन एव ज्ञातः । किं तु महाशयोऽसौ राजा । तेन मया विप्रलब्धः । तथा चोक्तम्-

सुनिये महाराज ! हमको पहले दिन देखतेही मन्त्री जान गया । परन्तु राजा हिरण्यगर्भ अत्यन्त श्रेष्ठ आशयवाला है इसीलिये मैं उसको ठगसका । वैसाही कहाभी है कि,—

आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम् ।
स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा ॥ ५७ ॥'

अपनीही समान जो पुरुष खलको सत्यवादी करके समझता है, वह वैसेही ठगा जाता है, जैसे ब्राह्मण बकरेके लिये ठगागया ॥ ५७ ॥'

राजोवाच–'कथमेतत् ?'। मेघवर्णः कथयति–

राजाने पूछा,–' यह कैसे ? '। मेघवर्ण बोला,–

कथा ९.

अस्ति गौतमस्यारण्ये प्रस्तुतयज्ञः कश्चिद्ब्राह्मणः। स च यज्ञार्थं ग्रामान्तरं गत्वा छागमुपक्रीय स्कन्धे नीत्वा गच्छन् धूर्तत्रयेणावलोकितः। ततस्ते धूर्ता यद्येष च्छागः केनाप्युपायेन लभ्यते तदा मतिप्रकर्षो भवतीति समालोच्य प्रान्तर-वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्याग-मनं प्रतीक्ष्य पथि स्थिताः।

गौतमारण्यमें एक ब्राह्मणने यज्ञ आरंभ किया था। वह गांवमें जाय यज्ञके निमित्त एक बकरा मोल ले कन्धेपर चढायकर ला रहा था कि, तीन धूर्त्तोंने यह देखा। देखकर धूर्त्तोंने सलाह की;–'जो यह बकरा किसी उस्तादीसे ले सकें, तो इसके भक्षण करनेसे बुद्धि तेजयुक्त हो।' उन लोगोंने यह सोचके तीन वृक्षोंके नीचे कोस २ भरके अंतरपर उस ब्राह्मणके आनेकी प्रतीक्षा करके मार्गमें अपनेको ठहराया।

तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन् स ब्राह्मणोऽभिहितः– 'भो ब्राह्मण! किमिति कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते ?'। विप्रेणोक्तम्–' नायं श्वा। किंतु यज्ञच्छागः '। अथानन्तरं पुनर्द्वितीयेन धूर्त्तेन क्रोशमात्रस्थितेन तथैवोक्तम्। तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय मुहुर्निरीक्ष्य पुनः स्कन्धे कृत्वा दोला-यमानमतिश्चलितः। यतः–

इसके पीछे उनमेंसे पहला धूर्त्त उस ब्राह्मणसे बोला-' हे ब्राह्मण ! आप इस कुत्तेको किसलिये कंधेपर चढायकर लिये जाते हैं ?' । ब्राह्मणने कहा;-' यह कुत्ता नहीं, यज्ञका बकरा है ' । इसके उपरान्त ब्राह्मणके एक कोश मार्ग चलनेपर दूसरे धूर्तने उस ब्राह्मणको देखकर वैसेही कहा । यह सुनकर ब्राह्मण उस बकरेको पृथ्वीपर उतार उसको वारंवार देख फिर कन्धेपर ले चला । और उस ब्राह्मणका मन सन्देहसे चलायमान हुआ । कारण;-

मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः ।
ताभिर्विश्वासितश्चासौ म्रियते चित्रकर्णवत् ॥ ५८ ॥

शठके वचनसे सुबोध पुरुषकी बुद्धि भी चंचल होजाती है, जो उसमें (शठके वचनमें) विश्वास करता है, वह चित्रकर्णके समान माराजाता है ॥ ५८ ॥

राजाऽऽह-' कथमेतत् ?' । स कथयति-

राजाने पूछा,-'यह कैसे ?' । मेघवर्णने कहा,—

कथा १०.

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः । तस्य सेवकास्त्रयः काको व्याघ्रो जम्बुकश्च । अथ तैर्भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्टः कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः पृष्टश्च-' कुतो भवानागतः?'। स चात्मवृत्तान्तमकथयत्। ततस्तैर्नीत्वा सिंहेऽसौ समर्पितः । तेनाभयवाचं दत्वा चित्रकर्ण इति नाम कृत्वा स्थापितः ।

एक वनमें मदोत्कटनामक एक सिंह था । काग, व्याघ्र और गीदड ये तीन उसके सेवक थे । एक दिन उन्होंने घूमते २ एक यूथसे छूटाहुआ ऊँट देखकर पूछा,-' तुम कहांसे आये हो ?' । यह सुनकर ऊँटने अपना वृत्तान्त इन लोगोंसे निवेदन किया । इसके उपरान्त वे तीन सेवक उस ऊँटको लेकर सिंहके निकट पहुंचे । इसके पीछे सिंहनेभी उसको अभयदान (तुमको कुछ भय नहीं हम रक्षा

करेंगे ऐसा कहकर धीरज देना) दे उसका चित्रकर्ण यह नाम रख उसे सेवकके पदपर नियुक्त किया।

एवं कालो गच्छति। अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद् भूरिवृष्टिकारणाच्चाहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः । ततस्तैरालोचितम्–'चित्रकर्णमेव यथा स्वामी व्यापादयति तथाऽनुष्ठीयताम्। किमनेन कण्टकभुजा ?'। व्याघ्र उवाच–'स्वामिनाऽभयवाचं दत्त्वाऽनुगृहीतस्तत्कथमेवं संभवति ?'। काको ब्रूते–' इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति। यतः–

इस प्रकारसे कुछ समय बीतजानेपर, सिंहके अत्यन्त पीडित होने व घोर वर्षाके आजानेसे, आहार न पाकर वे सबही अत्यन्त व्याकुल हुए । इसके पीछे काक, व्याघ्र और शृगाल इन तीन जनोंने मन्त्रणा की कि,–' जिससे चित्रकर्णको राजा मारडाले ऐसा उपाय कियाजावै । इस कांटोंके खानेवाले ऊंटके रहनेसे हमलोगोंको क्या करना है ? '। व्याघ्रने कहा,–' राजाने इसको अभयदान दिया है, वह किस प्रकारसे उसका वध करेगा ? '। कागने कहा;–' राजा इस समय रोग और भूखसे अत्यन्त क्षीण होगये हैं, इस कारण इस समय वे पापकर्मभी करेंगे । कारण,—

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् ।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥ ५९ ॥

क्षुधासे आतुर स्त्री अपने पुत्रको भी त्यागकरती है, भूखी सर्पिणी अपने अंडोंको भक्षण करती है, भूँखा पुरुष क्या पापकर्म नहीं करता ? प्रायः आहारके न मिलनेसे क्लेशित मनुष्य निर्दय होजाते हैं (१) ॥ ५९ ॥

(१) रोग या भूंखसे जो अत्यन्त दुःख पाता है, उसके मनमें दया धर्म नहीं रहता है ऐसे पुरुष सब प्रकारके दुष्कर्म कर सकते हैं ।

अन्यच्च-मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः।
लुब्धो भीरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित्॥ ६०॥'

औरभी,-मत्त (मदिरा पीनेसे या अभिमानसे जिसको हित अहितका ज्ञान न रहै), प्रमत्त-(अनवहित, अर्थात् कर्त्तव्यकर्ममें जिसका कुछभी मन नहीं लगता), उन्मत्त (उन्मादग्रस्त, पागल), श्रमयुक्त, क्रुद्ध (क्रोधसे अधीर), बुभुक्षित (भूँखा), लुब्ध (लोभी), भीरु (भयसे व्याकुल), त्वरायुक्त (व्यस्त), कामुक (कामसे आतुर, कामरिपुसे उत्तेजित किया हुआ)। पीडित (जिसको रोग या शोक हो), ये लोग धर्मज्ञ नहीं हैं ॥ ६० ॥'

इति संचिन्त्य सर्वे सिंहान्तिकं जग्मुः । सिंहेनोक्तम्-'आहारार्थं किंचित्प्राप्तम् ?'। तैरुक्तम्-'यत्नादपि न प्राप्तं किंचित्'। सिंहेनोक्तम्-'कोऽधुना जीवनोपायः ?'। काको वदति-'देव ! स्वाधीनाहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः'। सिंहेनोक्तम्-'अत्राहारः कः स्वाधीनः?'। काकः कर्णे कथयति-'चित्रकर्णः' इति। सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति ब्रूते च-'अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः। तत्कथमेवं संभवति ? । तथा च-

इस प्रकारसे निश्चय कर वे सब मिल सिंहके पास गये । सिंहने पूछा-'क्या हमारे भोजनके लिये कुछ पाया ?'। उन्होंने कहा,-'महाराज ! बहुत यत्नसे भी कुछ नहीं मिला'। सिंहने कहा,-'तो अब प्राणधारण करनेको क्या उपाय है ?'। कागने कहा,-'जो आहार इच्छाके अधीन रहा है उसके त्यागनेहीसे तो यह सबका नाश उपस्थित है'। सिंहने कहा,-'कौनसा आहार यहाँपर इच्छाके आधीन रहा है ? '। कागने सिंहके कानमें कहा,-'चित्रकर्ण'। सिंहने यह सुन पृथ्वीको छू अपने कानोंपर हाथ रक्खे और कहा,-'हमने उसको अभयदान देकर रक्खा है। यह कभी संभव होसकता है? देख-

न भूप्रदानं न सुवर्णदानं
न गोप्रदानं न तथाऽन्नदानम्।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ॥ ६१ ॥

संसारके सब दानोंमें जिस प्रकार अभयदानको महादान कहाजाताहै, वैसा भूमिदान, सुवर्णदान या अन्नदान नहीं है ॥ ६१ ॥

अन्यच्च—सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम्।
तत्फलं लभते सम्यग्रक्षिते शरणागते ॥ ६२ ॥'

औरभी,—सर्व अभिलाषोंको देनेवाले अश्वमेध यज्ञके जो फल हैं, वे समस्त फल शरण आये पुरुषकी रक्षा करनेसे मिलते हैं ॥ ६२ ॥'

काको ब्रूते—'नासौ स्वामिना व्यापादयितव्यः। किं त्वस्माभिरेव तथा कर्तव्यं यथाऽसौ स्वयमेव स्वदेहदानमङ्गीकरोति'। सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः। ततोऽसौ लब्धावकाशः कूटं कृत्वा सर्वानादाय सिंहान्तिकं गतः। अथ काकेनोक्तम्—'देव! यत्नादप्याहारो न प्राप्तः। अनेकोपवासखिन्नः स्वामी। तदिदानीं मदीयमांसमुपभुज्यताम्। यतः—

कागने कहा,—'स्वामीको उसका वध करना उचित तो नहीं है; किन्तु हम ऐसा करैं कि, जो यह आपही आकर स्वामीको अपनी देहका देना अंगीकार करै।' सिंह यह सुनकर चुप होरहा। कागनेभी वैसेही उस सुयोगमें युक्ति कर सबको सिंहके निकट उपस्थित किया। इसके पीछे कागने कहा;—'महाराज! अनेक चेष्टा करके भी भोजनके लिये कुछ नहीं पाया। स्वामी आपभी बहुत समयसे भोजन न पाय कृश हुए हैं। इसलिये इस समय मेराही देह [illegible] प्राण [illegible] कीजिये। कारण,—

स्वामिमूला भवन्त्येव सर्वाः प्रकृतयः खलु ।
समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम् ॥ ६३ ॥'

सब प्रजाका मूल निश्चय करके स्वामी है, मनुष्योंका प्रयत्न समूल वृक्षोंपर ही सफल है (१) ॥ ६३ ॥'

सिंहेनोक्तम्-'वरं प्राणपरित्यागः। न पुनरीदृशि कर्मणि प्रवृत्तिः'। जम्बुकेनापि तथोक्तम्। ततः सिंहेनोक्तम्-'मैवम्'। अथ व्याघ्रेणोक्तम्-'मद्देहेन जीवतु स्वामी'। सिंहेनोक्तम्-'न कदाचिदेवमुचितम्'। अथ चित्रकर्णोऽपि जातविश्वासस्तथैवात्मदानमाह। ततस्तद्वचनात्तेन व्याघ्रेणासौ कुक्षिं विदार्य व्यापादितः सर्वैर्भक्षितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि-'मतिर्दोलायते सत्यम्'इत्यादि॥

सिंहने कहा;-' भद्र ! हमारा प्राण जाय यह अच्छा, तथापि ऐसा कार्य हम नहीं कर सकेंगे '। इसके उपरान्त शृगालने अपनी देहके देनेका प्रस्ताव करनेपर सिंहने उसकोभी अंगीकार न किया। फिर व्याघ्रने कहा;--' प्रभो ! तब हमारीही देह भक्षण करके प्राण धारण कीजिये '। सिंह बोला;--' यह कदापि कर्त्तव्य नहीं '। उन लोगोंके ऐसा प्रस्ताव होनेपर जब सिंहने किसीका वध न किया तब चित्रकर्णके मनमें भी सम्पूर्ण विश्वास उत्पन्न हुआ। चित्रकर्णनेभी अपनी देहदान करनी चाही। व्याघ्रने उसी समय उसका पेट फाडकर उसका संहार किया और सबने उसको भक्षण किया। इसीलिये मैं कहताहूं कि,--' खलके वचनसे उत्तमकी बुद्धिभी चंचल होती है ' इत्यादि ॥

ततस्तृतीयधूर्तवचनं श्रुत्वा स्वमतिभ्रमं निश्चित्य च्छागं त्यक्त्वा ब्राह्मणः स्नात्वा गृहं ययौ। स

(१) वृक्षके मूलकी रक्षा करनेसे जिस प्रकार सब वृक्षकी रक्षा होजाती है, एक राजाके रक्षित होनेसे वैसेही सब प्रजाकी रक्षा होती है।

च्छागस्तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि-'आत्मौपम्येन यो वेत्ति' इत्यादि। राजाऽऽह-'मेघवर्ण! कथं शत्रुमध्ये त्वया चिरमुषितम्? कथं वा तेषामनुनयः कृतः?'। मेघवर्ण उवाच-'देव! स्वामिकार्यार्थिना स्वप्रयोजनवशाद्वा किं न क्रियते? पश्य।

इसके उपरान्त वह ब्राह्मण तीसरे धूर्तके मुखसे वही वचन सुनकर निश्चय करता भया कि, मैंने ही धोखेसे कुत्तेको बकरा समझाहै। वह उसी समय बकरेको छोड स्नान कर अपने घरको गया। इस ओर धूर्त्तोंनेभी वह बकरा लेकर भोजन किया। इसी कारण मैं कहताहूं कि;--'अपने समान जो जानताहै' इत्यादि। इसके उपरान्त राजा चित्रवर्णने पूछा,--'हे मेघवर्ण! तैंने तो बहुत दिन शत्रुओंमें वास किया, फिर किस प्रकारसे शत्रुको भुलावा दिया?'। मेघवर्णने कहा;--'महाराज! स्वामीका कार्य या अपना कार्य सिद्ध करनेको क्या नहीं कियाजाताहै? देखिये--

लोको वहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम्।
क्षालयन्नपि वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेगो निकृन्तति ॥ ६४ ॥

लकडियोंको जलानेके लिये लोग शिरपर धरकर लेजातेह, वृक्षकी जडको धोती हुई नदीकी धारा उस (वृक्ष) को उखाडदेती है (१) ॥ ६४ ॥

तथा चोक्तम्-
स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान्।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः ॥ ६५ ॥'

---

(१) नदीका स्रोत किनारेके वृक्षकी जडको पहले धोया करता है, फिर धीरे २ उस वृक्षको जडसे उखाड देताहै। इस कारण किसी शत्रुका नाश करनेके पहले, जो उसके (शत्रुके) पैर धोने पडै या उसको कन्धेपर चढाना पडै तो यह भी करना उचित है।

और वैसा कहाहै कि,–बुद्धिमान् पुरुष अपने कार्यके निमित्त शत्रुको भी कंधेपर चढायकर फिरता है। जैसे वृद्ध सांपने मेंडकोंको नष्ट किया ॥ ६५ ॥'

राजाऽऽह–'कथमेतत् ?'। मेघवर्णः कथयति–

राजाने पूछा,–' यह किस प्रकार ? । मेघवर्णने कहा–

कथा ११.

अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः। सोऽतिजीर्णतयाऽऽहारमप्यन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थितः। ततो दूरादेव केनचिन्मण्डूकेन दृष्टः पृष्टश्च–'किमिति त्वमाहारं नान्विष्यसि ?'। सर्पोऽवदत्-'गच्छ भद्र ! मम मन्दभाग्यस्य वृत्तान्तप्रश्नेन किम्?'। ततः सञ्जातकौतुकः स भेकः 'सर्वथा कथ्यताम्' इति तं सर्पमाह।

एक पुरानी वाटिकामें मन्दविषनामक एक सर्प था। वह जरासे ऐसा जीर्ण होगया था कि, वह अपना आहारतक नहीं खोजता था। वह एक दिन अनाहार सरोवरके तीरपर पडा था कि, इतनेमें एक मेंडकने दूरसे देखकर उससे पूछा,– ' आप आहारको क्यों नहीं खोजते हैं ?'। सर्पने कहा,–' भद्र ! तुम जाओ, इस अभागेका वृत्तान्त सुननेकी अब कुछ आवश्यकता नहीं '। सर्पकी इस बातसे मण्डूकके मनमें अत्यन्त कौतुक उत्पन्न हुआ। वह उस वृत्तान्तको श्रवण करनेके लिये जिद करके सर्पसे बोला,–' आपको यह कहनाही पडैगा '।

सर्पोऽप्याह–'भद्र ! अत्र ब्रह्मपुरे कौण्डिन्यनाम्नः श्रोत्रियस्य विंशतिवर्षीयः पुत्रः सर्वगुणसम्पन्नो दुर्दैवान्मया नृशंसेन दष्टः। ततस्तं पुत्रं सुशीलनामानं मृतमालोक्य कौण्डिन्यः शोकेन मूर्च्छितः पृथ्वीतले लुलोठ। अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे बान्धवास्तत्रागत्योपविष्टाः। तथा चोक्तम्–

सर्पने कहा,–' श्रेष्ठ ! इस ब्रह्मपुरमें कौंडिन्यनामक श्रोत्रियका बीस वर्षकी उमरका सर्वगुणसम्पन्न एक पुत्र था। मेरा अति कुभाग्य था कि, मैंने निठुरताके वश हो उस श्रोत्रियके पुत्रको काटखाया। सुशीलनामक उस पुत्रको मृतक देखकर कौंडिन्य शोकसे मूर्च्छित होकर भूमिपर लोटनेलगा। इसके उपरान्त ब्रह्मपुरवासी उसके बान्धवगण उसके निकट आयकर बोले। वैसा कहाभी है कि,–

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे शत्रुविग्रहे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥६६॥

उत्सवमें, विपद्में, दुर्भिक्षमें, शत्रुके साथ संग्राममें, राजद्वारमें, श्मशानमें जो साथ रहता है वही बन्धु है ॥ ६६ ॥

तत्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्–'अरे कौण्डिन्य! मूढोऽसि। येनैवं विलपसि शृणु–

इसके उपरान्त उसके उन सब बन्धुओंमें कपिल नामक एक स्नातक (१) ब्राह्मणने कहा,–' कौंडिन्य ! तुम अति अज्ञानी हो; इससे ऐसा विलाप करते हो। सुनो;—

---

(१) ' स्नातक ' गुरुके गृहमें वेदाध्ययन करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पहले यथाविधानसे जो स्नानादि करना होताहै; उसको ' समावर्त्तन ' कहते हैं। जिस ब्राह्मणने वह समावर्त्तन कियाहै, वह ' स्नातक ' कहाताहै। स्नातक तीन प्रकारके हैं;–विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक। गुरुगृहमें केवल वेद समाप्त करके और व्रत समाप्त न करके जो समावर्त्तन करताहै उसको ' विद्यास्नातक ' कहते हैं। केवल व्रतको समाप्त करके वेद विनाही समाप्त किये जो समावर्त्तन करता है उसको ' व्रतस्नातक ' कहते है। वेद और व्रतको यथाविधिसे समाप्त करके जो समावर्त्तन करताहै वह ' विद्याव्रतस्नातक ' कहाजाताहै। यथाऽऽह हारीतः– " त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति। यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्त्तते स विद्यास्नातकः। यः समाप्य व्रतानि असमाप्य वेदं समावर्त्तते स व्रतस्नातकः। उभयं समाप्य समा–

क्रोडीकरोति प्रथमं यथा जातमनित्यता ।
धात्रीव जननी पश्चात्तथा शोकस्य कः क्रमः ॥६७॥

माता करके गोदीमें लेनेसे पहले जैसे धात्री गोदीमें लेती है; ऐसेही जन्म होनेमात्र सबको पहिले अनित्यता गोदीमें लेती है, पीछे माता इत्यादि गोदीमें लेती हैं; फिर इसमें शोककी बात क्या है ? (१) ॥ ६७ ॥

क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः ।
वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति ॥ ६८ ॥

देखो ! सेना, सामन्त, वाहनसहित पृथ्वीपतिलोग कहां गये हैं, जिन लोगोंकी वियोगकी गवाही देनेवाली पृथ्वी अबतक स्थित है ॥ ६८ ॥

प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णः सन्विभाव्यते॥६९

यह शरीर प्रतिक्षणपर छीजताहुआ दिखाई नहीं देता, परन्तु जलमध्यस्थ आमकुम्भ (२) की समान गलकर नष्ट होजाता है ॥ ६९ ॥

-वर्त्तते यः स विद्याव्रतस्नातकः" । याज्ञवल्क्योऽप्याह,-" वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा " इति ।

(१) 'धात्री ' अर्थात् धाई; जो बच्चेका और प्रसूतिका लालन पालन करती है, बच्चेके पैदा होते ही जैसे धाई उसको गोदीमें लेतीहै, वैसेही जीवके जन्म लेते ही अनित्यता सबसे पहले अर्थात् मृत्यु उस जीवको अंकमें लेती है, अर्थात् उसको अपने अधिकारमें गिनतीहै, पीछे उस जीवकी माता उसे गोदीमें लेतीहै । " जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः " जन्म होनेसे मृत्युका होना निश्चय जानना चाहिये ।

(२) ' आमकुम्भ ' कच्चा घडा । मट्टीका घडा जो पकाया नहीं गया, कच्चा घडा जलमें डुबानेसे जैसेही वह प्रतिक्षण नजर न आयकर छीजता रहता है, वैसेही यह असार शरीरभी मिनट २ सेकण्ड २ पल २ अदृश्यभावसे क्षय होता है; अज्ञानी लोग इसका क्षय होना नहीं जानते, वे तबही जानते हैं कि जब एक बार नाश होता है ।

आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिनेदिने ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव पदेपदे ॥ ७० ॥

मारनेको लायेहुये पशुका पग २ पर काटना जिस प्रकार निकट आता जाता है, ऐसेही मृत्यु प्राणीके दिन २ निकट हो जाता है (१) ॥ ७० ॥

यतः-अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो मुह्येत्तत्र न पण्डितः ॥ ७१ ॥

क्योंकि,-यौवन, रूप, जीवन, धनसञ्चय, ऐश्वर्य, मित्रके साथ रहना ये सबही अनित्य हैं, इसी हेतुसे ज्ञानवान् पुरुष इनमें मोहित नहीं होता ॥ ७१ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ ७२ ॥

समुद्रमें अलग २ देशोंके दो काठोंका जिस प्रकार मिलन होजाता है, और वे मिलकर पृथक् होजाते हैं, इसी प्रकारसे प्राणियोंका समागम है ॥ ७२ ॥

यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः ॥ ७३ ॥

जैसे मार्गमें थकाहुआ पुरुष किसी वृक्षके छायामें ठहर शीतल हो, फिर उसी समय चलाजाता है इसी प्रकारसे प्राणियोंका समागम है ॥ ७३ ॥

अन्यच्च-पञ्चभिर्निर्मिते देहे पञ्चत्वं च पुनर्गते ।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते तत्र का परिदेवना ॥ ७४ ॥

---

(१) राजाकी आज्ञासे जिसको प्राणदंड दियाजाता है; वह पुरुष शूल या फाँसीकी लकडीके निकटको जितने पग आगे बढेगा मृत्यु उसकी ओरको उतनाही बढैगा। इसी भांति एक एक करके जितने दिन जाते हैं; जीवका मृत्युकालभी जीवकी ओरको उतनाही बढता है।

पञ्चभूत करके बनाहुआ जो शरीर है वह फिर पञ्चत्व पानेपर अपने २ कारणमें लीन होजाता है, तिसमें शोक क्यां ? (१) ॥ ७४ ॥

यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽपि निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥ ७५ ॥

जीव जितना मनका प्रिय सम्बन्ध करता है, उतनेही हृदयमें शोकके शंकु गडते जाते हैं (२) ॥ ७५ ॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते येन केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ७६ ॥

ऐसा अत्यन्तही मेल जिस किसी पुरुषके साथ नहीं, बरन् अपनी देहके साथभी नहीं रहसकता फिर औरके संग तो क्या ? ॥ ७६ ॥

अपि च–संयोगो हि वियोगस्य संसूचयति संभवम् ।
अनतिक्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवागमम् ॥ ७७ ॥

औरभी–अपरिहार जन्म मृत्युका समागम जैसे अवश्यही होता है, इसी प्रकारसे पुत्र मित्रादिका मिलन उन लोगोंसे वियोग अवश्य करता है ॥ ७७ ॥

आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।
अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोऽतिदारुणः ॥ ७८ ॥

---

(१) क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा । पंचरचित यह अधम शरीरा ॥ इन पांचोंको पांच भूत कहते हैं जीव देह इन पंचभूतोंसे बनकर फिर इनमेंही लीन होजाता है। पंचभूतोंका इस प्रकारसे मिलना अलग होनाही संसारका नियम है, सो इसमें शोक क्या ? ।

(२) इस संसारमें जो पुरुष जितने पुरुषोंके साथ स्नेह करता है वह अपने हृदयमें इतनेही शोकके भाले गाडता है अर्थात् उन प्यारोंके राग, शोक, वियोग उसको बहुत सतावे हैं ।

प्यारेके सहित प्रथमही सुखका देनेवाला जो मिलना है उसका अन्त कठिन होता है, जैसे कुपथ्य अन्नका परिणाम दारुण है (१) ॥ ७८ ॥

अपरं च-व्रजन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा।
आयुरादाय मर्त्यानां तथा रात्र्यहनी सदा ॥ ७९ ॥

औरभी-नदियोंके स्रोत जिस प्रकारसे बहजायकर फिर लौटकर नहीं आते, वैसेही रातदिन मनुष्योंकी परमायु ले जातेहैं, फिर लौटकर नहीं आते ॥ ७९ ॥

सुखास्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः।
स वियोगावसानत्वाद्दुःखानां धुरि युज्यते ॥ ८० ॥

पृथ्वीमें सुखदायक जो उत्तम पुरुषके संग मिलना है, वह पीछे वियोगके हेतुसे दुःखसमूहका देनेवाला होताहै (२) ॥ ८० ॥

अत एव हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम्।
यद्वियोगासिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम् ॥ ८१ ॥

इसीलिये उत्तम मनुष्यलोग साधुलोगोंके समागमकी वांछा नहीं करते, कारण कि, उनके वियोगरूप खडगसे कटाहुआ जो चित्त है उसकी औषधि नहीं है(३)८१॥

सुकृतान्यपि कर्माणि राजभिः सगरादिभिः।
अथ तान्येव कर्माणि ते चापि प्रलयं गताः ॥ ८२ ॥

---

(१) कुपथ्यके सेवन करनेसे प्रथम तो इन्द्रियोंको सुख होता है, परन्तु पीछेसे पीडा पाय मरना होता है, तैसेही पुत्रादिके प्रेमसे प्रथम सुख है, परन्तु अन्तमें उनहींके लिये प्राण जाते हैं।

(२) अर्थात् परम साधु मित्रके संगसे जितना आनन्द होता है, उसके वियोगमें उतनाही शोक होता है, इसीलिये कहावत है कि-" जितना हँसोगे उतनाही रोओगे " " प्रियवियोगसम दुख जग नाहीं "।

(३) इस जगत्में सब शोक भुलादिये जाते हैं; परन्तु परम साधु मित्रका शोक किसी प्रकार नहीं भुलाजाता. इसलिये ज्ञानी लोग साधुका संगभी नहीं करते "बिछुरत संत प्राण हरलेहीं"।

सगर इत्यादि राजा लोगोंने कार्य अच्छे किये थे, अनन्तर वे समस्त क्रियायें और वे सब राजालोगभी विनाशको प्राप्त हुए हैं ॥ ८२ ॥

संचिन्त्य संचिन्त्य तमुग्रदण्डं
मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
वर्षाम्बुसिक्ता इव चर्मबन्धाः
सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति ॥ ८३ ॥

वर्षाके जलसे गीला होकर चर्मका बंधन जिस प्रकार शिथिल होजाताहै, वैसेही उस उग्रदंडवाले यमका स्मरण करके साधुलोगोंके सर्व प्रयत्न शिथिल होजाते हैं ॥ ८३ ॥

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति
गर्भे निवासं नरवीर लोकः ।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः
स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ ८४ ॥

हे नरवीर ! जीव गर्भमें वास करके प्रथम रात्रिसे जो दुःख पाताहै तबसे लेकर प्रतिदिन बेरोक चलताहुआ वह मृत्युके निकट जाताहै ॥ ८४ ॥

अतः संसारं विचारय । शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः । पश्य-

और यही संसारका स्वभाव है, एकबार विचार करके देखो । देखतेही समझ जाओगे कि,—

अज्ञानं कारणं न स्याद्वियोगो यदि कारणम् ।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्धतामपयाति किम् ॥८५॥

शोक केवल अज्ञानका ही प्रपञ्चमात्र है (१) क्योंकि, जो अज्ञान शोकका

(१) 'अज्ञानप्रपञ्च' मोहजाल । लोग जिस अज्ञानजालसे मोहित हो शोक किया करते हैं उस मोहके परदेसे छूट जानेपर फिर शोकके वश होना नहीं पडता ।

हेतु नहीं हो, वियोगही कारण हो तो अधिक दिन जानेपर शोक बढनेके बदलेमें घटता क्यों है ? (१) ॥ ८५ ॥

तद्भद्रात्मानमनुसंधेहि । शोकचर्चां परिहर । यतः–

इसलिये भाई ! आत्मज्ञानको खोजो, शोककी चर्चा छोडो । कारण,–

अकाण्डपातजातानां गात्राणां मर्मभेदिनाम् ।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम् ॥ ८६ ॥ '

विना बाणके लगनेसे उत्पन्न और शरीरका मर्म भेदन करनेवाला ऐसा जो निबिड शोकरूप अस्त्रका प्रहार है, उसकी चिन्ताका न करना ही उत्तम औषधि है ८६'

ततस्तद्वचनं निशम्य प्रबुद्ध इव कौण्डिन्य उत्थायाब्रवीत्–'तदलमिदानीं गृहनरकवासेन । वनमेव गच्छामि' । कपिलः पुनराह–

उसके ये समस्त वचन सुनकर कौंडिन्य कुछ चैतन्यसा हुआ इसके उपरान्त वह उठकर बोला,–' घोर नरककी समान इस गृहस्थाश्रममें रहनेसे फल क्या है ? मैं गृह छोडकर वनमें जाता हूं ' । यह सुनकर कपिलने फिर कहा;–

' वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥ ८७ ॥

---

(१) जो प्यारी वस्तुके साथ वियोग होनेहीको शोकका कारण कहाजाय तो इस जगत्में किसीके शोककी सीमा नहीं रहै, क्योंकि इस संसारमें पल २ भरके अन्दर किसी न किसी प्यारी वस्तुसे वियोग होताही है । इसलिये शोकका कारण वियोग नहीं; एक केवल अज्ञानही शोकका कारण है; क्योंकि सहस्र २ वियोगमें भी ब्रह्मज्ञानी लोग शोकके अधीन नहीं होते ।

' रागी पुरुषोंको वनमेंभी दोष उत्पन्न होता है; घरमेंभी पांच इन्द्रियोंको जो दमन करना है वही तप है। जो पुरुष निन्दारहित कार्यको करता है उस वीतराग (१) पुरुषका घरही तपोवन है ॥ ८७ ॥

यतः-दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र कुत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ८८ ॥

कारण-सब प्राणियोंको समानदृष्टिसे देखनेवाला जो पुरुष है वह चाहे जिस आश्रममें रहे दुःखित होकरभी धर्माचरण करता है, क्योंकि रक्तवस्त्र (लालवस्त्र) धारणादि रूप चिह्न पुण्यजनक नहीं हैं (२) ॥ ८८ ॥

उक्तं-वृत्त्यर्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यपि तरन्ति ते ॥ ८९ ॥

कहाभी है कि,-प्राणधारण करनेके लिये जिनका भोजन है और सन्तानके लिये जिनका स्त्रीसंसर्ग है और यथार्थके लिये जिनका वचन है वे लोग विपत्तिको तरजाते हैं ॥ ८९ ॥

तथाहि-आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥ ९० ॥

औरभी-(उसका प्रमाण कहते हैं) आत्मा नदीस्वरूप है, इन्द्रियोंका जीतना पुण्यतीर्थस्वरूप है, शील किनारा है, दया तरंगस्वरूप है, हे युधिष्ठिर ! ऐसी नदीमें स्नान करो, अन्तःकरण केवल जलसे स्वच्छ नहीं होता (३) ॥ ९० ॥

---

(१) ' वीतराग ' जिसने संसारकी ममताको काट परमात्मामें चित्त लगाया ।
(२) आज कल तो यह चाल अधिक है कि;-" नारि मुई गृहसम्पति नाशी । मूँड मुँडाय भये संन्यासी ॥" (तुलसीदासकृतरामायण) ॥
(३) इन्द्रियोंका जीतना उस आत्मारूप नदीका घाट है अर्थात् उसमें प्रवेश करनेका मार्ग है । 'शील' पवित्रस्वभाव ... अर्थात् गाढ-

विशेषतश्च,–

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरुपद्रुतम्।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम्॥ ९१॥

विशेष करके–जन्म, मृत्यु, जरा, रोग, व्यथा, भय इन सबसे पराजित असार संसारको जो त्याग करताहै वही सुखी है॥ ९१॥

यतः–दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलक्ष्यते।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते॥ ९२॥'

कारण–दुःखही है सुख नहीं, क्योंकि यह उपलक्षित होताहै, दुःखका अनुभव जो नहीं करताहै उसकोही सुख कहते हैं॥ ९२॥'

कौण्डिन्यो ब्रूते–'एवमेव'। ततोऽहं तेन शोकाकुलेन ब्राह्मणेन शप्तः–'यदद्यारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि' इति। कपिलो ब्रूते–'संप्रत्युपदेशासहिष्णुर्भवान्। शोकाविष्टं ते हृदयम्। तथापि कार्यं शृणु–

यह समस्त उपदेश सुनकर कौडिन्यने कहा,–' हो ऐसाही है'। इसके उपरान्त उसने पुत्रके शोकसे अत्यन्त अधीर हो मुझको यह कहकर शाप दिया कि–'तू आजसे मेंडकोंका वाहन होगा'। कपिलने कहा–'तुम्हारा हृदय इस समय अत्यन्त शोकाकुल है, इस समय तुमको उपदेश देना वृथा है, तथापि जो कर्तव्य है वह सुनो–

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ९३'

–है। ('पाण्डुनन्दन' युधिष्ठिर! यह उपदेश महाभारतके शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहने युधिष्ठिरको दियाहै। उद्योगपर्वमें धृतराष्ट्रको विदुरजीनेभी ठीक ऐसाही समझाया है।)

सर्वप्रकारकी आसक्ति त्याग कर दे, परन्तु उसका (आसक्तिका) त्याग करनेमें सामर्थ्य नहीं होता । इसलिये साधुपुरुषोंका संग करना उचित है, क्योंकि श्रेष्ठोंका संगही औषधि है ॥ ९३ ॥

अन्यच्च—कामः सर्वात्मना हेयः स चेद्धातुं न शक्यते ।
स्वभार्यां प्रति कर्तव्यः सैव तस्य हि भेषजम् ॥ ९४'

औरभी—काम सदा त्याग करनेके योग्य है, जो उसको त्याग करनेकी सामर्थ्य न हो तो अपनी स्त्रीके साथ करै, क्योंकि यही उसकी औषधि है ॥ ९४ ॥'

एतच्छ्रुत्वा स कौण्डिन्यः कपिलोपदेशामृतं प्रशान्तशोकानलो यथाविधि दण्डग्रहणं कृतवान् । अतोऽहं ब्राह्मणशापान्मण्डूकान्वोढुमत्र तिष्ठामि'। अनन्तरं तेन मण्डूकेन गत्वा मण्डूकनाथस्य जालपादनाम्नोऽग्रे तत्कथितम् । ततोऽसावागत्य मण्डूकनाथस्तस्य सर्पस्य पृष्ठमारूढवान्। स च सर्पस्तं पृष्ठे कृत्वा चित्रपदक्रमं बभ्राम ।

कपिलका इस प्रकार उपदेशामृत पान करके क्रम क्रमसे कौडिन्यकी शोकाग्नि शान्त हुई । उसने यथाविधिसे दण्ड ग्रहण करके संसारका त्याग किया । तबसे मैं उस ब्रह्मशापसे मेंडकोंको पीठपर चढानेके लिये यहांपर स्थित होरहाहूं ' । इसके उपरान्त उस मण्डूकने मण्डूकराज जालपादके निकट जाय उसे यह समाचार दिया । मण्डूकराज यह समाचार पाय, वहां आय उस सांपकी पीठपर चढा । सर्पभी उसको पीठपर चढाय विचित्र चालकी चतुरता दिखाय विचरने लगा ।

ततोऽपरेद्युश्चलितुमसमर्थं तं मण्डूकनाथोऽवदत्—'किमद्य भवान्मन्दगतिः ?'। सर्पो ब्रूते—'देव ! आहारविरहादसमर्थोऽस्मि । मण्डूकनाथोऽवदत्—

'अस्मदाज्ञया मण्डूकान्भक्षय'। ततः 'गृहीतोऽयं महाप्रसादः' इत्युक्त्वा क्रमशो मण्डूकान् खादितवान्। अतो निर्मण्डूकं सरो विलोक्य मण्डूकनाथोऽपि तेन खादितः। अतोऽहं ब्रवीमि- 'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्' इत्यादि॥

दूसरे दिन मण्डूकराजने सर्पको चलनेमें सामर्थ्यहीन देखकर कहाः-'आज तुम धीरे २ क्यों चलते हो?'। सर्पने कहा,-'महाराज! अनाहारसे दुर्बल हुआहूं'। मण्डूकराजने कहा,-'हमारी आज्ञासे तुम कई एक मण्डूक खाओ'। 'आपका यह महाप्रसाद मैंने शिरपर धारण किया' यह कहकर वह क्रमसे मंडूकोंको भक्षण करने लगा। क्रमसे जब सरोवरके समस्त मैंडक चुकगये, तब उसने उस मंडूकराजको भी भक्षण किया। इसीलिये मैं कहताहूं कि-'बुद्धिमान् पुरुष अपने कार्यके लिये शत्रुकोभी कंधेपर लेकर' इत्यादि।

'देव! यात्विदानीं पुरावृत्ताख्यानकथनम्। सर्वथा संधेयोऽयं हिरण्यगर्भो राजा सन्धीयतामिति मे मतिः'। राजोवाच-'कोऽयं भवतो विचारः। यतो जितस्तावदयमस्माभिस्ततो यद्यस्मदाज्ञया सेवायां वसति तदास्तां नो चेद् विगृह्यताम्'। अत्रान्तरे जम्बूद्वीपादागत्य शुकेनोक्तम्-'देव! सिंहलद्वीपस्य सारसो राजा संप्रति जम्बूद्वीपमाक्रम्यावातिष्ठते'।

'हे महाराज! इस समय इन सब पौराणिक कथाओंकी आलोचना रहै। राजा हिरण्यगर्भ सब प्रकारसे सन्धिका योग्य पात्र है; इसलिये हमारी सम्मतिमें तो उसके साथ सन्धि करनाही कर्त्तव्य है'। राजा चित्रवर्णने कहा,-'आपका यह क्या विचार है? हमलोगोंने जब कि, उसको पराजित कियाहै तब तो वह जो हमारी आज्ञाके अधीन हो हमारी सेवामें नियुक्त रहै तबही वह रक्षा पावेगा, नहीं

तो युद्ध करना होगा '। इसी अवसरमें जम्बूद्वीपसे शुकने आयकर समाचार दिया,- महाराज ! सिंहलद्वीपका राजा सारस अब सेनासाहित जम्बूद्वीपको घेरे पडाहुआ है '।

राजा ससंभ्रमं ब्रूते-' किंकिम् ?' । शुकः पूर्वोक्तं कथयाति । गृध्रः स्वगतमुवाच-' साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन् ! सर्वज्ञ ! साधुसाधु '। राजा सकोपमाह-' आस्तां तावदयम् । गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि ' । दूरदर्शी विहस्याह-

यह सुनकर राजा घवडायकर बोला,-' क्या ? क्या ? ' । तोतेने फिर वैसाही कहा । गिद्ध मनही मन कहनेलगा,-' मंत्रिन् ! चक्रवाक ! सर्वथा तुम्हारी बुद्धिकौशलको धन्य है २ ! ! '। राजाने इस समाचारसे अत्यन्त क्रोधित होकर कहा,- ' इस समय यह हिरण्यगर्भ रहै, पहले जायकर उस राजा सारसकोही उखाडूं'। यह सुन मंत्री दूरदर्शीने हँसकर कहा,-

' न शरन्मेघवत्कार्यं वृथैव घनगार्जितम् ।
परस्यार्थमनर्थं वा प्रकाशयाति मो महान् ॥ ९५ ॥

' शरत्कालके मेघकी समान निरर्थक गर्जन करना उचित नहीं, उत्तम पुरुष पराये कार्यको वा अकार्यको प्रकाश नहीं करता ॥ ९५ ॥

अपरं च-एकदा न विगृह्णीयाद्बहून्राजाऽभिघातिनः ।
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम् ॥ ९६ ॥

औरभी-एक कालमेंही राजा अनेक राजाओंके साथ विग्रह न करै. क्योंकि, बलवान् सर्पभी बहुत सारे कीडोंकरके अवश्य नष्ट होताहै ॥ ९६ ॥

देव ! किमिति विना संधानं गमनमस्ति ? यतस्तदाऽस्मत्पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्तव्यः । अपरं च-

महाराज ! विना सन्धि स्थापन किये इस स्थानसे जानेकी क्या सामर्थ्य है ? कारण कि, वैसा होनेसे ये शत्रुलोग हमारे पीछे चढ धावेंगे । और—

योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः।
स तथा तप्यते मूढो ब्राह्मणो नकुलाद्यथा ॥ ९७ ॥'

जो पुरुष यथार्थ निरूपण न करके कोपके ही वश होताहै, वह पुरुष ऐसा संतापित होताहै, जैसा मूर्ख ब्राह्मण न्यौलेसे व्याकुल हुवा था ॥ ९७ ॥'

राजाऽऽह–'कथमेतत् ?'। दूरदर्शी कथयति–

राजाने पूछा;–' यह कैसे ?'। दूरदर्शीने कहा—

कथा १२.

अस्त्युज्जयिन्यां माधवो नाम विप्रः। तस्य पत्नी ब्राह्मणी प्रसूता। बालापत्यस्य रक्षार्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य स्नातुं गता। अथ ब्राह्मणाय राज्ञः पार्वणश्राद्धं दातुमाह्वानमागतम्। तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणः सहजदारिद्याद‌चिन्तयत्–'यदि सत्वरं न गच्छामि तदाऽन्यः कश्चिच्छ्रुत्वा श्राद्धं ग्रहीष्यति। यतः–

उज्जयिनी नगरीमें माधवनाम एक ब्राह्मण था। उसकी ब्राह्मणीने एक पुत्र जना एकदिन ब्राह्मणी शिशुसन्तानके रक्षणार्थ ब्राह्मणको घरमें रखकर स्नान करने गई। उसी अवसरमें राजाके पार्वणश्राद्धका दान ग्रहण करनेके लिये इस ब्राह्मणको बुलावा आया। राजाका निमंत्रण पाय ब्राह्मण अपनी दरिद्रताके हेतुसे मनही मन विचारताभया;–' जो शीघ्र नहीं जाऊं तो और कोई जायकर यह दान ग्रहण करलेगा। कहाभी है कि;—

आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥९८॥

धनादिका ग्रहण और दान और अन्य २ कारणोपयुक्त कर्म इन सबको जो शीघ्र नहीं किया जाय तो काल उनका रस पान करताहै (१) ॥ ९८ ॥

(१) अर्थात् लेन देनको साकेन करके उसमें जितनी देर की [illegible]

किं तु बालकस्यात्र कोऽपि रक्षको नास्ति । तत्किं करोमि ? यातु । चिरकालपालितमिमं नकुलं पुत्रनिर्विशेषं बालकरक्षायां व्यवस्थाप्य गच्छामि'। तथा कृत्वा गतः । ततस्तेन नकुलेन बालकसमीपमागच्छन् कृष्णसर्पो दृष्टस्तं व्यापाद्य कोपात्खण्डं खण्डं कृत्वा खादितः ।

परन्तु यहांपर इस बालकका रक्षक कोई नहीं, इसालिये क्या करूं ? अपने इस न्योलेको हमने सदासे सन्तानकी समान पालन किया है, इसलिये इसकोही इस बालककी रक्षामें नियुक्त करके जाऊं '। इसके उपरांत ब्राह्मण न्यौलेको बालककी रक्षामें नियुक्त करके गया । कुछ देरके पीछे न्यौलेने एक काला सांप उस बालकके धोरे आता देखकर उसे मार क्रोधसे उसके टुकडे २ कर खागया ।

ततोऽसौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमवलोक्य रक्तविलिप्तमुखपादः सत्वरमुपागम्य तच्चरणयोर्लुलोठ । ततः स विप्रस्तथाविधं तं दृष्ट्वा बालकोऽनेन खादित इत्यवधार्य नकुलं व्यापादितवान् ।

इसके उपरान्त ब्राह्मणको लौटताहुआ देख यह न्यौला रुधिरसे मुख और चरणमें सना उसके निकट दौड जायकर उसके चरणोंमें लोटने लगा । ब्राह्मणने न्यौलेका मुख और पैर रुधिरसे सने देख निश्चय किया कि, इसने हमारे बालक सतानको खाय लिया है । उसने उसी समय उस न्यौलेका प्राणसंहार किया ।

अनन्तरं यावदुपसृत्यापत्यं पश्यति ब्राह्मणस्तावद्बालकः सुस्थः सर्पश्च व्यापादितस्तिष्ठति । ततस्तमुपकारकं नकुलं निरीक्ष्य भावितचेताः स परं विषादमगमत । अतोऽहं ब्रवीमि-'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय' इत्यादि ॥

फिर जब जायकर देखा तो; बालक स्थिर हो सोरहा है और उसके निकट एक काला सांप टुकडे २ होकर मरा पडा है, तब वह ब्राह्मण उपकारी न्यौलेको देख व्याकुलचित्त हो दारुण संतापसे भस्म होनेलगा॥ इसीलिये मैं कहताहूं कि,-'यथार्थ निरूपण न करके' इत्यादि।

अपरं च-कामः क्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी भवेत्॥ ९९॥'

औरभी-काम, क्रोध, मोह, लोभ, मात्सर्य, मद इन छः वर्गको छोडदे. इनके त्यागसे सुखी होता है॥ ९९॥'

राजाऽऽह'मंत्रिन्! एष ते निश्चयः?'। मन्त्री ब्रूते-'एवमेव। यतः-

राजाने पूछा,-'मंत्री! संधि करनाही क्या आपने दृढ निश्चय कियाहै?'। मंत्रीने कहा,-'हां यही हमारा दृढ निश्चय है। कारण,-

स्मृतिश्च परमार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिणः परमो गुणः॥ १००॥

उत्तम कार्यके विषयमें स्मरण, वितर्क, अवधारण, दृढता अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय और छिपकर मंत्रणा करना ये सब सचिवके बडे गुण हैं॥१००॥

तथा च-सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिण
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥ १०१॥

औरभी-अकस्मात् कभी कार्य न करै, क्योंकि विवेचनासे हीन कार्य अत्यन्त विपद्का स्थान है और परामर्शपूर्वक कार्य करनेवालेको गुणलोभी सम्पत्तियां आपही प्राप्त होजाती हैं (१)॥ १०१॥

(१) मूल श्लोक भारविकवि-प्रणीत किरातार्जुनीय काव्यके दूसरे सर्गमें है।

तद्देव ! यदिदानीमस्मद्वचनं श्रूयते तत्सन्धाय गम्यताम् । यतः-

इस कारण हे महाराज ! जो आप हमारी मंत्रणा सुने तो सन्धि करके गमन कीजिये । कारण,-

यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ।
संख्यामात्रं फलं तेषां सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता १०२'

कार्यके सिद्ध करनेमें यद्यपि चार उपाय कहे गये हैं, तथापि उनका फल केवल गिनतीको है, सिद्धि साम उपायमेंही स्थित है ॥ १०२ ॥'

राजाऽऽह-'कथमेवं सत्वरं संभवति ?' । मन्त्री ब्रूते- 'देव ! सत्वरं भविष्यति । यतः-

राजाने कहा,-' इतनी जलदी सन्धिका करना किस प्रकारसे सम्भव है ?'। मंत्री बोला,-' महाराज ! शीघ्रही संधिको करादूंगा । कारण,-

मृद्घटवत्सुखभेद्यो दुस्सन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद्दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥ १०३ ॥

दुष्ट पुरुष मट्टीके बरतनकी समान है, जो कि सहजसेही टूटजाता है और अतिदुःखसे मेल करताहै, साधुपुरुष सुवर्णके पात्रकी समान है, कठिनतासे टूटता है, परन्तु शीघ्रतासे जुडजाता है ॥ १०३ ॥

अपरं च-

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति ॥१०४ ॥

औरभी-अज्ञानी पुरुष सहजसेही उपासना करनेके योग्य होताहै, विशेषज्ञ पुरुष भी अति शीघ्र मिलालियाजाताहै । (परन्तु) जो बुद्धिका लेशमात्रसे दुराग्रही है उस मनुष्यको ब्रह्माभी अनुरागी नहीं करसकता (१) ॥ १०४ ॥

---

(१) थोडी विद्या अति भयानक है; बरन् अज्ञान रहना अच्छा । अल्पविद्या तो केवल गर्वहीको बढाती है । इसलिये अल्प शिक्षित पुरुषको कोई नहीं समझाय सकता । "मूरखहृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचिसम ।"

विशेषतश्चायं धर्मज्ञो राजा सर्वज्ञो मन्त्री च । ज्ञातमेतन्मया पूर्वं मेघवर्णवचनात्तत्कृतकार्य-संदर्शनाच्च । यतः-

विशेषकरके यह राजा हिरण्यगर्भ अत्यन्त धार्मिक है और उसका मंत्रीभी सब भाँति ज्ञानसे विभूषित है, हमने यह मेघवर्णकी बातोंसे पहलेही जानलियाहै और उसका कर्म देखकरभी यह समझाहै। क्योंकि,-

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्मानुभाव्यते ॥१०५॥'

सर्वत्र परोक्षमें कर्मके द्वारा गुणका अनुमान होताहै, इसी हेतुसे फलद्वारा कर्मका अनुभव कर्तव्य है (१)॥ १०५॥'

राजाऽऽह-'अलमुत्तरोत्तरेण। यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्'। एतन्मन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री 'तत्र यथार्हं कर्तव्यम्' इत्युक्त्वा दुर्गाभ्यन्तरं चलितः। ततः प्रणिधिना बकेनागत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितम्-'देव! सन्धिं कर्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्मत्समीपमागच्छति'।

राजाने कहा;-' तब फिर प्रश्नोत्तरका प्रयोजन नहीं, आपकी जो इच्छा हो कीजिये '। इस प्रकार मन्त्रणा कर महामन्त्री गिद्ध बोला,-' इस विषयमें जो कर्त्तव्य है, करताहूं '। यह कह गढके भीतर प्रवेश किया। इस ओर उस गुप्तचर बगलेने आयकर राजा हिरण्यगर्भको समाचार दिया;-' महाराज! महामन्त्री गिद्ध सन्धि स्थापन करनेके लिये हमारे निकट आता है '।

---

(१) जिस स्थानमें दूसरेके कार्यको देखनेकी संभावना नहीं हो; वहांपर फल देखकरही उसके उस कार्यको समझले। इस कारण राजहंसका भला होना मेघवर्णके प्रति उसके सरल व्यवहारसे ही पायाजाता है।

राजहंसो ब्रूते-' मन्त्रिन् ! पुनः संबन्धिना केनचिदत्रागन्तव्यम् '। सर्वज्ञो विहस्याह-' देव ! न शङ्कास्पदमेतत् । यतोऽसौ महाशयो दूरदर्शी, अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम् । कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते । कदाचित्सर्वत्र शंका । तथा हि-

राजहंसने कहा,-' जानपडता है कि, मेघवर्णकी समान कोई सबका नाश करनेके आशय कपटी बन्धु होकर आया है '। यह सुन सर्वज्ञ मन्त्रीने हँसकर कहा,-' महाराज ! इसमें अब वैसी आशंका न कीजिये. कारण कि, यह दूरदर्शी मन्त्री अति महात्मा हैं । अथवा थोडी बुद्धिवाले पुरुषोंका स्वभाव ही यह है कि-कभी तो एक बार भी शंका नहीं करते और कभी सबमेंही शंका करते हैं । देखिये,-

सरसि बहुशस्ताराच्छाये क्षणात्परिवञ्चितः
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः ।
न दशति पुनस्ताराशंकी दिवापि सितोत्पलं
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते ॥१०६॥

बुद्धिमान् हंस कुमुद (बवूला) मृणालको ढूंढते २ रात्रिके समय सरोवरमें अनेक तारागणोंका प्रतिबिम्ब देखनेसे ठगाय, दिनके समयभी तारागणोंकी शंकासे युक्त हो श्वेतकमलकोभी नहीं काटता, क्योंकि कपटसे ठगाहुआ पुरुष यथार्थमेंभी विपद्की शंका करता है (१) ॥ १०६ ॥

अपि च-दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति १०७॥

और देखो-दुष्ट पुरुषकरके दूषित अन्तःकरणवाले पुरुषका सुजनमें भी विश्वास नहीं होता; दूधसे जलाहुआ जो बालक है वह दहीकोभी फूंक २ कर खाता है । कहावत है कि, ' दूधका जलाहुआ छांछ फूंक २ पीता है ' ॥ १०७ ॥

---

(१) हंसगण कुमुद और कमल फूलोंकी डंडिये खाया करते हैं ।

तद्देव ! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादि-सामग्री सुसज्जीक्रियताम्'। तथाऽनुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोपगम्य सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो दत्तासने चोपविष्टः। चक्रवाक उवाच-' युष्मदायत्तं सर्वम् । स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम्'। राजहंसो ब्रूते-'एवमेव '। दूरदर्शी कथयति-' एवमेवैतत् । किं त्विदानीं बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम् । यतः-

इसलिये हे महाराज ! उस मन्त्रिश्रेष्ठका यथाविधिसे सन्मान करनेके लिये रत्नादि उपहारसामग्री यथासाध्य सज्ज कर रखिये '। इसके उपरांत उसके सत्कारके लिये समस्त तैयारियां हुईं । चक्रवाक दुर्गके द्वारतक जाय, गिद्धमन्त्रीको आदरपूर्वक लेआय, राजाके सहित साक्षात् करदिया । राजाके दिये आसनपर गिद्धके बैठनेके पीछे चक्रवाकने कहा-' मंत्रिन्! इस स्थानमें सबकोही आप अपना समझें, यह राज्य आप इच्छानुसार भोग करें '। राजा राजहंसने कहा,-' सत्यही यह समस्त आप अपनाही जानें '। दूरदर्शी गिद्ध बोला,-' इसमें फिर सन्देह क्या है ? किंतु इस समय अधिक बातोंके आडम्बरका प्रयोजन नहीं है, कारण,-

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्स्तब्धमञ्जलिकर्मणा ।
मूर्खं छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥१०८॥

लोभी पुरुषको धनसे, गर्वित पुरुषको हाथ जोडकर, मूर्खको छन्दसे और पांडितको यथार्थ कहकर वश करै ॥ १०८ ॥

अन्यच्च-सद्भावेन हरेन्मित्रं संभ्रमेण तु बान्धवान् ।
स्त्रीभृत्यौ दानमानाभ्यां दाक्षिण्येनेतराञ्जनान् १०९

औरभी,-मित्रको प्रीतिसे, बांधवको सन्मानसे, स्त्री सेवकको दानसे और नीच पुरुषको सरलतासे वश करै ॥ १०९ ॥

तदिदानीं संधाय गम्यताम् । महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा'। चक्रवाको ब्रूते-'यथा संधानं कार्यं तदप्युच्यताम्' । राजहंसो ब्रूते-'कति प्रकाराः संधीनां संभवन्ति ?'। गृध्रो ब्रूते-'कथयामि । श्रूयताम् ।

इसलिये इस समय सन्धि स्थापन करके निस्तार प्राप्त कीजिये । कारण कि, महाराज चित्रवर्ण अति प्रतापशाली हैं । चक्रवाकने कहा,-'जैसी संधि करनी हो उसकी आज्ञा कीजिये ।' राजहंसने पूछा,-' सन्धि कै प्रकारकी है ?' । गिद्ध बोला-कहताहूं, सुनो-

बलीयसाऽभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः ।
आपन्नः संधिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम् ॥११०

बलवान्करके अभियुक्त राजा, उसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ हो विपद्में काल बिताता हुआ सन्धि करनेकी चेष्टा करे ॥ ११० ॥

कपाल उपहारश्च संतानः संगतस्तथा ।
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः॥१११॥
अदृष्टनर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपग्रहः ।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः ॥११२॥
स्कन्धोपनेयः संधिश्च षोडशैते प्रकीर्तिताः ।
इति षोडशकं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः ॥११३॥

(१) कपाल, (२) उपहार, (३) सन्तान, (४) संगत, (५) उपन्यास, (६) प्रतीकार, (७) संयोग, (८) पुरुषान्तर, (९) अदृष्टनर, (१०) आदिष्ट, (११) आत्मादिष्ट, (१२) उपग्रह, (१३) परिक्रय, (१४) उच्छिन्न, (१५) परभूषण, (१६) स्कन्धोपनेय ये सोलह प्रकारकी सन्धि हैं । सन्धितत्त्वके जाननेमें चतुर पंडितलोगोंने ये सोलह प्रकारकी सन्धि कहीहै १११-११३

कपालसन्धिर्विज्ञेयः केवलं समसन्धितः।
संप्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते ॥ ११४ ॥

केवल समानतासे जो मेल होता है उसको 'कपाल' सन्धि जानना चाहिये, धनादिसे जो सन्धि हो उसको 'उपहार' कहते हैं ॥ ११४ ॥

संधानसंधिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः।
सद्भिस्तु सङ्गतः संधिर्मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ११५ ॥

कन्यादि देकर जो मेल हो वह 'सन्तान' सन्धि और मित्रतापूर्वक जो सन्धि हो, उसको पंडित लोग 'संगत' संधि कहते हैं ॥ ११५ ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः।
संपत्तौ वा विपत्तौ वा कारणैर्यो न भिद्यते॥११६॥

समस्त जीवनतक दोनोंही एक विषय, एक प्रयोजनसे संपत्तिमें या विपत्तिमें हो या किसी कारणके होनेसे भी भिन्न नहीं होते ॥ ११६ ॥

संगतः संधिरेवायं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत्।
तथाऽन्यैः संधिकुशलैः काञ्चनः स उदाहृतः॥११७॥

यह संगतसन्धि उत्तमताके हेतुकरके सुवर्णकी समान है, इसलिये सन्धिके जाननेवाले पुरुष इसको 'काञ्चन' सन्धि कहते हैं ॥ ११७ ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ ११८ ॥

अपने कार्यकी सिद्धिका उद्देश्यकरके जो मेल कियाजाताहै उसको उपन्यास-कुशललोग 'उपन्यास' सन्धि कहते हैं ॥ ११८ ॥

मयाऽस्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति।
इति यः क्रियते संधिः प्रतीकारः स उच्यते॥११९॥

हमने पहले इसका उपकार कियाहै, यह हमाराभी उपकार करैगा इस अभि-प्रायसे सन्धि करनेका नाम 'प्रतीकार' है ॥ ११९ ॥

उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति।
अयं चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ १२० ॥

मैं इसका उपकार करताहूं, यह मेरा उपकार करेगा, यह जो 'प्रतीकार' संधि है, यह रामचन्द्रजी और सुग्रीवकी समान है (१) ॥ १२० ॥

एकार्थी सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छाति ।
सुसंहितप्रमाणस्तु स च संयोग उच्यते ॥ १२१ ॥

जहांपर एक कार्यको उद्देश्यकरके उसके प्रमाणके सहित गमन कियाजाता है इसको 'संयोग' संधि कहते हैं ॥ १२१ ॥

आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यतामिति ।
यस्मिन्पणस्तु क्रियते स संधिः पुरुषान्तरः १२२ ॥

हम दोनोंके मुख्य सेनापतिलोग हमारे कार्यको साधें, यह कहकर जिसमें पण कियाजाय उस संधिको 'पुरुषान्तर' नाम है ॥ १२२ ॥

त्वयैकेन मदीयोऽर्थः संप्रसाध्यस्त्वसाविति ।
यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥१२३ ॥

केवल तुमसे हमारा यह कार्य सुसाध्य होगा, इस प्रकारका पण जिस स्थानमें शत्रु करै उसको 'अदृष्टपुरुष' सन्धि कहते हैं ॥ १२३ ॥

यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जितः ।
संधीयते संधिविद्भिः स चादिष्ट उदाहृतः ॥ १२४ ॥

जहां शत्रुकरके छोडे हुए भूमिके एकदेशके पणसे जो मेल होता है उसको 'आदिष्ट' सन्धि कहते हैं ॥ १२४ ॥

स्वसैन्येन तु संधानमात्मादिष्ट उदाहृतः ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १२५ ॥

अपनी सेनाके सहित शत्रुके संगममें जो मेल करता है उसको 'आत्मादिष्ट' संधि कहते हैं । जीवनरक्षाके कारण सर्वस्व देकर जो मेल करता है उसको 'उपग्रह' संधि कहते हैं ॥ १२५ ॥

---

(१) श्रीरामचन्द्रजी वालीका वध करके उससे राज्य ले सुग्रीवको देंगे और सुग्रीवजीभी रावणके वधका उपाय करके सीताजीका उद्धार कर उन्हें श्रीरामचन्द्रजीको देंगे; दोनोंमें इस प्रकारसे पण होकर मित्रताई व सन्धि हुई थी; इस सन्धिका नाम 'प्रतीकार' है ।

कोशांशेनार्धकोशेन सर्वकोशेन वा पुनः।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १२६ ॥

अवशिष्ट प्रकृतिकी रक्षाके लिये कोशके (खजानेके) कुछ सुवर्ण या चांदीके दानसे, या आधे सुवर्ण चांदीके द्रव्य देनेसे अथवा समस्त चांदी सुवर्ण देनेसे जो मेल कियाजाता है, उसको 'परिक्रय' संधि कहते हैं ॥ १२६ ॥

भुवां सारवतीनां तु दानादुच्छिन्न उच्यते।
भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषणः ॥ १२७ ॥

उत्तम भूमिदान करनेसे जो सन्धि होती है उसको 'उच्छिन्न' संधि कहते हैं। भूमिके उत्पन्न हुए सब फलोंके दान करनेसे जो मेल होता है उसका नाम 'परभूषण' है ॥ १२७ ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं संधिविचक्षणाः॥१२८॥

जिस स्थानमें भूमिसे उत्पन्न हुए फलको गिन २ कर कन्धेपर धर लेजाय देते हैं; संधि जाननेवाले पंडित लोग उसको 'स्कन्धोपनेय' संधि कहते हैं ॥ १२८ ॥

परस्परोपकारास्तु मैत्री सम्बन्धकस्तथा।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव सन्धयः ॥ १२९ ॥

और परस्पर उपकार करना, मित्रता, सम्बन्ध व उपहार येभी (१) चार प्रकारकी संधि होती हैं ॥ १२९ ॥

एक एवोपहारस्तु संधिरेव मतो मम।
उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्रविवर्जिताः ॥ १३० ॥

हमारी सम्मतिमें तो उपहारही एक संधि है, क्योंकि उपहारके विना समस्त संधिही मित्रतारहित हैं ॥ १३० ॥

---

(१) ऊपर जो सोलह प्रकारकी सन्धि कही गई वे मुख्यकरके चार भागोंमें विभक्त की जासकती हैं। यथाः—१—परस्पर एक दूसरेका उपकार करनेको तैयार होना। २—परस्पर मित्रता स्थापन करना। ३—कन्यादानादिसे परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध करना। ४—भूमि, धन इत्यादि दान करना। 'उपहार' अर्थात् प्रबल शत्रुको धनादि देकर उससे झगडा निबटाना ॥

अभियोगी बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्तते ।
उपहारं विना तस्मात्संधिरन्यो न विद्यते ॥१३१॥'

और अभियोगी अर्थात् वादी बलसे राज्य ग्रहण न करके नहीं लौटता इसलिये उपहारके विना और प्रकारकी संधि नहीं है ॥ १३१ ॥'

राजाऽऽह-'भवन्तो महान्तः पण्डिताश्च । तदत्रास्माकं यथाकार्यमुपदिश्यताम्'।

राजा राजहंस बोलाः-'आप लोग परमपंडित हैं, इस कारण इस विषयमें हमको जो कुछ करना पडेगा आप उसका उपदेश कीजिये'।

दूरदर्शी ब्रूते-'आः ! किमेवमुच्यते ?

दूरदर्शीने कहा-'आः ! क्या कहें देखिये ?।

आधिव्याधिपरीतापादद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥ १३२ ॥

मानसिकपीडा, रोग और सन्तापके मारे आज या कलको नाश होनेवाला जो शरीर है, उसके कारण कौन पुरुष अधर्माचरण करेगा ? ॥ १३२ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥१३३॥

शरीरधारियोंका जीवित जलके बीच परछाईं पडे चन्द्रमाकी समान चंचल है यह निश्चय है, इस कारण ऐसा जानकर सदा पुण्यका आचरण करना योग्य है१३३

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यमापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः । प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां धर्मः सखा परमहो परलोकयाने ॥ १३४ ॥

पवनके वेगसे बादल जिस प्रकार छिन्नभिन्न होजाते हैं ऐसेही पृथ्वीका राज्य है और विषयका भोगभी थोडीही देरके लिये मधुर है, तिनकेकी नोंकपर जल- बिन्दुकी समान मनुष्योंके प्राण हैं, इससे केवल धर्मही परलोकके लिये परम सखा है ॥ १३४ ॥

मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम्।
सज्जनैः संगतं कुर्याद्धर्माय च सुखाय च॥ १३५॥

मृगतृष्णाकी समान संसारको क्षणविध्वंसी जानकर धर्मके कारण और सुखके लिये साधुपुरुषोंका संग करै (१)॥ १३५॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम्। यतः-

इसलिये हमारी समझमें तो वैसाही करना उचित है। कारण-

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते॥ १३६॥

सहस्र अश्वमेध यज्ञ और सत्यवचन ये दोनों तराजूपर धरे हुए हैं, इन दोनोंमें सहस्र अश्वमेधसे सत्यही बढकर हुआ (२)॥ १३६॥

---

(१) 'मृगतृष्णा' रेतीली भूमिमें मैदानोंमें तिरछी सूर्यकिरणोंके आन्दोलनसे दृष्टिभ्रम उत्पन्न होता है और सन्मुख नदी, तलैया, वन, उपवन, अटारियें इत्यादि ठीक जान पडती हैं। पुरुष इस झूंठे लोभसे मोहित हो धीरे २ उस ओरको बढता है, और पीछेसे निराश व व्याकुल हो मृत्युके मुखमें पडता है, इस मायामय संसारका स्वभाव वैसाही है अर्थात् पुरुष उसमें मोहित होकर पीछेसे नष्ट होता है।

(२) यह श्लोक महाभारतके आदिपर्वके बीच दुष्यन्तोपाख्यानमें अविकल है, वाल्मीकिरामायणके अयोध्याकाण्डके मध्य कौशल्याजीके विलापमें इस प्रकारसे है-यथा-" श्लोकश्चायं महाराज पौराणः प्रथितः क्षितौ। सत्यं पुरा तुलयता स्वयं गीतः स्वयम्भुवा॥ अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। तुलयित्वा तु पश्यामि सत्यमेवातिरिच्यते॥" हे महाराज! यह पौराणिकश्लोक भी जगत्में प्रसिद्ध है; पूर्वकालमें स्वयं ब्रह्माजीने सत्यको तराजूपर धरकर यह श्लोक गाया था कि, हमने सहस्र अश्वमेध और एक सत्य तराजूकी डंडीपर तोला तो सहस्र अश्वमेधसे सत्यही भारी हुआ।

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरयोरप्यनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानसंधिर्विधीयताम् ' । सर्वज्ञो ब्रूते-'एवमस्तु' । ततो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालंकारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः ।

इसलिये उस सत्यकोही अङ्गीकार करके इन दोनों राजाओंके बीच परस्पर काञ्चन (१) नामक सन्धि स्थापित होवै ' । सर्वज्ञ मन्त्रीने कहा,-' ऐसाही हो ' । इसके उपरान्त बडे मोलके अलंकार वस्त्र इत्यादि उपहारसे यथाविधि पूजित हो वह दूरदर्शी गिद्ध मन्त्री पुलकित चित्तसे चक्रवाक मन्त्रीको सङ्ग ले मयूरराजाके समीप पहुँचा ।

तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं संभाषितस्तथाविधं संधिं स्वीकृत्य राजहंससमीपं प्रस्थापितः । दूरदर्शी ब्रूते-'देव! सिद्धं नः समीहितम् । इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्य प्रतिगम्यताम् । अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य मनोऽभिलषितं फलं प्राप्नुवन्तु'इति।

वहां मयूरराजनेभी गिद्ध मन्त्रीके वचनसे उस सर्वज्ञनामक चक्रवाकके प्रति उचित सन्मान दिखाया । और उसके साथ यथोचित वार्त्तालाप करनेपर उस सन्धिमें सम्पूर्ण सम्मति दिखाय उसको बिदा किया । तब दूरदर्शीने कहा;- 'महाराज! हम लोगोंका अभिलाष पूर्ण हुआ. अब चलिये, अपने देश विन्ध्याचलको फिर चलें, इसके पीछे सबही अपने देशमें पहुंचकर अभिलषित फलको प्राप्त होवें ।'

विष्णुशर्मणोक्तम्-'अपरं किं कथयामि ? कथ्यताम्'। राजपुत्रा ऊचुः-'आर्य्य ! तव प्रसादात्

(१) काञ्चननामक सन्धि,-पूर्ववर्ती ११५ । ११६ । ११७ श्लोक देखना ।

राज्यव्यवहाराङ्गं ज्ञातम्। ततः सुखिनो वयम्'।

विष्णुशर्मोवाच–'यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदमस्तु–

विष्णुशर्म्माने कहा,–'और क्या कहूं ? वह कहिये'। राजपुत्रोंने कहा,–' आर्य ! हमलोग आपके प्रसादसे राजनीतिके सब अङ्गही जान गये'। विष्णुशर्माने कहा– ' यद्यपि ऐसा है तोभी हम यह आशीर्वाद करते हैं कि–

संधिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु प्रमोदः सदा
सन्तः सन्तु निरापदः सुकृतिनां कीर्तिश्चिरं वर्धताम्।
नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः॥ १३७॥'

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते हितोपदेशे संधिर्नाम
चतुर्थः कथासंग्रहः सम्पूर्णः॥

सब राजा सदा परस्पर एकता रक्खें, विनयशाली पुरुषोंको प्रतिक्षणपर आमोद हो, सज्जन आपत्तिरहित हो और सुकृतिमान् लोगोंकी कीर्ति उत्तरोत्तर बढें, वारांगनाकी समान नीति सदा छातीसे लगी रहकर मन्त्री लोगोंका मुख चूमें इस प्रकारसे प्रति दिन महोत्सव हो॥ १३७॥'

हितोपदेशमें सन्धिनामक चौथी कथाका संग्रह समाप्त हुआ॥

दोहा–श्रावणकृष्णतृतीया, निशानाथको वार।
उन्निससे पंचास शुभ, संवत लेहु विचार॥
व्रजभूषन शंकरसुवन, गौरि गिरीश मनाय।
मैं याकी भाषा करी, जाहि पढे श्रम जाय॥
मातपिता वंदन करों, भ्रातहि नायों माथ।
जानि आपनो दास सब, कीजे मोहि सनाथ॥
मुरलीबारे नन्दसुत, गोपसुतनचितचोर।
द्विज बलदेवप्रसादपै, करहु कृपाकी कोर॥

भाषाटीकासमेत हितोपदेश समाप्त॥

हितोपदेशके उपदेश।

कुछ एक कुमार्गपर चलनेवाले राजपुत्रोंके उपलक्ष्यसे विष्णुशर्माजीने समानतासे सर्वसाधारणको ये उपदेश दिये हैं। मनुष्य और कीटानुकीट, ब्राह्मण और चण्डाल, पृथ्वीश्वर और अकिञ्चन सबकोही उन्होंने समभावसे देखा है। सूर्यनारायण उदयाचलपर प्रकाशित होकर पवित्र बालातपसे जिस प्रकार समस्त जगत्को पुलकित करते हैं, वैसेही उन्होंने (विष्णुशर्माने) राजभवनकी छत्तपर बैठकर (१) समस्त जगत्को पुलकित कियाहै।

इस जगह उनके कुछ उपदेशोंका कर्म कथाओंसे अलग करके दिखाते हैं—

१—हाथमें राजशक्ति पाकर जो पुरुष उस शक्तिको बुरी भाँतिसे काममें लावेगा वह मानो अपने हाथसे राजलक्ष्मीको त्यागेगा। देखो विग्रहमें श्लोक,—११५।

२—असीम समुद्रकी समान सामने संकटयुक्त अतिविशाल कर्मक्षेत्र फैल रहाहै। अर्जुन जिस प्रकार कृष्णजीको सारथी बनाय और अक्षय तूण व अजय गाण्डीव धारण करके समरसागरके पार हुएथे वैसेही तुम लोगभी धर्मको सहाय करके और अटल कार्यपरायणता व अनुपम उद्योग धारण करके इस कर्मसागरके पार हो जाओ, भाग्यके ऊपर भरोसा रखके अपने अस्तित्वको लोप न करो। भाग्यभी पुरुषकार (२) के न होनेसे फलदाई नहीं होता। इसलिये पुरुषकारही मनुष्यकी एकमात्र गति है। देखो हितोपदेशके अवतरणिकाके श्लोक—३०। ३१। ३२। ३४। ३५। ३६। और मित्रलाभका श्लोक—,१६८।

३—आत्माकी उन्नति वा अवनति सबही अपने वश है। अपनेही कर्मोंके गुणसे उन्नति और अपनेही कर्मदोषसे अवनति हुआ करती है। देखो सुहृद्भेद श्लोक,—४५।

" श्रेयांसि बहुविघ्नानि" उन्नतिके मार्गमें अनेक विघ्न हैं। इस कारण एकाग्रचित्त होकर विचार करने और कठोरसाधनके अतिरिक्त कभी उन्नति नहीं होती।

---

(१) अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात् प्रस्तावक्रमेण स पंडितोऽब्रवीत्—" भो राजपुत्राः ! शृणुत "। अनन्तर वे राजपुत्र लोग जब प्रासादके तले सुखसे बैठगये तब वह पंडित विष्णुशर्मा प्रसङ्गके क्रमसे कहनेलगे—' हे राजपुत्रगण ! श्रवण करो। ' यह कहकर उन्होंने कथाका आरंभ किया। (हितोपदेशकी अवतरणिकाका शेष देखो)।

(२) ' पुरुषकार ' मनुष्यकी स्वकीय चेष्टा।

परन्तु घटतीका मार्ग साफ है, जरा असावधानी करली कि, घटती हुई। देखो सुहृद्भेद श्लोक,-४४।

४-चित्तमें स्थिरता रखना सम्पूर्ण सिद्धियोंका मूल है। सिद्धिमें आपकी समान और दूसरा विघ्न नहीं है। शत्रुकी उकसाहटसे चित्तमें तेजीके आतेही विचार-शक्ति जाती रहती है और किंचित् मिस पातेही चित्त छिन्न भिन्न होजाता है। देखो सुहृद्भेद श्लोक,-४८।

५-किसी कार्यमें उद्योग करतेही फल प्राप्त करनेको तैयार न होजाओ। यथा-कालमें यथोचित उद्योग करनेपर समयानुसार उसका फल अवश्यही फलैगा, फलका अवसर आनेपर उसको कोई नहीं रोकसकेगा। और असमयमें उसको कोई देभी नहीं सकेगा। देखो विग्रहमें श्लोक,-४६।

६-केवल एक सरलतासे गुणका सद्व्यवहार होता है। खलके हाथमें गुण पड-नेसे उस गुणकी इतनी दुर्गति होती है कि, जिसकी सीमा नहीं। उससे सुफल न फलकर प्रायः कुफलही फला करता है। देखो विग्रह श्लोक,-४, मित्रलाभ श्लोक,-९० और फिर विग्रह श्लोक,-८३।

७-जिसपर ज्ञान है अनुष्ठान नहीं, धन है दान भोग नहीं, बल है शत्रुके रोक-नेका साहस नहीं, आत्मा है इन्द्रियसंयम नहीं, उसका वह ज्ञान, वह धन, वह बल, वह आत्मा न होनेकी बराबर है। देखो मित्रलाभ श्लोक,-१७।१६९।१८०।१८१।

८-पूजनीय पुरुषकी पूजा करना कदापि मत भूलो। क्योंकि योग्य पुरुषकी पूजा न करनेसे मंगलका मार्ग बन्द होजाता है। इस जगत्में केवल चरित्रही पूज्य है। इसलिये जाति, कुल वा सम्बन्धकी ओर दृष्टि न करके अन्तःकरणसे चरित्रहीकी पूजा करो। देखो मित्रलाभ श्लोक,-५९।

९-स्वजातिकी उन्नति स्वजातिकी एकताके ऊपर प्रतिष्ठित होती है। जो इस एकताके मूलसूत्रको तोडते हैं, वे मानो विदेशीय शत्रुको अपने देशमें बुलाते हैं। विना छिद्र पाये बाहरका शत्रु गृहके भीतर प्रवेश नहीं करसकता (१)। जन्म-

(१) इसीलिये शास्त्रमें घरका भेद छिपानेकी व्यवस्था है-

"आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम्।
तपो दानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः।"

(सि० का० श्लो० १३८)

भूमिकी सब सन्तान यदि एकप्राण होजाय, सब भ्राता यदि एकमत करलें तब किसकी सामर्थ्य है जो जातिको उजाड करै ? (१) देखो सन्धि श्लोक;-३० ।

जो जाति पराधीन है, उस जातिको मानों शाप लगाहुआ है । इस कारण जातिके छोटेसे छोटेको नगराय समझकर त्याग न करे (२) सद्भाव और एकताका एक परमाणुभी खसकाकि हानि हुई । देखो मित्रलाभ श्लोक,-३५ । ३६ ।

---

(१) हितोपदेशके मूलग्रन्थ पंचतन्त्रके तीसरे तंत्रमें इस प्रकारसे हैं—

" लघूनामपि संश्लेषो रक्षायै भवति ध्रुवम् ।
महानप्येकजो वृक्षो बलवान्सुप्रतिष्ठितः ॥
सुमन्देनापि वातेन शक्यो धूनयितुं यतः ।
एवं मनुष्यमप्येकं शौर्येणापि समन्वितम् ॥
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते हिंसन्ति च ततः परम् ।
बलिनापि न बाध्यन्ते लघवोऽप्येकसंश्रयात् ॥
प्रभञ्जनविपक्षेण यथैकस्था महीरुहाः ॥ "

एकताके गुणसे दुर्बलभी प्राणरक्षा करसकताहै; देखो-वृक्ष यदि सघन न लगे होकर दूर २ पर लगेहों तो जिस प्रकार अल्पपवन उनको कम्पाय देताहै, वैसेही बलवान् जातिमें जो ऐक्यताका बन्धन न हो तो साधारण शत्रुभी उसको पराजित करसकताहै । और छोटे २ वृक्षोंकेभी जिस प्रकार परस्पर मजबूत सटे रहनेपर प्रबलपवनभी उनको बाधा नहीं देसकती; वैसेही दुर्बल जातिके मिलजानेपर बलवान् शत्रुभी उनको बाधा न देसकता ।

(२) सद्भावकी व्याख्या-

" विश्वेषां हृदयानां यदक्षयं परिबन्धनम् । एकब्रह्ममहासूत्रेणैष सद्भाव ईरितः ॥१॥
प्रीतिर्नो वर्द्धतां नित्यं वयं सर्वे सहोदराः।इति मैत्रीमयी बुद्धिः सद्भावादुपजायते॥२॥
मैत्रीबुद्धेर्म्महाशक्तिरनन्ता जायतेऽक्षया।महाशक्तिमयो लोकः प्रलयेऽपि न लीयते॥३॥

एक-ब्रह्मरूप महासूत्रसे समस्त विश्ववासीके हृदयमंडलमें जो अक्षय बन्धन है उसहीका नाम 'सद्भाव' है ॥१॥ नित्यही हमलोगोंमें प्रीति बढै, हम सबही एक माताकी सन्तान हैं; यह मैत्रीमयी बुद्धि सद्भावसे उत्पन्न होती है ॥ २ ॥ मैत्रीमयी बुद्धिसे अनन्त और अक्षय महाशक्ति उत्पन्न होती है जो मनुष्यजाति उस महाशक्तिके बलसे बलवान् है उसका लोप महाप्रलयमेंभी नहीं है ॥ ३ ॥

१०–धनके गुणागुणव्यवहारके ऊपर निर्भर करते हैं। कंजूसताईमें धनका अस्तित्व नहीं रहता (१) फजूल खर्चीमें यह विषकी समान और सद्व्यय अमृतकी समान कार्य करता है। हाथमें बहुत सम्पत्ति पायकर एक कौडीभी बेपरवाहीसे न फेंको। जब एक कौडीको अपव्यय करना चाहो तो विचार लो कि, एक कौडीसेभी एक दरिद्र प्राणीको कुछ लाभ पहुंचसकताहै। और भले कार्यमें सर्वस्व देनेसेभी मुँह न मोडो। देखो विग्रह श्लोक,–२६।

११–धान्यही श्रेष्ठ धन है। धान्यही राजाकी राज्यलक्ष्मी और प्रजाकी प्राण-वायु है। जिस देशके घर २ में धान्य इकट्ठा रहता है, वह देश अकाल या किसी विपद्से सहसा उजाड नहीं होता। इस कारण राजाको अपने राज्यमें धान्य बहुत एकत्र रखना चाहिये (२) देखो विग्रह श्लोक–५८।

१२–इस संसारमें जिसको किसी बातकी कमी नहीं है, वही यथार्थ ऐश्वर्यवान् और स्वाधीन है। जो तुम तृष्णाको नहीं जीतसके तो समस्त वसुधाकी सम्पत्तिभी तुम्हारे हाथ आजाय तोभी तुम्हारी समान दरिद्र दूसरा नहीं और समस्त भूमंडल अधीनता मानले तोभी तुम्हारी समान पराधीन दूसरा न होगा। जिसने तृष्णाको जीतलिया है वही जगत्के सिंहासनपर स्वाधीन राजा है. वह संसारके लुभावको तिनकेकी समान समझ सब जगत्में निडर हो घूमता है। (३) उसने मृत्युलोकमें

---

(१) मित्रलाभ श्लोक;–१६३।१६४।१६५।१६६।१६७।१६८।१६९।१७०। १७१।१७२।१७३।१७४। देखो। १६९ श्लोक यथाः–

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि।
पृथ्वीखातनिखातेन धनेन धनिनो वयम्॥

(२) अति प्राचीनकालसे धान्यही इस देशमें सर्वसाधारणका सर्व प्रधान खाद्य है। इसलिये धान्यकाही विषय कहागया है। विदेशीयलोग "धान्य" शब्दसे अपने २ देशमें सर्वसाधारणका सब प्रधान खाद्य समझें।

(३) "तृणं ब्रह्मविदः स्वर्गस्तृणं शूरस्य जीवितम्। जिताक्षस्य तृणं नारी निःस्पृहस्य तृणं जगत्॥" ब्रह्मज्ञानीको स्वर्ग तिनकेकी तुल्य है; वीरको जीवन तिनकेकी नाईं है, जितेन्द्रियके निकट नारी तृणवत् है और निस्पृहके निकट जगत् तृणतुल्य है। (वृद्धचाणक्य।)

अपने लिये स्वर्गका सिंहासन स्थापित किया है (१) और जिसने उस तृष्णाको आश्रय दिया है उसने जीवनभरके लिये दरिद्रता और दासताका बोझा अपने माथे पर उठाया। देखो मित्रलाभ श्लोक,–१४९--१५६ ॥

१३--धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों वर्गोंके लिये सर्वप्रयत्नसे आत्माकी रक्षा करै। देखो मित्रलाभ श्लोक,–४४।

परन्तु जो परोपकारके लिये प्राणही छोडना पडे तो उसमें विचार सोच न करै। जान रक्खे कि, केवल परोपकारसे चतुर्वर्गके फल मिलते हैं। अनित्य और अपवित्र देहके बदले जिसके भाग्यमें नित्य और निर्मल यश प्राप्त होवै उसकी समान भाग्यवान् और कौन है ? देखो मित्रलाभ श्लोक;--४५। ४९ और विग्रह श्लोकः--१४५ ॥

१४--पुण्यमय गंगाजीके जलमें स्नान करनेसे देह और मन पुलकित होता है साधुसंगसे चरित्र पवित्र होता है और ईश्वरभक्तिसे आत्माके पाप धुल जाते हैं। इसलिये गंगास्नान, साधुसंग और नारायणमें भक्ति इन तीनोंको असार संसारमें सार जानो (२) देखो मित्रलाभ श्लोक,–१६२।

१५–मनुष्योंमें जितनी शुद्धि हैं उनमें भावशुद्धि ही यथार्थ शुद्धि है (३) और

---

(१) ४० संख्यक चाणक्यका श्लोक देखो--
"अभावे सति सन्तोषः स्वर्गस्थोऽसौ महीतले।"

(२) शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक समान भावसे यह तीन प्रकारकी शिक्षाही मनुष्यकी पूर्ण शिक्षा हैं। इन तीन सारवस्तुओंसे उस पूर्ण शिक्षाको बतायागया।

(३) शुद्धि दो प्रकारकी हैं–बाह्यशुद्धि और भावशुद्धि, गोबर जलादिसे बाह्य शुद्धि होती है; सत्य, संयम, दया, शील और भक्तिसे आत्माकी शुद्धिको भावशुद्धि कहते हैं।

"सत्यशौचं मनःशौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदयाशौचं जलशौचं तु पंचमम्। शौचंतु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मज्जनादि कृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥" (गरुडपुराण)

भावशुद्धिही पुरुषार्थसिद्धिका मूल है इसलिये भावशुद्धि हीश्रेष्ठ है।–

तीर्थोंमें स्नान करनेसे देह स्वच्छ होता है परंतु आत्मारूप महातीर्थमें विना स्नान किये अन्तरात्मा निर्मल नहीं होता। देखो संधिश्लोकः-३०।

१६-दान, पुण्यका प्रधान अंग है। जो दान, विशुद्ध सतोगुणकी मधुमय आत्मासे उछलता है, वही सात्त्विक दान, पुण्यका अंग है। जिस गुणसे जगदीश्वर इन अनन्तकोटि जीवोंका पालन करते हैं, जिसके प्रभावसे जीवके जन्म लेतेही उसके लिये माताके स्तनसे अमृतकी धारा निकलती है (१) जिस गुणके प्रभावसे एक क्षुधित मुमूर्षु प्राणी अपने मुखका अन्न दूसरेके मुखमें देदे और जिसमें स्वार्थका लेशमात्र न हो, उसकोही सतोगुण कहते हैं इसलिये अभिमान छोडकर शुद्धहृदयसे सत्पात्रको दानकरे। देखो मित्रलाभ श्लोकः-१५। दरिद्रही दानका पात्र है और कोई नहीं। देखो मित्रलाभ श्लोकः-१०। १४।

१७-पराये दुःखपरही दया करना योग्य है। बालककी रुलाईसे जैसे माताका हृदय गलित होजाता है और उस बालकके मलमूत्रमें सने रहनेपरभी माता निर्विकार चित्तसे उसको गोदमें लेती है, वैसेही कातरके स्वरसे जिसका हृदय भर आता है और उस छूनेके अयोग्य प्राणीकोभी जो विना विन खाये गोदमें लेलेता है, वह यथार्थ दयावान् है। इसलिये चंडालपरभी दया करनेसे मुंह न मोडो। जो चंडालको देखकर मुख फिरा लेता है, वह कर्मचंडाल है। निर्दयी पुरुषको कर्मचण्डाल कहतेहैं (२) कर्मचण्डालकी समान अधम दूसरा नहीं। देखो मित्रलाभ श्लो०-६३।

-"अग्निहोत्रं विना वेदा न च दानं विना क्रिया। न भावेन विना सिद्धिस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥ न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये। भावो हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥" (वृद्धचाणक्य)।

जैसे अग्निहोत्रके विना वैदिक अनुष्ठान नहीं होता, दान विना पुण्यकर्म नहीं होता वैसेही भाव अर्थात् आत्माके प्रेमविना सिद्धि नहीं प्राप्त होती। इसलिये भावही श्रेष्ठ है। काठ, पत्थर, धातु और मट्टी इत्यादिमें ईश्वर नहीं, भावमेंही ईश्वर विद्यमान है। इसलिये भावही सबसे श्रेष्ठ है।

(१) गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ। (मित्रलाभ १८८ श्लोक)।

(२) श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीपर निर्दयी व्यवहार करनेके कारणही अपनेको 'कर्मचण्डाल' कहाथा-

"अपूर्वकर्मचण्डालमपि मुग्धे! विमुञ्च माम्।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम्॥" (उत्तररामचरित)॥

१८–गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ है । प्राणी जिस प्रकार प्राणवायुका आश्रय करके प्राण धारण करतेहैं, वैसेही गृहस्थको आश्रय करके क्या ब्रह्मचारी, क्या गृही, क्या संन्यासी सबही जीते हैं । सबका आश्रय देनेवाला होनेसे पंडितलोग इस आश्रमको श्रेष्ठ आश्रम कहते हैं (१) मनुष्यको सर्व जीवोंकी तृप्ति करनेके लिये आश्रममें प्रवेश करना कहा है । आतिथ्यही इस श्रेष्ठ आश्रमका श्रेष्ठ व्रत है । जो इस आतिथ्यव्रतको प्राणपणसे पालन करते हैं वेही गृहस्थ हैं । जिसका प्रीतिपूर्ण हृदय, चिरशीतल, भागीरथीकी धारके समान प्राणिमात्रकी तापशान्तिके लिये सदाही खुला रहता है वही गृहस्थ है । शत्रु मित्र और उदासीन समस्तको जो समभावसे आश्रय देते हैं, वेही गृहस्थ हैं, देखो मित्रलाभ ६०।६५। और मित्रलाभहीका–२०१ श्लोक ।

गृहीके हृदयकी प्रीतिही अतिथिके तृप्ति करनेका कारण है (२) पहुनेके तृप्त होनेसेही पहुनई सम्पूर्ण होती है । अभिमानसे अतुल राजभोगदान करनेपरभी अतिथिसत्कार नहीं होता और श्रद्धासे एक मुट्ठी साग या अन्नदान करनेपरभी अतिथिसत्कार होजाता है । जो अतिथिको शाकान्न देनेकी भी सामर्थ्य न हो तो–

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥(मि. ६१श्लो.)

---

(१) " यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः । तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनाऽन्नेन चान्वहम् । गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमी गृही ॥ स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता । सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियः । सर्वेषामेव चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः । गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ " मनु ३ अध्याय ७७ । ७८ । ७९ । और छठे अध्यायमें ८९ । ९० । श्लोक देखो ।

(२) अतिथिसत्कार करनेवाली द्रौपदीने प्रीतिके गुणसेही शाकके एक पत्तेसे श्रीकृष्णजीको तृप्त किया था और पहुनईसेही विदुरजीने प्रीतियुक्त हो चावलके किनकोंसे श्रीकृष्णजीको तृप्त किया था ।

१९–आत्माकी नीचताही भेदज्ञानका मूल है, जिस प्रकार अति ऊंचे पर्वतके शिखरसे पृथ्वीपर दृष्टि करनेपर समविषमका ज्ञान नहीं होता, वरन् सब पदार्थ समतल दिखाई देते हैं वैसेही मोहभेदी उन्नत आत्मासे इस जीवलोकपर दृष्टि डालनेसे भेदज्ञान नहीं रहता, वरन् सब जीवोंमेंही समान ज्ञान होजाता है। जो उन अभेद नेत्रोंसे समस्त जीवकोही समान प्रेमसे देखते हैं वेही यथार्थ महात्मा हैं (१) देखो मित्रलाभ श्लोकः–१२।

२०–यदि धर्ममार्गपर अविचलित रहोगे तो भगवान् अपने आप तुम्हें अन्न देंगे। देखो मित्रलाभ श्लोकः–१८९।

२१–जिसका हृदय मीठा है उसके मुखसेही मीठे वचन निकलते हैं। सुशील मधुरभाषीका कोईभी शत्रु नहीं (२) जो मधुर वचन छोड और कुछ बोलना नहीं जानते वेही 'अजातशत्रु' हैं देखो सुहृद्भेद श्लोकः–११।

प्रेमसने मधुर वचनोंसे सब झगडा मिटजाता है। राजनीतिशास्त्रमें 'साम' 'दान' 'भेद' 'विग्रह'–इन चार उपायोंकी कथा है तो सही, परन्तु सिद्धि प्राप्ति 'साम' अर्थात् मीठे वचनोंहीके ऊपर प्रतिष्ठित है। देखो–सन्धि श्लोकः–१०२।

२२–जो अपनी पीडाके समान पराई पीडाकोभी जानते हैं वे सब प्रकारकी हिंसाओंसे अलग रहते हैं। जो सर्वप्रकारकी हिंसासे बचे रहते हैं, वेही साधु पुरुष हैं, इसलिये अपनी पीडाकी समान पराया कष्ट विचार, देखो और 'अहिंसा परमो धर्मः' यह स्वर्गीय अक्षर अपने हृदयमें खोद रक्खो (३)। देखो मित्रलाभ श्लोकः–११। १२। ९६।

---

(१) "त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः।
सर्वं पश्यात्मन्यात्मानं सर्वत्रोत्सृज भेदज्ञानम्।" (मोहमुद्गर)॥

(२) "शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
नहि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत्॥"
(म० भा० शान्तिपर्व राजधर्म)॥

(३) "परस्परं विवदमानानामपि प्रमाणशास्त्राणाम्–'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यत्रैकमत्यम्।" प्रमाणस्वरूप धर्मशास्त्रोंमें परस्पर भेद रहनेपर भी "अहिंसा परम धर्म है" यह सर्व शास्त्र एकवाक्यसे स्वीकार करते हैं।–

२३-अधर्मसे जो अन्न प्राप्त होताहै, वह राजभोग होनेपरभी विषकी समान भयंकर है। क्योंकि उस अन्नके संग बहुत विपत्ति, शंका और आत्मग्लानि रहती है। इससे जिस अन्नमें विघ्न, विपत्ति, शंका और आत्मग्लानि नहीं है, वह जो सदा हर्षितचित्त हो भोगाजाय, उस निष्पाप अन्नका संचय करो। वह शाकान्न होनेपर (१) भी अमृत है । शान्तिदेवी रावणकी लंकापुरी जो कि सुवर्णकी बनीहै। उसमें वास नहीं करती, वरन् वह सदा वाल्मीकिजीकी पर्णकुटीमें रहती है। देखो मित्रलाभ श्लोक;-१५९। और ७०।

२४-भिक्षाकरले, पर पराये गले पकडकर पेट भरनेकी समान अधम जीविका और कोई नहीं है। बुद्धिमान् प्राण त्यागनेको भला समझते, परन्तु पराये आश्रयसे पेट नहीं भरते। देखो मित्रलाभ श्लोकः-१४०।१४१,१४२।१४८।

२५-अग्निकी गरमीसे पिघलकर जिस प्रकार सुवर्ण सुवर्णसे मिलजाता है, वैसेही प्रेमसे तपकर हृदय हृदयसे मिलजाताहै। जहांपर ऐसे साधु मित्रका मिलाप है।

-"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च सत्यधर्मःसनातनः॥"

(म० भा० अ० प० १४५ अ०)॥

"न तत्परस्य सन्दध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।संग्रहेणैष धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्तते॥"

(म० भा० उ० प० ३९ अ०)

(१) भले पुरुषोंकी जीविकाके विषयमें मनुजी कहते हैं-" न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन। अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम्॥ यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः। तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥ अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्। हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥ न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्। अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम्॥ अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नाञ्जयति समूलं तु विनश्यति॥ (मनु चतुर्थ अध्याय) जीविकाके लिये कभी घिनौना कार्य न करै, निष्पाप साधु जीविकाका आश्रय ले। जिस कर्मके करनेसे अन्तरात्माको निर्मल सन्तोष हो वही करै, बुरे उपायसे सञ्चय करके कोई इस जगत्में सुखी नहीं होसकता। पापियोंका विषम परिणाम देख प्राण जानेपर भी धर्मसे चलायमान न हो। अधर्मसे पहले सिद्धि होगी तो सही, परन्तु पीछे मूलसहित नष्ट होगा।

वहां स्वर्गकी सुन्दरता विराजमान है। जो लोग उस दुर्लभ सुन्दरताको भोगते हैं उनकी समान पुण्यवान् और कौन है ? जिसके दर्शनसेही सब अभाव दूर होजाँय उस अनमोले रत्नकी समान और अनमोल रत्न क्या है ? (१) देखो मित्रलाभ श्लोकः—४०।२२०।२२३।२२४।

२६—पञ्चभूतके मिलने और अलग होनेसे भौतिक पिंड क्षण २ में अपना रूप बदलता है। संसारका स्वभाव ही यह है मूर्खलोग यह न जानकर शोकमें डूबते हैं। परन्तु पंडितगण सब जानते हैं। वह संसारका स्वरूप समझ शोकसागर पार होजाते हैं। उनका आत्मा मोहके अन्धकारको भेदकर नित्यानन्दमय ज्ञानलोकका भोग करता है। देखो मित्रलाभ श्लोकः—२। १७९। और सन्धिश्लोकः—७१।७२।७३।७४।७९॥

२७—भगवान् अनन्तदेव जिस कल्याणमयी महाशक्तिके प्रभावसे अपरिच्छिन्न विश्वमण्डलको धारण किये हुए हैं उनको धर्म कहते हैं। (२) उस विश्वम्भर धर्मका दूसरा नाम सत्य है (३) 'सत्यं स्वयं सत्' अर्थात् सर्वकालमें विद्यमान है। न सत्यको विकार है, न व्यभिचार। प्रलयकालकी शत २ कालरात्रिभी सत्यकी ज्योति लोप नहीं करसकतीं। देखो विग्रहश्लोकः—६४। मित्रलाभका क्षेपक१। और संधिका श्लोकः—१३६।

---

(१) "अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं योहि यस्य प्रियो जनः।" (भवभूति)

(२) "नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजाः।" इत्यादि।
(म० भा० उद्योगपर्व १३७ अ०)

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः। यत्स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति कथ्यते॥"
(म० भा० राजधर्म १०९ अ०)॥

(३) विचारकरके देखनेसे जाना जासकता है कि 'धर्म' और 'सत्य' एकही पदार्थ है इसलिये प्राचीन पंडितोंने जो धर्मके तत्त्व निरूपण किये हैं सत्यके भी वेही तत्त्व निरूपण किये हैं। जो उपादान धर्मके स्थिर किये हैं, वेही सत्यके उपादान स्थिर किये हैं। ... धर्मके ... हैं—

२८-सहस्र उपाय करकेभी कोई गुणी पुरुषके गुणको लोप नहीं करसकता जो गुणके लोप करनेकी चेष्टा करता है; सो वह उस गुणका कुछ भी न करसकके अपनी नीचताकाही परिचय देता है। " शुष्केन्धनमिवानलः " अग्नि जैसे तृण काष्ठको भेद करके जल उठता है, गुणभी वैसेही अपलापकारीके जालको भेदकरके जल उठता है। देखो मित्रलाभ श्लोकः-६६ । ६७ । ७२ ।

२९-जो पुरुष युवाअवस्थामें परिणामको न विचारकर कार्य करता है वह बुढापेके लिये अपने हाथसे ही अपने अर्थ विषका बीज होता है। क्योंकि, पीछेसे सन्तापरूप कठोर सन्तापानलसे भस्म होनेके सिवाय उसके पापका दूसरा प्रायश्चित्त नहीं है। देखो मित्रलाभ श्लोकः--१६३ ।

-वेही लक्षण सत्यके कहे हैं। धर्मको जिस आकारसे और जिस भावसे देखा है, सत्यकोभी उसी आकारसे और उसी भावसे देखा है।

"सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः। सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥ अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः। तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसावृताः॥ स्वर्गं प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च। सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जगतीश्वरैः। राहुग्रस्तस्य सोमस्य यथा ज्योत्स्ना न भासते । तथा तमोऽभिभूतानां भूतानां नश्यते सुखम् ॥" तत्र यत्सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत्सुखमिति । तत्र यदनृतं सोऽधर्मो, योऽधर्मस्तत्तमो, यत्तमस्तद् दुःखमिति। (म० भा० मोक्षधर्म १०९अ०)

अर्थात्-सत्यही ब्रह्म सत्य विश्वकी सृष्टि स्थितिका करनेवाला है कभी सत्यके द्वाराही ज्योतियुक्त स्वर्गमें पहुंचता है। तम असत्यकी मूर्ति है। आत्मा तमोग्रस्त हो कुगतिको पहुँचजाता है चन्द्रमाके राहुग्रस्त होनेपर जैसे उसमेंसे चाँदनी प्रकाशित नहीं होती वैसेही आत्माके तमोग्रस्त होनेपर उससे आनन्दमय सत्यज्योति नहीं झलकसकती। जो सत्य है वही धर्म है; जो धर्म है वही प्रकाश है, जो प्रकाश है वही स्वर्ग है और जो स्वर्ग है वही सुख है। जे असत्य है वही अधर्म, जो अधर्म है वही तम, जो तम है वही नरक और जो नरक है वही दुःख है। इसलिये 'धर्म' और 'सत्य' एकात्मा मंगलमय पदार्थ है। केवल नाममात्रका भेद है ॥

३०–निर्मल आत्माही धर्मका क्षेत्र है। जिसमें समस्त इन्द्रियविकारसे छूट, सबको एक रीतिसे देखा है (१) वह वनमें चलाजाय, या गृहमें रहै उसके लिये सब स्थान धर्मक्षेत्र हैं, जैसे पारस पत्थरके छूनेसे लोह सुवर्ण होता है वैसेही पवित्र आत्माके स्पर्श कियेसे सबही स्थान तपोवन होजाते हैं। देखो मित्र-लाभ श्लोक–८७। ८८।

३१–दो दिनके मित्रको पायकर सदाके मित्रको मत भूलो। धन, जन, जीवन और यौवन कुछभी सदाके लिये साथी नहीं हैं। धर्मही अनन्तकालका सखा है (२) देखो मित्रलाभ श्लोक–६७। संधि श्लोक–१३४।

प्रश्न–" को धर्मः?" धर्म किसको कहते हैं?

उत्तर–" भूतदया " अर्थात् सर्व प्राणियोंमें दया करना।

इस प्रकारसे हितोपदेशमें अनेक उपदेश हैं, विष्णुशर्माजीने ये उपदेश ऐसी चतुरतासे संग्रह किये हैं कि, प्रत्येक उपदेश जीवनके मार्गका मार्ग बतानेवाला है। जिसको देखते हैं उसकेही दिखानेकी इच्छा होती है। जिन्होंने सम्पूर्ण हितो-पदेश पाठ किया है, या करेंगे वेही यह बात समझते हैं और समझेंगे।

आजकल हम लोगोंके लिये हितोपदेश ऐसे नीतिशास्त्रकी कितनी आवश्यकता है, सो उसको अधिक क्या बतावें? हमारी वर्त्तमान अवस्था और इन प्राचीन उपदेशोंको जिन्होंने एकबार विचारा होगा वेही इस बातको समझेहोंगे। हमारे पूर्व-पुरुषोंने जिस नीति और जातिको नमूना बनाया है, केवल एक धर्मही उनकी जडमें प्रतिष्ठित है; अर्थ और कामभी धर्म-मूलमें स्थापित है, इस कारण धर्मही सहायक है। परन्तु हमने उसके विरुद्ध किया है, धर्मको मूल न बनाय कामको मूलमें स्थापित किया है और धर्मकोभी उस कामके मूलमें लगाया है। बस हमारा

---

(१) सर्वत्र समदर्शनः–ब्रह्मज्ञानसे सब प्राणियोंमें समदृष्टि।

(२) मनुस्मृति चतुर्थ अध्याय २३९। २४०। २४१। २४२ श्लोक यथा–
"नाऽमुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव हि लीयते। एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ। विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः। धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥"

धर्म धर्म न होकर, धर्मका मिसमात्र या कामका सहायक है । और हमारा अर्थ अर्थ न होकर अनर्थ होगया है । हम किनारेको छोड धारमें पडे, मार्गको छोड कुमार्गमें चले हैं (१) केवल मूलके छोडनेसे हम निर्मूल होते हैं । इससे हमारी यह दुर्दशा अपने किये पापका फल (२) है । इसके लिये दैव दोषी नहीं है(३) पूर्वपुरुषोंके उपदेशवाक्य और अपनी दुर्गतिका विचार करनेसे अति बडे पाखंडी-कोभी संतापानलमें दग्ध होना पडताहै । हां ! जो जाति प्राचीन पुरुषोंके महा-वाक्यको मानकर चलती तो आज मातृहत्या, पितृहत्या, स्त्रीहत्या, भ्रूणहत्या, आत्म-हत्या इत्यादि भयंकर महापापोंका होना दिनरात न सुनना पडता । सुहृद्भेदसे जाति ऊजड न होजाती । विग्रहकी अग्निसे यह सुवर्णकी लंका भस्म न होगई होती । अल्पायु, अल्पभोग, रोग व इतने अधिक शोक न पाने पडते । हितोप-देशका उपदेश यही है कि--इस जगत्में सबही मित्रलाभ करो । जो विना समझे बूझे सुहृद्भेद और विग्रहसे छिन्न भिन्न होजाओ तो फिर सन्धि अर्थात् मेल मिलाप स्थापित करो । अवश्यही सिद्धि और शक्ति प्राप्त करलोगे ॥

"सिद्धिः साध्ये सतामस्तु" इति ॥

बलदेवप्रसाद मिश्र.

---

(१) आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयं सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् । (मित्रलाभ २९ श्लोक)

(२) रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥ (मित्रलाभ ४२ श्लोक)

(३) विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।
आत्मनः कर्मदोषांस्तु नैव जानात्यपण्डितः ॥ (सन्धि ३ श्लोक)

हितोपदेशके–परिशिष्ट।



भूमिकामें लिख आये हैं कि महाभारत, मनुस्मृति, बृहस्पतिनीति, शुक्रनीति, चाणक्यनीति, कामन्दकनीति इत्यादि प्राचीन ग्रन्थोंके प्रबन्धोंसे विष्णुशर्माजीने हितोपदेशके अधिकांश श्लोक संग्रह किये हैं। इन प्रबन्धोंके कोई २ श्लोक हितोपदेशमें अविकल देखेजाते हैं और कोई २ श्लोक कुछ बदले हुए भी दिखाई देते हैं। अत एव इस परिशिष्टमें वेही सब दिखलाये जाते हैं (१)। हितोपदेश, अवतरणिका श्लोक नं० २ वृद्धचाणक्यमें यथा–

अर्जयेज्ज्ञानमर्थं च पुमानमरवत्सदा।
केशेष्विव गृहीतः सन्मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

कथारम्भश्लोक नं० १२ वृद्धचाणक्यमें यथा–

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न भक्तिमान्।
किं तया क्रियते धेन्वा या न दोग्ध्री न गुर्विणी॥

किसी २ पुस्तकमें इस श्लोकका दूसरा अर्द्धभाग इस प्रकारसे है यथा–

किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा॥

कथारम्भश्लोक नं० ११६ महाभारत उद्योगपर्व ११३ अध्याय श्लोक–नं० २२ में यथा—

दाने तपसि शौर्य्ये च यस्य नोच्चारितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः॥

---

(१) इस प्रकरणसे पाठकगण समझसकेंगे कि–चाणक्य, कामन्दक, विष्णुशर्मा इत्यादि सबहीने महाभारतका आश्रय लियाहै। हमने इसमें जिस भारतके श्लोक और अध्यायोंका उल्लेख किया है उस महाभारतको महाराजा वर्द्धमानने प्रकाशित कराया है॥

गरुडपुराण ११५ अध्यायमें यथा-

शौर्य्ये तपसि दाने वा यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ॥

कथारम्भश्लोक नं० १७ चाणक्यमें यथा-

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च ताराः सहस्रशः ॥

गरुडपुराण ११५ अध्यायमें यथा-

एको हि गुणवान् पुत्रो निर्गुणेन शतेन किम् ।
चन्द्रो हन्ति तमांस्येको न च ज्योतिःसहस्रशः ॥

शुक्रनीति चौथा अध्याय प्रथम प्रकरण श्लोक नं० ११४ यथा-

पित्रोर्निदेशवर्ती यः स पुत्रोऽन्वर्थनामवान् ।
श्रेष्ठ एकस्तु गुणवान् किं शतैरपि निर्गुणैः ॥

कथारम्भ श्लोक नं० १९ महाभारत उद्योगपर्व ३३ अध्याय, श्लोक-नं० ८९ में यथा—

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥

कथारम्भश्लोक नं० २० वृद्धचाणक्यमें यथा-

किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसन्तापकारकैः ।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्राम्यते कुलम् ॥

कथारम्भश्लोक नं० २१ चाणक्यनीतिमें अविकल है । शुक्रनीतिके चतुर्थ अध्याय प्रथम प्रकरणमें-" ऋणकारी पिता शत्रुर्माता स्त्री व्यभिचारिणी-" इस प्रकारसे है । वृद्धचाणक्यके किसी किसी पुस्तकमें-" पिता च ऋणवान् शत्रुर्माता शत्रु-र[illegible]" यह [illegible] है ॥

कथारम्भ श्लोक नं० २२ वृद्धचाणक्यमें यथा–

अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनं विषम् ।
दरिद्रस्य विषं गोष्ठी वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥

कथारम्भ श्लोक नं. २५ वृद्धचाणक्यमें यथा–

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम् ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥

वृद्धचाणक्यका यही ऊपर लिखा पाठ ठीक ज्ञात होताहै । कथारंभ श्लोक नं० २६ व २७ वृद्धचाणक्यमें अविकल है । कथारंभ श्लोक नं० २३ याज्ञवल्क्य संहितामें अविकल है ।

महाभारत अनुशासन पर्व ६ अध्याय श्लोक नं० ७ में यथा–

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् ।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥

कथारम्भ श्लोक नं० ३८ वृद्धचाणक्यमें यथा–

माता रिपुः पिता शत्रुर्बालो याभ्यां न पाठ्यते ।
शोभते न सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

कथारम्भ श्लोक नं० ३९ चाणक्यमें अविकल है और श्लोक नं० ४० का पाठ चाणक्यकी भिन्न २ पुस्तकोंमें पृथक् २ रीतिसे है, यथा–' दूरतः शोभते मूर्खो लम्बमानपटावृतः ' ' लम्बशाटपटावृतः ' इत्यपि पाठः ।

कथारंभ श्लोक नं० ४२ महाभारत वनपर्व प्रथम अध्याय श्लोक नं० २७ यथा–

बुद्धिश्च हीयते पुंसां हीनैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥

कथारंभ श्लोक नं० ४७ " गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति " इस स्थानमें " गुणा गुणज्ञ रागिणो भवन्ति " यह पाठान्तर है ।

मित्रलाभ श्लोक नं० २ महाभारतमें अनेक स्थलपर है वनपर्व दूसरा अध्याय श्लोक नं० १६ शान्तिपर्व-मोक्षधर्म ११४ अध्यायके श्लोक नं० ४२ और ३३० अध्यायके श्लोक नं० २ को देखो। राजधर्म २५ अध्यायमें 'भयस्थानशतानि च' के स्थानमें 'हर्षस्थानशतानि च' यह पाठ है।

मित्रलाभश्लोक नं० ६ महाभारतमें प्रायः अविकल है, शांतिपर्व आपद्धर्म १४० अध्यायके श्लोक नं० ३४ को देखो।

मित्रलाभश्लोक नं० ७ और ८ महाभारतमें प्रायः अविकल है, केवल-'धृतिः क्षमा' के स्थानमें 'क्षमा घृणा' यह पाठ है। श्लोक नं० ८ में 'महात्मन्येव तिष्ठति' इस स्थानमें 'नाऽमहात्मसु तिष्ठति' यह पाठ है। उद्योगपर्व-३५ अध्याय श्लोक नं० ५६ व ५७ देखो।

वनपर्वके दूसरे अध्यायमें इन दो श्लोकोंका पाठ इस प्रकारसे है-

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयानपथे स्थितः।
उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा॥

मित्रलाभ श्लोक नं० ११ महाभारत अनुशासन पर्व दानधर्म ११५-अध्यायमें यथा—

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः॥

मित्रलाभ श्लोक नं० ३५ महाभारतमें अविकल है। अनुशासनपर्वदानधर्म ११३ अध्याय श्लोक नं० ९ देखो।

मित्रलाभश्लोक नं० १३ वृद्धचाणक्यके किसी २ पुस्तकमें इस प्रकारसे है यथा-

मातृवत्परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १५ भगवद्गीतामें अविकल है।

मित्रलाभ श्लोक नं० १८ के विविध पाठान्तर हैं,–' नखिनां च नदीनां च शृङ्गिणां शस्त्रधारिणाम्'–' नखिनां च नदीनां च शृङ्गिणां शस्त्रिणां द्विषाम्' इत्यादि। शुक्रनीति तीसरे अध्यायके १४१ श्लोकमें यथा–

शृङ्गिणां नखिनां चैव दंष्ट्रिणां दुर्जनस्य च।
नदीनां वसतौ स्त्रीणां विश्वासं नैव कारयेत्॥

मित्रलाभ श्लोक नं०– २२ का पाठान्तर यथा–

वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते।
सर्वत्रैषां विचारेण भोजनेऽप्यप्रवर्त्तनम्॥

मित्रलाभ श्लोक नं० २४ महाभारतमें अविकल है। केवल ' षडेते दुःखभागिनः ' के स्थानमें ' षडेते नित्यदुःखिताः ' यह पाठान्तर है, उद्योगपर्व ३३ अध्याय श्लोक नं० ८८ को देखो। श्लोक नं० २५ महाभारतमें अविकल है, केवल ' क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ' इस स्थानमें ' क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः ' यह पाठान्तर है, शांतिपर्व आपद्धर्म १८५ अध्याय श्लोक नं० १५ देखो। श्लोक नं० २६ महाभारत आपद्धर्म १८५ अध्याय, नं० ४ श्लोकमें यथा–

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रवर्त्तते।
लोभान्मोहश्च माया च मानस्तम्भः पराधुता॥

मित्रलाभ श्लोक नं० २९ महाभारत व चाणक्यमें अविकल है।
" " नं० ३४ " उद्योगपर्व ३३ अध्यायमें श्लोक नं० ८० और शुक्रनीति तीसरे अध्याय श्लोक नं० ५५ में अविकल है। महाभारत सभापर्व ५ अध्याय श्लोक नं० १२६ कुछ अन्तर पायाजाता है यथा–

षडनर्था महाराज! कच्चित्ते पृष्ठतः कृताः।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधो मार्दवं दीर्घसूत्रता॥

मित्रलाभ श्लोक नं० ३५ वृद्धचाणक्य पृथक्रूपसे यथा–

लघूनामपि सत्त्वानां समवायो रिपुञ्जयः।

वर्षांधाराधरो मेघस्तृणैरपि निवार्यते॥

मित्रलाभ श्लोक नं० ४१ महाभारत स्त्रीपर्व दूसरा अध्याय, श्लोक नं० ३३ व ३४ इस प्रकारसे है यथा—

यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समुपाश्नुते ॥
येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० ४२ वृद्धचाणक्यमें यथा—

दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥

श्लोक नं० ४३ मनुस्मृति सातवां अध्याय, श्लोक नं० २१३ और महाभारत उद्योग पर्व ३७ अध्याय, श्लोक नं० १९ में अविकल है ।

मित्रलाभ श्लोक नं० ५५ महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म १३८ अध्याय, श्लोक नं० १६३ में यथा—

अहमन्नं भवान्भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान्बली ।
नावयोर्विद्यते सन्धिर्वियुक्ते विषमे बले ॥

मित्रलाभमें जो दीर्घकर्णनामक विलावका वृत्तान्त है वह महाभारत उद्योगपर्व १५८ अध्याय, उलूकदूताभिगमनपर्व श्लोक नं० १५ से नं० ४१ तक विलाव तपस्वीके वृत्तान्तका कुछएक रूपान्तरमात्र है ।

मित्रलाभ श्लोक नं० ५८ महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक नं० ३३ में यथा—

भीतवत्संविधातव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमशङ्कया ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० ६०, महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म १४६ अध्याय, श्लोक नं० ५ में अविकल है, केवल ‘ छेत्तुः पार्श्वगताच्छायाम् ’ के स्थानमें ‘छेत्तुमप्यागताच्छायाम ’ यह पाठान्तर है । श्लोक नं० ६१ मनुस्मृति तीसरा अध्याय श्लोक

नं० १०१ में महाभारत उद्योगपर्व ३६ अध्याय, श्लोक नं ३४ में और वनपर्व दूसरा अध्याय श्लोक नं० ५३ में अविकल है। केवल ' एतान्यपि सतां गेहे ' के स्थानमें ' सतामेतानि गेहेषु ' यह पाठान्तर है मित्रलाभ श्लोक नं० ६४, अनेक पुराणोंमें देखा जाताहै, महाभारत शान्तिपर्व-मोक्षधर्म १९१ अध्याय श्लोक नं० १२ में यह ठीक अविकल है, महाभारत–अनुशासन–पर्व दानधर्म १२६ अध्याय श्लोक नं० २५ में पूर्वार्द्धका कुछएक रूपान्तर है यथा—

पिण्डदास्तस्य हीयन्ते न च प्रीणाति वै पितॄन् ।
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते ॥

मित्रलाभमें–' परस्परं विवदमानानामपि प्रमाणशास्त्राणाम् अहिंसा परमो धर्म इत्यत्रैकमत्यम् ' जो है इसका प्रमाण महाभारतमें यथा—

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्त्तते ॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्त्वहिंसा परमं बलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥
अहिंसा परमं सत्यमहिंसा परमं श्रुतम् ।
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु चाप्लुतम् ॥

इत्यादि। अनुशासनपर्व दानधर्म ११६ अध्याय।

मित्रलाभश्लोक नं० ६७, मनुस्मृति ८ अध्याय, श्लोक नं० १७ अविकलहै। मित्रलाभ श्लोक नं० ७३, महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म १३८ अध्यायमें पृथक्स्थानोंमें पृथक् २ रूपसे है यथा—

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।
अर्थतस्तु निबध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥

नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते ।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥
नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।
अर्थयुक्त्याऽनुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥
कारणात्प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् ।
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित्कस्यचित्प्रियः ॥

इत्यादि । यह श्लोक कामन्दकनीतिके आठवें सर्गमें इस प्रकारसे है; यथा-

कारणेनैव जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ।
रिपवो येन जायन्ते कारणं तत्परित्यजेत् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० ७४ चाणक्यमें यथा-

जानीयात्प्रेषणे भृत्यान्बान्धवान्व्यसनागमे ।
मित्रं चापदि काले च भार्यां च विभवक्षये ॥

यही श्लोक गारुडनीतिसारके १०९ अध्यायमें यथा-

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरं वने शुचिम् ।
भार्यां च विभवे क्षीणे दुर्भिक्षे च प्रियातिथिम् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० ७५ चाणक्यकी सबही पुस्तकोंमें है किसी २ पुस्तकमें पूर्वार्द्धका पाठ यथा-'आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे'।

मित्रलाभ श्लोक नं० ७५ महाभारत उद्योगपर्व १२९ अध्याय, श्लोक नं० ३९ में यथा-

सुहृदां हितकामानां यो न तिष्ठति शासने ।
प्राज्ञानां कृतविद्यानां स नरः शत्रुनन्दनः ॥

मित्रलाभश्लोक नं० ७८ चाणक्यमें अविकल है । केवल 'तादृशं मित्रम्' के स्थानमें 'यत्नतो बन्धुम्' है । हमारी समझमें यहीं पाठ श्रेष्ठ है, कारण कि 'मित्रम्' पाठ रहनेसे यह क्लीबलिङ्ग शब्दका विशेषण 'कार्यहन्तारम्' और 'प्रियवादिनम्' ऐसा पुँल्लिंग नहीं रह सकता ।

मित्रलाभ श्लोक नं० ८३ व ९० चाणक्यमें अविकल है। श्लोक नं० ९७ कामन्दकनीतिके चौथे सर्गमें यथा–

शुचिता त्यागिता शौर्यं समानसुखदुःखता।
अनुरागश्च दाक्ष्यं च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १०० कामन्दकनीति चतुर्थ सर्गके इन दो श्लोकोंसे संकलित हुआ है; यथा–

गुणद्वयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिभां तथा ।
कथायोगेन बुध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम् ।
अस्तब्धतामचापल्यं वैराणां चापि कर्तृताम् ।
प्रत्यक्षतो विजानीयाद्भद्रतां क्षुद्रतामपि ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १०३, शुक्रनीति प्रथम अध्याय, श्लोक नं० ३८ में यथा–

न संत्यजेच्च स्वस्थानं नीत्या शत्रुगणं जयेत् ।
स्थानभ्रष्टा नो विभान्ति दन्ताः केशा नखा नृपाः॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १००, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, वृद्धचाणक्यमें प्रायः अविकल हैं।

मित्रलाभ श्लोक नं० १२१, मनुस्मृति ९ अध्याय, श्लोक नं० १३ में लगभग अविकल है; यथा–

दानं दुर्ज्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० २३ महाभारत अनुशासन पर्व ३९ अध्याय श्लोक नं० ५ में यथा–

न चासां मुच्यते कश्चित्पुरुषो हस्तमागतः ।
गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १२६ चाणक्यमें अविकल है। श्लोक नं० १२७ मनुस्मृति ९ अध्यायके तीसरे श्लोकमें यथा–

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

यही श्लोक मनुस्मृति ५ अध्यायके १४८ श्लोकमें प्रकारान्तरसे है; यथा-

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १२८, शुक्रनीतिके तीसरे अध्यायमें यथा--

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नात्यन्तैकान्तिकं वसेत् ।
यथासम्बन्धमाहूयादाभाष्याश्वास्य वै स्त्रियम् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १२९ महाभारत अनुशासन पर्व ३९ अध्याय, श्लोक नं० ८ में यथा-

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ।
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येते तास्तु रक्ष्याः कथं नरैः ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १३२ । १३३ यह दोनों वृद्धचाणक्यमें लगभग अविकल हैं, केवल श्लोक नं० १३३ में 'स तु पण्डितः' के स्थानमें 'स तु जीवति' यह पाठान्तर है । यह दो श्लोक महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ८ अध्याय, श्लोक नं० १८ । १९ में प्रायः अविकल हैं; यथा—

अर्थेनेह विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स तु पण्डितः ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १३४ लघुचाणक्यमें यथा-

अविद्यं जीवनं शून्यं दिक् शून्या चेदबान्धवा ।
पुत्रहीनं गृहं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता ॥

वृद्धचाणक्यमें पाठान्तर यथा-

अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्यास्त्वबान्धवाः ।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता ॥

मृच्छकटिक नाटकके मुखबन्धमें यथा–

शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम् ।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ।

मित्रलाभ श्लोक नं० १३५ मृच्छकटिकनाटकके प्रथम अंकमें यथा–

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्यम् ।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ।

मित्रलाभ श्लोक नं० ३३७ लघुचाणक्यमें अविकल है । वृद्धचाणक्यमें पाठ-भेद है; यथा–

अर्थनाशं मनस्तापं गृहिणीचरितानि च ।
नीचवाक्यं चापमानं मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १३८, वृद्धचाणक्यमें है शुक्रनीतिके तीसरे अध्याय श्लोक नं० १२९ में यथा—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम् ।
तपोऽपमानदानानि नवैतानि सुगोपयेत् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १४३ मृच्छकटिकनाटकके प्रथम अंकमें यथा–

दारिद्र्याद्ध्रियमेति तत्परिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकविहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १५२ का पाठान्तर वृद्धचाणक्यमें यथा–

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तिरेव च ।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १५८ चाणक्यमें अविकल है और महाभारतके भी अनेक-स्थानोंमें दृष्टि आता है, उद्योग पर्व ३७ अध्याय श्लोक नं० १८ में और १२८ अध्याय श्लोक नं० ४९ में यथा-

त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १५९, महाभारत शान्तिपर्वराजधर्म १११ अध्याय, श्लोक नं० ३२ में अविकल है। श्लोक नं० १६१ का पाठभेद वृद्धचाणक्यमें इस प्रकार है; यथा-

संसारकूटवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे ।
सुभाषितरसास्वादः सङ्गतिः सुजनैः सह ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १६४ वृद्धचाणक्यमें अविकल है; केवल 'परीवाह' के स्थानमें 'परिस्रव' पाठभेद है। श्लोक नं० १६८ महाभारत शान्तिपर्व मोक्ष धर्म ३२१ अध्यायके श्लोक नं० ३९२ में यथा-

धनेन किं यन्न[1] ददाति नाश्नुते बलेन किं येन रिपुं न बाधते । श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत् किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १७९ महाभारत उद्योगपर्व ३३ अध्याय, श्लोक नं २७ में व और पर्वोंमें अविकल है। श्लोक नं० १८० वनपर्व ३१२ अध्याय, श्लोक नं० ५ में इस प्रकारसे है; यथा-

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान्स धार्मिकः ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १८२ महाभारतके बहुतस्थानोंमें अनेक प्रकारसे है, शान्तिपर्व मोक्षधर्म १७४ अध्यायमें यथा—

१-यो न । इतिसमीचीनपाठः ।

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत्परिवर्ततः ॥

मोक्षधर्मके स्थानान्तरमें यथा–

एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च ।
जीवेषु परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥

वनपर्वके २८५ अध्यायमें यथा—

सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते ।
न ह्यनन्तं सुखं कश्चित्प्राप्नोति पुरुषर्षभ ॥
सुखमापतितं सेवेद्दुःखमापतितं वहेत् ।
कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः ॥

वनपर्वके २६० अध्यायमें यथा—

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
पर्यायेणोपसर्पन्ति नरं नेमिमरा इव ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १९० महाभारत वनपर्व दूसरा अध्याय, श्लोक नं० ४३ में इस प्रकारसे है; यथा–

अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये ।
सहन्ते च महद्दुःखं हन्ति चैवार्थकारणात् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० १९२ महाभारत वनपर्व दूसरा अध्याय श्लोक नं० ४८ में अविकल है। श्लोक नं० १९३ महाभारत वनपर्वके दूसरे अध्यायके श्लोक नं० ३९ में अविकल है। श्लोक नं १९५ महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म १७७ अध्यायके श्लोक नं० २६ में इस प्रकारसे है; यथा–

ईहा धनस्य न सुधा लब्धे चिन्ता च भूयसी ।
लब्धनाशो यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० २०३ कामन्दकनीति चतुर्थसर्ग श्लोक नं० ७४ में अविकल है। श्लोक नं० २०४ चाणक्यमें अविकल है। मित्रलाभ, श्लोक नं० २०९ महाभारत-आदिपर्व-सभापर्व अध्याय ७४ श्लोक नं० ७९ में अविकल है। वृद्धचाणक्यमें इसका पाठान्तर यथा-

सा भार्या या शुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता ।
सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या या प्रियंवदा ॥

श्लोक नं० २१० चाणक्यमें अविकल है। श्लोक नं० २११ महाभारत शांतिपर्व आपद्धर्मके १४८ अध्यायमें इस प्रकारसे है; यथा-

न सा स्त्री ह्यभिमन्तव्या यस्यां भर्त्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥
अग्निसाक्षिकमित्येव भर्त्ता हि दैवतं परम् ।

मित्रलाभ श्लोक नं० २१४ महाभारत शांतिपर्व राजधर्म ५७ अध्यायके ४० नं० श्लोकमें अविकल है, केवल-' लोकेऽस्मिन्' के स्थानमें 'लोकस्य' यह पाठभेद है। श्लोक नं० २१५, महाभारत व कामन्दकनीति इत्यादिके अनेक स्थानोंमें अनेक प्रकारसे देखाजाता है, शांतिपर्व राजधर्म ७५ अध्यायमें यथा-

पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ।
नरास्तमुपजीवन्ति नृपं सर्वार्थसाधकम् ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० २१६, कामन्दकनीति द्वितीयसर्ग श्लोक नं० ४३ प्रायः अविकल है। परन्तु किंचित् पाठभेद है; यथा-

नियतविषयवर्त्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशोऽस्मिन्दुर्लभं साधुवृत्तः ।
कृशमथ विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमिव कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति ॥

मनुस्मृति ७ अध्याय श्लोक नं० २२ भी इसके अनुसार है; यथा-

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥

मित्रलाभ श्लोक नं० २२२ के अनुरूप श्लोक महाभारत शांतिपर्व राजधर्म २७ अध्यायमें यथा–

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥

मोक्षधर्म ३३० अध्यायमें भी इस प्रकारसे है । मित्रलाभ श्लोक नं. २२५ चाणक्यमें अविकल है । सुहृद्भेद, श्लोक नं० ३ चाणक्यमें अविकल है । श्लोक नं० ६ माघकविके शिशुपालवध काव्यके दूसरे सर्ग श्लोक नं० ३२ में अविकल है । श्लोक नं० ७ महाभारत उद्योगपर्व १३३ अध्याय, श्लोक नं० २ में अविकल है । केवल–' निरुत्साहं निरानन्दम्' के स्थानमें ' निरामयं निरुत्साहम् ' यह पाठ-भेद है । श्लोक नं० ८ मनुस्मृति ७ अध्याय नं० ९९ व १०१ में लगभग अविकल है; यथा–

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्द्धयेद्वृत्त्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत ॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० ९ के पूर्वार्द्धका पाठभेद वृद्धचाणक्यमें यथा–' श्लोकेन वा तदर्द्धेन तदर्द्धार्द्धाक्षरेण च ' । श्लोक नं० १० व ११ वृद्धचाणक्यमें अविकल है । श्लोक नं० १३ में ' साध्यसिद्धिर्विधीयताम् ' के स्थानमें ' साध्ये सिद्धिर्विधीयते ' यह पाठभेद है । श्लोक नं० १५ महाभारत अनुशासन पर्व दानधर्म १६३ अध्यायके श्लोक नं० ११ में यथा–

नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि ।
तृणाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० ४७ अनेक पुराणोंमें मिलता है, इसके अपरार्द्धका पाठान्तर मत्स्यपुराणके १९४ अध्यायमें यथा–' नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ।'

श्लोक नं० ४८ वृद्धचाणक्यमें अविकल है। श्लोक नं० ४९ महाभारत उद्योगपर्व ३३ अध्याय, श्लोक नं० ४० में यथा-

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० ५२ कामन्दकनीति ५ सर्ग श्लोक नं० २२ में यथा--

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगाज्ञापयेति च ।
आज्ञां चावितथीकुर्याद्यथाशक्त्याविलम्बितम् ॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० ५६ । ५७ । ५८ । में जो अनुरक्त और विरक्त प्रभुका लक्षण है वह मत्स्यपुराण राजधर्म १९० अध्यायमें कुछएक बदलाहुआ पायाजाता है। श्लोक नं० ६१ महाभारत उद्योगपर्व ३९ अध्यायके श्लोक नं० २ प्रायः अविकल है; यथा—

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ! ॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० ६२ शुक्रनीति द्वितीय अध्यायके श्लोक नं० २२१ में प्रायः अविकल है, केवल–'अपृष्टेनापि वक्तव्यं मर्त्येन हितमिच्छता' इस स्थानमें 'अपृष्टोऽपि हितान्वेषी ब्रूयात्कल्याणभाषितम्' यह पाठान्तर है। श्लोक नं० ६६ वृद्धचाणक्यमें प्रायः अविकल है, केवल–'पादेषु' के स्थलमें 'पादाग्रे' पाठान्तर है, किसी २ पुस्तकमें 'क्रयविक्रयवेलायाम्' के स्थानमें 'यथैवास्ते तथैवास्ताम्' यह पाठान्तर देखाजाता है। श्लोक नं० ६९ महाभारत उद्योगपर्व ३३ अध्याय श्लोक नं० ६५ प्रायः अविकल है, केवल–'तथैवैतान्' के स्थानमें 'यथावत्तान्' यह पाठान्तर है । श्लोक नं० ७३ में 'बुद्धिमाननुरक्तोऽयमिहोभयगुणो जनः' इस स्थानमें 'बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम्' यह पाठान्तर दृष्टि आता है।

सुहृद्भेदके श्लोक नं० ८० । ८१ दोनों मनुस्मृति अध्याय श्लोक नं० ११। १२ में अविकल है, केवल–'पद्मास्ते' के स्थलमें 'पद्मा श्रीः' यह पाठभेद है। श्लोक नं० ८६ माघकविके शिशुपालवधकाव्यके सोलहवें सर्गके श्लोक नं० २५ में अविकल है। सुहृद्भेद श्लोक नं० ८९ से श्लोक नं० ... तक ... कोष-

रक्षाव्यवस्था और अनुजीवीलोगोंके कार्य देखनेकी व्यवस्था है, वह कामन्दकनीति, शुक्रनीति आदिके अनेक स्थानसे सारसंकलन करके ग्रहण कीगई है। श्लोक नं० १०८ कामन्दकनीति ५ सर्ग श्लोक नं० ८२ में प्रायः अविकल है; यथा—

आयुक्तकेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् ।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० ११० महाभारत आदिपर्व--सभापर्व--दुष्यन्तोपाख्यानमें और महाभारतके दूसरे स्थानोंमेंभी अविकल है। श्लोक नं० ११३ महाभारत उद्योग पर्व ४० अध्याय, श्लोक नं० ७में व अनुशासनपर्व ३८ अध्याय श्लोक नं० २५ में अविकल है। श्लोक नं० ११७ लघुचाणक्यमें अविकल है, वृद्धचाणक्यमें पाठान्तर यथा--'आहारो द्विगुणः स्त्रीणाम्' के स्थानमें 'स्त्रीणां द्विगुण आहारः' 'बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा' के स्थलमें 'लज्जा चापि चतुर्गुणा' 'षड्गुणो व्यवसायश्च' के स्थानमें 'साहसं षड्गुणं चैव' पाठभेद है। श्लोक नं० ११९। १२० चाणक्यमें अविकल है। श्लोक नं० १२५, मुद्राराक्षसनाटकके चौथे अंकमें अविकल है। श्लोक नं० १३३ महाभारत--उद्योगपर्व ३७ अध्याय श्लोक नं० १६ में यथा--

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य परिणामः सुखावहः ॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० १४१, महाभारत–शांतिपर्व–राजधर्म ८५ अध्याय, श्लोक नं० २५ में यथा–

न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत् ।
आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयेत वा ॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० १४५, शिशुपालवधकाव्यके दूसरे सर्गमें अविकल है। श्लोक नं० १४६, चाणक्य और महाभारतके पृथक् २ स्थानोंमें पृथक् २ रूपसे है, शांतिपर्व–आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक नं० ३० में यथा–

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० १५१ वृद्धचाणक्यमें है 'को वास्ति राज्ञां प्रियः' के स्थलमें 'को नाम राजप्रियः' 'कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः' के स्थलमें 'कः कालस्य न गोचरत्वगमत्' इत्यादि पाठान्तर हैं।

सुहृद्भेद श्लोक नं० १६८, महाभारत–स्त्रीपर्व दूसरा अध्याय श्लोक नं० १४ में इस प्रकारसे है यथा–

हतोऽपि लभते स्वर्गं हत्वा च लभते यशः।
उभयं नो बहुगुणं नास्ति निष्फलता रणे॥

मनुस्मृति, सातवां अध्याय, श्लोक नं० ८९ में यथा—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० १७७ महाभारत-शान्तिपर्व-आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक नं० १४७ में इस प्रकारसे है; यथा–

पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता॥

विग्रह श्लोक नं० २। ३ कामन्दकनीति प्रथम सर्ग श्लोक नं० १०। १२ में अविकल है और श्लोक नं० २ का शुक्रनीति प्रथम अध्याय श्लोक नं० ६५ में अविकल है। श्लोक नं० ४ शुक्रनीति चतुर्थ अध्याय, प्रथम प्रकरण श्लोक नं० १९ में इस प्रकारसे है; यथा–

उपदेशो हि मूर्खाणां क्रोधायैव शमाय न।
पयःपानं भुजङ्गानां विषायैवामृताय न॥

विग्रह श्लोक नं० ७ माघकविके शिशुपालवधकाव्यके दूसरे सर्गके श्लोक नं० ४४ में अविकल है। श्लोक नं० १०। ११ वृद्धचाणक्यमें अविकलहै। श्लोक नं० १६ कामन्दकनीति १२ सर्ग श्लोक नं० ८ में इस प्रकारसे है; यथा–

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं शासनं वदेत्।
[illegible] भर्तरि॥

विग्रह श्लोक नं० २१ में 'प्रसादं कुरुते पत्युः सम्पत्तिं नाभिवाञ्छति' की जगह अनेक पुस्तकोंमें ' प्रसादः कुरुते भर्तुः सम्पत्तिं नाभिजानता ' यह पाठ देखाजाता है, परन्तु अर्थ न लगनेसे यह अपपाठ जानपडता है। श्लोक नं० २४ वृद्धचाणक्यमें अविकल है।

श्लोक नं० २७। २८। २९ महाभारत और अनेक पुराणोंमें कुछ २ बदलेहुए हैं इनमें श्लोक नं० २७ का महाभारत अनुशासनपर्व-दानधर्म १४६ अध्याय श्लोक नं० ३९ में इस प्रकारसे है; यथा-

परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा क्रुद्धेन चक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भर्त्तुर्या नारी सा पतिव्रता॥

विग्रह श्लोक नं० ३० का शेषार्द्ध अंगिराजीके वचनमें कुछ एक बदला हुआ देखाजाता है; यथा-' तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्त्तारं याऽनुगच्छति' के स्थानमें अङ्गिराजीका वचन ' तावन्त्यब्दानि सा स्वर्गे भर्त्तारं याऽनुगच्छति ' इस प्रकारसे है। श्लोक नं० ३१ अंगिराजीके वचन और महाभारतमें अविकल है। श्लोक नं० ३२ मनुस्मृतिके पंचम अध्याय श्लोक नं० १५१ में अविकल है। श्लोक नं० ३८ कामन्दकनीति द्वादशसर्ग श्लोक नं० १३ में प्रायः अविकल है, केवल-' तीर्थाश्रमसुरस्थाने ' इस स्थानमें ' तीर्थाश्रमाश्रयस्थाने ' और ' संवदेत् ' के स्थानमें 'संवसेत्' यह पाठान्तर है। श्लोक नं० ३९ गरुडपुराणके ११४ अध्यायमें इस प्रकारसे है;-

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णश्च धार्यते।
द्विकर्णस्य तु मन्त्रस्य ब्रह्माऽप्यन्तं न बुध्यते॥

विग्रह श्लोक नं० ४० महाभारत आश्रमवासिकपर्व ५ अध्याय श्लोक नं० २४ में प्रायः अविकल है; यथा-

मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीक्षिताम्।
न ते शक्याः समाधातुं कथञ्चिदिति मे मतिः॥

यही कालिकापुराणके ८५ अध्यायमें इस प्रकारसे है; यथा-

दूषणं मन्त्रभेदेषु नृपाणां यद्विजायते।
न तच्छक्यं समाधातुं दशैर्नृपशतैरपि॥

विग्रह श्लोक नं० ४२ । ४३ मनुस्मृति सप्तम अध्याय श्लोक नं० १९८।१९९ में प्रायः अविकल हैं-

सान्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥

इसका अनुरूप श्लोक महाभारत-शान्तिपर्व-राजधर्ममें ६९ अध्यायमें यथा-

वर्ज्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता ।
उपायैस्त्रिभिरादानमित्युवाच बृहस्पतिः ॥
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिपः ।
यमर्थं शक्नुयात्प्राप्तुं तेन तुष्येत पण्डितः ॥

विग्रह श्लोक नं० ४९ का शेषार्द्ध अर्थात्-' हस्तिना सह युद्धं हि नराणां मृत्युमावहेत् '। इस जगह अनेक पुस्तकोंमें ' न युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां पादयुद्धवत् ' यह पाठ है। विग्रह श्लोक नं० ५१ का कामन्दकनीति १०-सर्ग श्लोक नं० ३५ में प्रायः अविकल है; यथा-

कौर्मसङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
काले प्राप्ते तु मतिमानुत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत् ॥

यही मत्स्यपुराणके १८९ अध्यायमें यथा-'गूहेत्कूर्म इवांगानि रक्षेद्विवरमात्मनः' इत्यादि। इसका अनुरुप श्लोक, महाभारत शान्तिपर्व-आपद्धर्म १४० अध्याय, श्लोक नं० २४ में यथा—

नात्मच्छिद्रं रिपुर्विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतेत् ॥

विग्रह श्लोक नं० ५३ मनुस्मृति सातवां अध्याय, श्लोक नं० ७४ में अविकल है, कालिकापुराण ८५ अध्यायमें यह कुछएक बदला हुआ है. यथा–

शतमेको योधयति दुर्गस्थो यो धनुर्धरः ।
शतं दश सहस्राणि तस्माद्दुर्गं प्रशस्यते ॥

विग्रह श्लोक नं० ६२ कामन्दकनीति अष्टम सर्ग नं० ६२ श्लोकमें प्रायः अविकल है; यथा—

छिद्रं कर्म च वित्तं च विजानाति निजो रिपुः ।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कवृक्षमिवानलः ॥

विग्रह श्लोक नं० ६४ महाभारत उद्योगपर्व ३५ अध्याय श्लोक नं० ५८ में प्रायः अविकल है; यथा—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्म्मम् । नासौ धर्म्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥

विग्रह श्लोक नं० ६७ चाणक्यमें अविकल है, श्लोक नं० ६९ कामन्दकनीति दशम सर्ग श्लोक नं० २८ में प्रायः अविकल है; यथा—

भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलत्रयम् ।
यदैतन्नियतं भावि तदा विग्रहमाचरेत् ॥

विग्रह श्लोक नं० ७२ । ७३ । ७४ । ७५ यह चार कामन्दकनीति १८ सर्ग ४४ । ४५ । ४६ । ४७ इन चार श्लोकोंसे प्रायः अविकल ग्रहण किये गये हैं। कामन्दकनीतिसे यह चार श्लोक यथा–

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं भवेत् ।
सेनापतिस्तत्र तत्र गच्छेद्व्यूहीकृतैर्बलैः ॥
नायकः पुरतो यायात्प्रवीरपृतनावृतः ।

मध्ये कलत्रं स्वामी च कोषः फल्गु महद्धनम् ॥

पार्श्वयोः समयोरश्वा वाजिनां पार्श्वयो रथाः ।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां चाटवीबलम् ।
पश्चात्सेनापतिः सर्वं पुरस्कृत्य कृती स्वयम् ।
यायात्सम्बद्धसैन्यौघः खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ॥

विग्रह श्लोक नं० ७६ इत्यादि कई एक श्लोकोंके मिलता श्लोक महाभारत शान्तिपर्व-राजधर्म १०० अध्यायमें यथा—

अकर्दमामनुदकाममर्यादामलोष्टकाम् ।
अश्वभूमिं प्रशंसन्ति ये युद्धकुशला जनाः ॥
अपङ्कगर्तरहिता रथभूमिः प्रशस्यते ।
नीचद्रुममहाकक्षा सोदका हस्तियोधिनाम् ॥
बहुदुर्गा महाकक्षा वेणुवेत्रसमाकुला ।
पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोपवनानि च ॥
पदातिबहुला सेना दृढा भवति भारत ।
रथाश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते ॥
पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते ।
गुणानेतान्प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत् ॥

इत्यादि । विग्रह श्लोक नं० ७९ कामन्दकनीति अष्टादश सर्ग, श्लोक नं० २२ । २३ का संक्षेपमात्र है; यथा-

अविचित्तं कोपभयादभ्यासेन रिपोर्बलम् ।
वासयेत्कर्षयेच्चैनं दुर्गकण्टकशोधनैः ॥
नित्यमाटाविकं सैन्यं दुर्गकण्टकशोधनैः ।
परदेशप्रवेशे च पुरा कुर्वीत पण्डितः ॥

विग्रह श्लोक नं० ८१ महाभारत भीष्मपर्व ४२ अध्यायमें इस प्रकारसे है; यथा—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

विग्रह श्लोक नं० ८३ कामन्दकनीति १८ सर्ग श्लोक नं० ३३ । ३४ इन दोनोंका संक्षेपमात्र है; यथा–

प्रवीरपुरुषैरेतैस्तिष्ठेयुः परिवारिताः ।
अभेदेन च युद्ध्येरन् रक्षेयुश्च परस्परम् ॥
फल्गुसैन्यस्य यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य तद्भवेत् ।
युद्धवस्तु च यत्किञ्चित्प्रायस्तज्जघने भवेत् ॥

विग्रह श्लोक नं० ८३ का शेषार्द्ध मनुस्मृति सप्तम अध्यायके श्लोक नं० १८५ के पूर्वार्द्धसे अविकल ग्रहण कियागया है । मनुका श्लोक यथा–

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥

विग्रह श्लोक नं० ८४ का मनुस्मृति सप्तम अध्यायके श्लोक नं० १८२ में अविकल है; यथा–

स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥

विग्रह श्लोक नं० ८५ का मनुस्मृति सप्तम अध्यायके श्लोक नं० १९७ के पूर्वार्द्धसे अविकल गृहीत हुआ है । श्लोक नं० ८६ कामन्दकनीति नवम सर्ग श्लोक नं० ६७ में प्रायः अविकल है; यथा–

युवराजेन सन्धाय प्रधानपुरुषेण वा ।
ततः प्रकोपं जनयेदभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥

विग्रह श्लोक नं० ८७ कामन्दकनीति अठारहवें सर्गके श्लोक नं० ६२ में इस प्रकारसे है यथा–

मृगयासम्प्रयुक्तं वा हन्याच्छत्रुं व्यपाश्रयः ।

अथवा गोग्रहाकृष्टया तल्लक्ष्यं मार्गबन्धनात् ॥

विग्रह श्लोक नं० ९९ । १०० यह दो माघकविके बनाये शिशुपालवध काव्यके दूसरे सर्गमें अविकल हैं। श्लोक नं० १०४ नागानन्दनाटकमें यह अविकल है यथा-

स्वार्थसिद्धौ म्रियन्ते च मादृशाः क्षुद्रजन्तवः ।
परार्थबद्धकक्षाणां त्वादृशामुद्भवः कुतः ॥

विग्रह श्लोक नं० १०५, महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ७० अध्यायके श्लोक नं० ४ में अविकल है, केवल 'दाता सत्पात्रवर्षी स्यात्' के स्थानमें 'दाता नाऽपात्रवर्षी स्यात्' पाठभेद है । श्लोक नं० ११० कामन्दकनीतिमें आठवें सर्गके श्लोक नं० १५ से अविकल ग्रहण कियागयाहै । यह श्लोक नं० १११ । ११२ । ११३ । ११४ के चार कामन्दकनीति अष्टादशसर्गके श्लोक नं० ५० । ५१ । ५२ । और ६२ से प्रायः अविकल लियेगये हैं । कामन्दकनीतिके वह चार श्लोक नीचे लिखे हैं; यथा-

कन्दराशैलगहननिम्नगावनसङ्कटे ।
दीर्घेऽध्वनि परिश्रान्तं क्षुत्पिपासाहिमक्लमम् ॥
व्याधिदुर्भिक्षमकरैः पीडितं दस्युविद्रुतम् ।
पङ्कपांसुजलक्लिन्नं व्यस्तं पुञ्जीकृतं पथि ॥
प्रसुप्तं भोजनव्यग्रमभूमिष्ठमसंस्थितम् ।
चौराग्निभयवित्रस्तं वृष्टिवातसमाहितम् ।
अवस्कन्दभयाद्रात्रौ प्रजागरकृतश्रमम् ।
अवसन्नाहकश्रान्तमपराह्णे विनाशयेत् ॥

विग्रह श्लोक नं० ११५, महाभारत-उद्योगपर्व ३४ अध्याय श्लोक नं० १२ में अविकल है । मनुस्मृति और कामन्दकनीतिके इत्यादिके जिन श्लोकोंमें व्यसनके विषयमें लिखाहै, यह ११८ श्लोक उसकाही संक्षेपमात्र है । श्लोक नं० १२० अनेक प्राचीन प्रबन्धोंमें देखाजाताहै । १२२ नं० श्लोक चाणक्यमें अविकल है । श्लोक नं० १२३ महाभारत-उद्योगपर्व ३८ अध्याय श्लोक नं० ३० में प्रायः अविकल है; यथा—

दैवतेषु च यत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो बालवृद्धातुरेषु च ॥

उद्योगपर्व छत्तीस अध्यायमें और प्रकारसे यथा—

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥
अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥

विग्रह श्लोक नं० १२५ माघकविप्रणीत शिशुपालवध काव्यके दूसरे सर्गमें अविकल है । नं० १२९ और १३० के यही श्लोक, महाभारत–शान्तिपर्व राजधर्मके १०२ अध्यायमें श्लोक नं० २० । २१ से कुछ बदलकर ग्रहण किये हैं, महाभारतके यह दो श्लोक यथा—

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तप्राणाः सुनिश्चिताः ।
अपि पंचशतं शूरा मृद्नन्ति परवाहिनीम् ॥
अपि वा पञ्च षट् सप्त संहताः कृतनिश्चयाः ।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्तीह शात्रवान् ॥

विग्रह श्लोक नं० १३२, कामन्दकनीति चतुर्थ सर्गके श्लोक नं० २४ का कुछ एक बदला है कामन्दकनीति चतुर्थ सर्गके श्लोक नं० २४ का कुछएक बदले हैं, कामन्दकनीतिका वह श्लोक यथा–

त्यागः सत्यं च शौर्यं च त्रय एते महागुणाः ।
प्राप्नोति हि गुणान्सर्वानेतैर्युक्तो नराधिपः ॥

विग्रह श्लोक नं० १३४ महाभारत उद्योगपर्व ३८ अध्याय श्लोक नं० ४३ में इस प्रकारसे है; यथा–

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवा इव ॥

विग्रह श्लोक नं० १३५ के पूर्वार्द्धमें-' हर्षक्रोधौ यतौ यस्य कोषस्वल्पव्ययेन च ' इस स्थानमें-' हर्षक्रोधौ समौ यस्य शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ' यह पाठभी किसी २ पुस्तकमें देखाजाताहै। श्लोक नं० १३७ ' मज्जतोऽकार्यसागरे ' के स्थानमें ' संकीर्णस्येव दन्तिनः ' और ' सुशिष्टैरेव दीयते ' के स्थानमें ' सुहृत्साचिवचेष्टितम् ' यह पाठ भी किसी २ पुस्तकोंमें है । विग्रह श्लोक नं० १३८ में 'वनात्तु प्रच्युतः' के स्थानमें किसी पुस्तकके बीच ' वनाद्विनिर्गतः शूरः ' यह पाठ है, और सम्पूर्ण श्लोकका पाठान्तर यथा—

नक्रः स्वस्थानमाश्रित्य गजेन्द्रमपि कर्षति ।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥

विग्रह श्लोक नं० १४२ महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक नं० १२ में प्रायः अविकल है; यथा—

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपदास्पदकालेन कुर्वीत न विचारयेत् ॥

विग्रह श्लोक नं० १४४ वेणीसंहारनाटकमें अविकल है। श्लोक नं० १४६ अनेक प्राचीन प्रबन्धोंमें कुछ २ बदला हुआ है, कामन्दकमें यथा—

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोषो बलं सुहृत् ।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ।
पौरश्रेण्या सहाष्टाङ्गमपि राज्यं प्रकीर्त्तितम् ॥

अमरकोषमें यथा—

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च ।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥

शब्दरत्नावलीमें यथा—

स्वाम्यमात्यः सुहृत्कोषो राष्ट्रदुर्गबलं तथा ।
पौरश्रेणी च राज्याङ्गं प्रकृतिश्च भवेद्द्वयम् ॥

विग्रह श्लोक नं० १४८ कामन्दकनीति चतुर्थसर्ग, श्लोक नं० ४२ में इस प्रकार है; यथा—

नरेश्वरे जगत्सर्वं निमीलति निमीलति।
सूर्योदये यथाऽम्भोजं तत्प्रबोधे प्रबुध्यते॥

विग्रह श्लोक नं० १५०। १५१ यह दो श्लोक महाभारत और पुराण इत्यादिके अनेक स्थानोंमें कुछ २ पाठभेदसे लिखेहुए हैं।

संधि प्रकरण–श्लोक नं० ५ से अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति, व यद्भविष्य-नामक तीन मत्स्योंकी जो कथाहैं;–वह महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मके १३७ अध्यायसे लीगई है। महाभारतमें यह कथा श्लोकबद्ध है और हितोपदेशके बीच गद्यमें लिखी हुई है, इन कथाओंके सूचनार्थ प्रथम श्लोक दोनों ग्रन्थोंमेंही प्रायः अविकल है, केवल–' यद्भविष्य ' के स्थानमें महाभारतके बीच ' दीर्घसूत्र ' नामान्तरमात्र है। इन कथाओंकी सूचनाका प्रथम श्लोक वृद्धचाणक्यमेंभी देखाजाताहै।

सन्धि श्लोक नं० ११, महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्म १४० के श्लोक नं० ३७ में इस प्रकारसे है; यथा—

योऽरिणा सह सन्धाय सुखं स्वपिति विश्वसन्।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते॥

सन्धिमें जो एक दृष्टान्त है कि, मुनिके प्रसादसे एक चूहा व्याघ्र होकर मुनिकाही वध करनेके लिये तैयार हुआ था, यह कथा महाभारत शान्तिपर्व राजधर्मके ११६। ११७ अध्यायोंसे संगृहीत हुई है, संग्रह करनेमें विष्णुशर्माजीने कथाको कुछेक बदलडालाहै।

सन्धि श्लोक नं० १६ का माघकविप्रणीत शिशुपालवधकाव्यके दूसरे सर्गमें अविकल है। श्लोक नं० २० कामन्दकनीति–चतुर्थसर्ग श्लोक नं० ४९ में प्रायः अविकल है; यथा–

मदोद्धतस्य नृपतेः सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः।
गच्छन्त्यन्यायवृत्तस्य नेतारः खलु वाच्यताम्॥

सन्धि श्लोक नं० २१, महाभारत-उद्योगपर्व ३७ अध्याय श्लोक नं० १७ में अविकल है, केवल–' प्रियाप्रियम् ' के स्थानमें ' प्रियाप्रिये ' यह पाठान्तर है, २२। २३। २४ यह तीन श्लोक, कामन्दकनीति नवमसर्गके ५९। ७५ और

६१ इन तीन श्लोकोंसे यथाक्रम अविकल गृहीत हुए हैं। केवल 'सुहृद्बलम्' के स्थानपर कामन्दकमें 'सुहृद्धनम्' और श्लोक नं० २४ में 'युद्धे विनाशो भवति' के स्थानपर कामन्दकमें 'नाशो भवति युद्धेन' यह पाठ है।

सन्धिमें सुन्द उपसुन्दनामक दो दैत्योंकी कथा है, जो महाभारत आदिपर्व राज्यलाभपर्व २१० अध्यायसे ३१३ अध्यायतक अति विस्तारसे वर्णित है। सन्धि श्लोक नं० २६।२७।२८।२९।३०।३१।३२।३३।३४।३५।३६।३७।३८।३९।४०।४१।४२।४३।४४।४५।४६।४७।४८।४९।५०।५१। और ५२ ये सत्ताईसे श्लोक यथाक्रमसे कामन्दकनीति नवमसर्ग श्लोक नं० ४२।४३।४४।४५।४६।४९।५१।५२।२३।२४।२५।२६।२७।२८।२९।३०।३१।३२।३३।३४।३५।३६।३७।३८।३९।४०।४१ इन सत्ताईस श्लोकोंसे गृहीत हुए हैं, केवल दो एक स्थानोंमें कुछ २ पाठभेद है।

सन्धि श्लोक नं० ५५ कामन्दकनीति ९ सर्ग श्लोक नं० ७७ में प्रायः अविकल है, केवल-'समं सुतप्तः' के स्थानपर 'ससम्प्रतप्तः' पाठभेद है। श्लोक नं० ६१ का अनुरूपभाव महाभारत-स्त्रीपर्व ७ अध्याय श्लोक नं० २५ में यथा-

न तत्क्रतुसहस्रेण नोपवासैश्च नित्यशः।
अभयस्य हि दानेन यत्फलं प्राप्नुयान्नरः॥

सन्धि श्लोक नं० ६५ कामन्दकनीति दशम सर्ग श्लोक नं० ३६ इस प्रकारसे है; यथा—

काले सहिष्णुर्गिरिवदसहिष्णुश्च वह्निवत्।
स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्प्रियाणि समुदाहरन्॥

शुक्रनीति तीसरा अध्याय श्लोक नं० १३३ में यथा-

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्स्यात्स्वबलाधिकः।
ज्ञात्वा नष्टबलं तं तु भिन्द्याद्धटमिवाश्मनि॥

महाभारत आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक नं० १८ में यथा-

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः।
प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद्घटमिवाश्मना॥

सन्धि श्लोक नं० ७१ महाभारत–वनपर्व दूसरा अध्याय श्लोक नं० ४६ में अविकल है। केवल–'द्रव्यसञ्चयः' के स्थानपर 'रत्नसञ्चयः' और 'मुह्येत्' के स्थानपर 'गृध्येत्' यह पाठान्तर है; शांतिपर्व–मोक्षधर्म २०५ अध्याय श्लोक नं० ४ में और ३३० अध्याय श्लोक नं० १४ में यह अविकल है। केवल–'ऐश्वर्यम्' के स्थानपर 'आरोग्यम्' और 'मुह्येत्' के स्थानपर 'गृध्येत्' यह पाठान्तर है।

सन्धि श्लोक नं० ७२ महाभारत-शांतिपर्व-राजधर्म २८ अध्याय श्लोक नं० ३६ में और मोक्षधर्म १७४ अध्याय श्लोक नं० १६ में ठीक अविकल है। श्लोक नं० ७६ महाभारत-शांतिपर्व-राजधर्म २८ अध्याय श्लोक नं० ५८ में अविकल है। केवल–'येन केनचित्' के स्थानमें 'जातु केनचित्' यह पाठभेद है और शांतिपर्व-मोक्षधर्म ३१९ अध्याय श्लोक नं० ९ इसका रूपान्तर है, यथा–

पथि संगतमेवेदं दारैरन्यैश्च बन्धुभिः।
नायमत्यन्तसंवासो लब्धपूर्वो हि केनचित्॥

सन्धि श्लोक नं० ७९ महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्म ३३१ अध्याय श्लोक नं० ५ में प्रायः अविकल है; यथा–

स्रवन्ति न निवर्त्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः॥

सन्धि श्लोक नं० ८७ शान्तिशतक २ और दूसरे प्राचीन प्रबन्धोंमें देखाजाता है। श्लोक नं० ८८ मनुसंहिता ६ अध्याय श्लोक नं० ६६ में प्रायः अविकल है; यथा–

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समं सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥

सन्धि श्लोक नं० ८९ महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ११० अध्याय श्लोक नं० २३ में प्रायः अविकल है; यथा–

यात्रार्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

सन्धि श्लोक नं० ९० महाभारत-उद्योगपर्व ४० अध्याय श्लोक नं० २१ में इस प्रकारसे है; यथा-

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृति-
कूलादयोर्मिः। तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो
ह्यात्मा नित्यमम्भोऽम्भ एव ॥

सन्धि श्लोक नं० ९१ महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ९ नवम अध्याय श्लोक-नं० ३३ में प्रायः अविकल हैः यथा-

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
अपारमिव चावेक्ष्य संसारं त्यजतः सुखम् ॥

सन्धि श्लोक नं० ९२ महाभारत शान्तिपर्व-राजधर्म २५ अध्याय श्लोक नं० २२ में इस प्रकारसे है; यथा-

दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात्तदुपलभ्यते ।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ॥

सन्धि श्लोक नं० ९९ के पूर्वार्द्धका पाठान्तर यथा-

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।

यही श्लोक कामन्दकनीतिं प्रथमसर्ग श्लोक नं० ५ में यथा-

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥

सन्धि श्लोक नं० १०० कामन्दकनीति चतुर्थ सर्ग श्लोक नं० ३१ में प्रायः अविकल है; यथा-

स्मृतिस्तत्परताऽर्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत्प्रकीर्तिता ॥

सन्धि श्लोक नं० १०१ भारविकविप्रणीत किरातार्जुनीय काव्यके दूसरे सर्गमें अविकल है। श्लोक नं० १०४ को प्राचीन प्रबन्धोंमें अविकल देखाजाता है। श्लोक नं० १०५ कामन्दकनीति-चतुर्थसर्ग श्लोक नं० १४० में अविकल है। श्लोक नं० १०८ चाणक्यमें है, इस श्लोकके विविध पाठान्तर देखेजाते हैं, महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक नं० ६३ में इस प्रकार है; यथा—

शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत्।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः॥

सन्धि श्लोक नं० १०९ कामन्दकनीति तीसरा श्लोक नं० ३३ कुछ एक अदल-बदल है; यथा—

स्वभावेन हरेन्मित्रं सद्भावेन च बान्धवान्।
स्त्रीभृत्यान्प्रेमदानाभ्यां दाक्षिण्येनेतरं जनम्॥

सन्धि श्लोक नं० ११०। १११। ११२। ११३। ११४। ११५। ११६। ११७। ११८। ११९। १२०। १२१। १२२। १२३। १२४। १२५। १२६। १२७। १२८। १२९। १३०। और १३१ यह बाईस श्लोक यथा-क्रमसे कामन्दकनीति ९ नवम सर्गके प्रथम श्लोकसे श्लोक नं० २२ तकमें अविकल दृष्टि आते हैं केवल दो एक स्थानोंमें कुछ २ पाठभेद है। श्लोक नं० १३० का पाठ कामन्दकनीतिमें जिस प्रकारसे है वही ठीक ज्ञात होता है, कामन्दकमें इस प्रकारसे है; यथा—

एक एवोपहारस्तु सन्धिरेतन्मतं हि नः।
उपहारस्य भेदास्तु सर्वेऽन्ये मैत्रवर्जिताः॥

सन्धि श्लोक नं० १३२, कामन्दकनीति ३ सर्ग, श्लोक नं० ९ में केवल—'आधिव्याधिपरीतापैः' के स्थानमें 'आधिव्याधिपरीताय' यह पाठ है श्लोक नं० १३३ कामन्दकनीति तीसरा सर्ग श्लोक नं० १२ में ठीक अविकल है। श्लोक नं० १३४ का अतिप्राचीनकालके राजालोगोंके ताम्रफलक निबद्ध दानपत्रमें दिखलाई देता है। कोलबुक साहबके मिसिलेनियस एसके प्रथमखण्ड ३०१ पृष्ठ दिखाताहुआ दानपत्र देखो। श्लोक नं० १३५ कामन्दकनीति सर्गके श्लोक नं० १३ में प्रायः अविकल है, केवल—पूर्वार्द्धमें 'मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षण

भंगुरम् ' के स्थानपर कामन्दकमें–' जगन्मृगतृष्णातुल्यं वीक्ष्येदं क्षणभंगुरम् ' यह पाठभेद है । श्लोक नं० १३६ का वाल्मीकिय-रामायण अयोध्याकाण्डके कौशल्या-विलापमें इस प्रकारसे है; यथा—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
तुलयित्वा तु पश्यामि सत्यमेवातिरिच्यते ॥

यही श्लोक, महाभारत आदिपर्व सभापर्व ७४ अध्याय श्लोक नं० १०३ में प्रायः अविकल है; यथा–

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

इति श्रीकात्यायनकुमार पं० **बलदेवप्रसाद–मिश्र-**
संकलितहितोपदेशपरिशिष्ट समाप्त ॥



पुस्तक मिलनेका ठिकाना–

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
" लक्ष्मीवेंकटेश्वर " स्टीम् प्रेस,
कल्याण–बंबई.

खेमराज श्रीकृष्णदास,
" श्रीवेंकटेश्वर " स्टीम् प्रेस,
खेतवाडी–बंबई.

گنگا وشنو سری کرشن داس
"لکھمی وینکٹیشور"
چھاپ خانہ کلیان

Ganga Vishnu S.K. Das
L. V. Press Kalyan
G.I.P. Ry. Junction